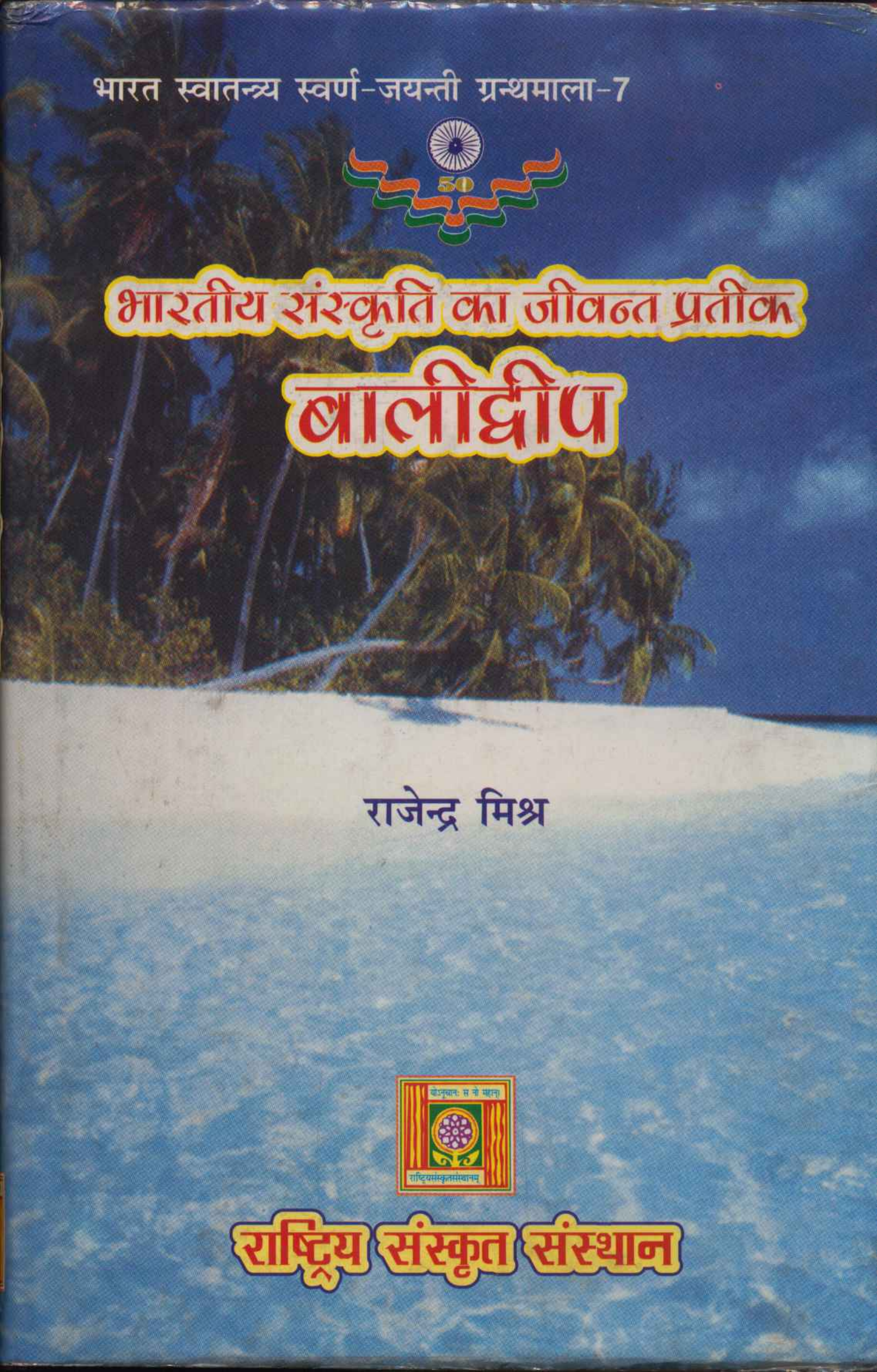


भारत स्वातन्त्र्य स्वर्ण-जयन्ती ग्रन्थमाला-7

भारतीय संस्कृति का जीवन्त प्रतीक
बालिद्वीप

राजेन्द्र मिश्र

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

भारतीय संस्कृति का जीवन्त प्रतीक—बालीद्वीप एक समीक्षापरक ग्रंथ होने के साथ ही साथ, लेखक की सहज एवं प्रत्यक्ष अनुभूतियों का एक दस्तावेज़ भी है। भारत सरकार की ओर से बालीद्वीपीय उदयन यूनिवर्सिटी में **विजिटिंग प्रोफेसर** नियुक्त **अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र** ने अपने प्रवास काल (अप्रैल १९८७-मार्च १९८९ में बालीद्वीप के समाज को यत्नपूर्वक देखा-परखा। वह निरन्तर द्वीप के गाँव-गिराँव में घूमते रहे, उनके सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कारिक महोत्सवों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे।

प्रो० मिश्र ने जावा, बाली तथा अन्य वृहत्तर भारतीय राष्ट्रों के औपनिवेशिक धर्म, साहित्य एवं संस्कृति के विषय में प्रभूत साहित्य लिखा जो पूर्व-उपलब्ध विवरणों की तुलना में अत्यधिक मौलिक, रोचक, जीवन्त तथा नवीन है।

बालीद्वीप का हिन्दू धर्म मारीशस, सूरीनाम, ट्रिनिडाड तथा फिजी आदि की तरह मात्र डेढ़-दो सौ वर्ष प्राचीन नहीं है। वस्तुतः वह ईसा की प्रथम शती का है जब वहाँ भारतीय यायावरों का प्रवेश हुआ था। चूँकि बालीद्वीप में इस्लाम का प्रवेश कभी नहीं हो पाया फलतः वहाँ का आर्य धर्म प्राचीन वैदिक आर्य धर्म का स्मरण कराता है। इस नन्हें से द्वीप में आज से दो हजार वर्ष प्राचीन भारतीय संस्कृति अपने मूल तथा अ-विकृत रूप में सुरक्षित है। बालीद्वीप का भारताश्रित धर्म, दर्शन, अध्यात्म, कला रंगमंच एवं सामाजिक परम्पराएँ प्रस्तुत ग्रंथ में जीवन्त रूप से सप्रमाण निरूपित की गई हैं।

भारत स्वातन्त्र्य स्वर्णजयन्ती ग्रन्थमाला-7

भारतीय संस्कृति का जीवन्त प्रतीक

बालीद्वीप

राजेन्द्र मिश्र

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

भारत स्वातन्त्र्य स्वर्णजयन्ती ग्रन्थमाला—7

भारतीय संस्कृति का जीवन्त प्रतीक
बालीद्वीप

राजेन्द्र मिश्र

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

1998

प्रकाशक :

डॉ० कमलाकान्त मिश्र

निदेशक

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

५६-५७, इंस्टीट्यूशनल एरिया

जनकपुरी, नई दिल्ली-११००५८

दूरभाष: ५५४०९९३, ५५४०९९५

प्रथम संस्करण १९९८

विक्रम संवत् २०५५

मूल्य : २००/- रुपये

मुद्रक

अमर प्रिंटिंग प्रैस

दिल्ली-९ दूरभाष : ७२५२३६२

पुरोवाक्

योऽनूचानस्स नो महान् के अनुरूप संस्कृत के संरक्षण, संवर्धन तथा प्रचार-प्रसार के लिए सन्नद्ध राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान ने भारत की स्वातन्त्र्य-स्वर्ण-जयन्ती के उपलक्ष्य में विविध शैक्षिक कार्यक्रमों का आयोजन किया है, यह संस्कृतानुरागियों के लिए अपार हर्ष का विषय है। संस्कृत की प्राचीन शास्त्रीय परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने एवं राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने में संस्थान का योगदान संस्कृत जगत् में सुविदित है।

भारत की स्वातन्त्र्य-स्वर्णजयन्ती के कार्यक्रमों के अन्तर्गत देश के विभिन्न प्रान्तों के मूर्धन्य मनीषियों द्वारा संस्कृत के विविध शास्त्रों एवं उनमें निहित वैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को **भारत स्वातन्त्र्य-स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थमाला** के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति का जीवन्त प्रतीक : बालीद्वीप नामक यह ग्रन्थ हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं रससिद्ध कवि प्रोफेसर अभिराज राजेन्द्र मिश्र के द्वारा प्रणीत है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रो० मिश्र ने **इण्डोनेशिया राष्ट्र** के एक प्रान्त—**बाली द्वीप** में भारतीय सांस्कृतिक विरासत के विविध आयामों का प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सजीव चित्रण किया है। यह आशा है कि इण्डोनेशिया के साथ भारत के प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों को उजागर करने तथा वर्तमान सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने में यह ग्रन्थ सहायक सिद्ध होगा। ऐसे उपादेय ग्रन्थरत्न को **संस्थान की भारत स्वातन्त्र्य स्वर्ण-जयन्ती ग्रन्थमाला** में प्रस्तुत करने के लिये संस्थान **प्रो० मिश्र** के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता है।

भारत की स्वातन्त्र्य स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव के उपलक्ष्य में संस्थान द्वारा आयोजित विविध शैक्षिक अनुष्ठानों, विशेषतः ग्रन्थमाला के आयोजन, प्रकाशन

आदि कार्यों में सक्रिय भूमिका निभाने वाले हमारे सहयोगी डा० सविता पाठक, डा० विरूपाक्ष वि० जड्डीपाल आदि साधुवाद के पात्र हैं।

अमर प्रिंटिंग प्रेस ने अथक परिश्रम कर ग्रन्थ का लोकार्पणार्थ प्रस्तुत कर हमारा सहयोग किया है। इसलिए हम उनके आभारी हैं।

११.९.१९९८ **कमलाकान्त मिश्र**

नई दिल्ली निदेशक

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

आत्मनिवेदन

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के कर्मठ निदेशक डॉ० कमलाकान्त मिश्र के आग्रह पर मैंने **सुवर्णद्वीपीय रामकथा** नामक एक ग्रन्थ दो वर्ष पूर्व लिखा था; जिसका प्रकाशन संस्थान की स्थापना के रजतजयन्ती-वर्ष १९९६ में तेईसवें पुष्प के रूप में हुआ । इस वर्ष पुन: जब प्रिय भाई डॉ० मिश्र जी ने **भारत स्वातन्त्र्य स्वर्णजयन्ती ग्रन्थमाला** (Golden Jubilee of India's Independence Series) के अन्तर्गत कोई ग्रन्थ लिखने के लिये स्नेहपूर्वक आमन्त्रित किया तो मेरा मन आह्लाद एवं उत्साह से भर उठा । क्योंकि मैं अपनी कृति **भारतीय संस्कृति का जीवन्त प्रतीक : बालीद्वीप** के प्रकाशनार्थ किसी यशस्वी तथा सम्मान्य प्रकाशक की राह देख रहा था । अपने लेखन की सार्थकता एवं महनीयता का बोध मैं इसलिये कर रहा हूं कि इसका प्रकाशन संस्कृत-वैदुषी के प्रतिष्ठापक राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान द्वारा किया जा रहा है ।

बालीद्वीप वर्तमान इण्डोनेशिया राष्ट्र के सत्ताईस प्रान्तों में एक स्वतन्त्र प्रान्त (राज्य) है । भौगोलिक दृष्टि से यह लघुकाय द्वीप पश्चिमस्थ जावा (यवद्वीप) तथा पूर्वस्थ लोम्बोक के बीच में स्थित है । इसका क्षेत्रफल पूर्व से पश्चिम प्राय:२१० कि.मी. तथा दक्षिण से उत्तर प्राय: १२० कि.मी. है । सम्प्रति इस द्वीप में तीस लाख निष्ठावान् शैव-मतानुयायी हिन्दू रहते हैं । शैवों के अतिरिक्त, वैष्णव तथा बौद्ध हिन्दू भी इस द्वीप के मूल निवासी हैं । तेंगनान, ट्रुन्यान तथा व्रातन गांवों में कुछ जनजातीय हिन्दू भी रहते हैं, जिन्हें बाली अगा कहा जाता है । ये लोग स्वयं को ही मूल बाली निवासी मानते हैं तथा शेष बालीवासी हिन्दुओं को मजपहित हिन्दू कहते हैं, जो बाली द्वीप पर मजपहित-साम्राज्य का प्रभुत्व स्थापित होने पर (१४वीं

शती ई०) आक्रान्ता के रूप में वहां आ बसे। बाली-अगा कबीले के हिन्दू प्रायः देवराज इन्द्र के उपासक हैं तथा समूचे द्वीप से अलग-थलग, अपने ही सामाजिक नियम-धर्म तथा संस्कार में सीमित हैं।

नयनाभिराम सागरतटों, क्रीडाविहार-भूमियों, सान्द्रसघन तरुवीथियों, नृत्य-गीत एवं वादित्र से मुखर रात्रिकालीन मञ्चीय आयोजनों तथा परम दुर्लभ विविध स्वादिष्ट पकवानों-व्यञ्जनों के कारण विदेशी पर्यटक पूरे वर्ष भर बाली द्वीप में छाये रहते हैं। पूरे वर्ष भर इनकी संख्या प्रायः पचास-साठ हजार तो बनी ही रहती है। इन विलासरसिक यायावरों की दृष्टि में बालीद्वीप साक्षात् **भूमिस्थ स्वर्ग** (Paradise on the Earth) ही है।

अपने दो वर्षों के प्रवास में मैंने बालीद्वीप के 'शरीर' को ही नहीं, उसकी **आत्मा** को भी देखा। महीनों (अलग-अलग दिनों में) मैं बालीद्वीप के ठेठ गांव-गिरांव में, मित्रों का आतिथ्य-सुख प्राप्त करता रहा। मेरे कृष्णभक्त मित्र यदुनन्दन ने सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता का श्लोकगायन मुझसे कराया तथा प्रत्येक श्लोक का अनुवाद भाषा इण्डोनेशिया में स्वयं किया। इस पद्धति से सम्पूर्ण उपक्रम ग्यारह कैसैट्स में निबद्ध किया गया जो आज भी उस बन्धुता भरे द्वीप में मेरी उपस्थिति का बोध कराता है। इसके अतिरिक्त भी, विविध पर्वों पर प्रस्तुत किये गये मेरे रोचक व्याख्यानों के पचासों टेपरिकार्डेड अंश बालीद्वीपीय मेरे मित्रों के पास सुरक्षित हैं।

वस्तुतः उन दो वर्षों में मैं सर्वथा बालीमय हो गया था। कितना कुछ बालीद्वीप को देखा, पढ़ा, समझा और समूचे भारत राष्ट्र को समझाया, इसका विस्तृत विवरण ग्रन्थान्त में प्रस्तुत द्वितीय परिशिष्ट (जावा तथा बाली से सम्बद्ध अभिराज-वाङ्मय) में अंकित है। आज उन सारे आलेखों, विवरणों तथा यात्रावृत्तों को —जो समय-समय पर धर्मयुग, कादम्बिनी तथा साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि शिखरस्थ साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे—ग्रन्थरूप में प्रस्तुत करते समय बालीद्वीप के कुछ अत्यन्त आत्मीय बन्धुजनों के अकृतक स्नेह-सौजन्य का बरबस स्मरण कर रहा हूं।

श्रद्धेय डॉ० ईदा बागुस मन्त्र, जो उन दिनों बालीद्वीप के गवर्नर थे तथा मेरे भारत लौटने पर, इण्डोनेशिया के राजदूत बन कर स्वयं भी भारत आये, ने भाषा इण्डोनेशिया में प्रणीत मेरे संस्कृत साहित्य का इतिहास (Sejarah Kesusastraan Sanskerta) की भूमिका लिखी थी। इण्डोनेशिया के स्वातन्त्र्य सेनानी तथा महासरस्वती यूनिवर्सिटी के कुलपति डॉ० ताम्बा के सांस्कारिक संस्कृत-प्रेम की मधुर स्मृति आज भी मेरे मन में अंकित है। उनके आग्रह पर मैंने विश्वविद्यालय में अनेक शैक्षिक व्याख्यान तो दिये ही, छात्रों के लाभार्थ देवनागरी वर्णमाला, सन्धि, समास तथा कृदन्त-तद्धित आदि के अनेक चार्ट भी बनाये, जो विश्वविद्यालय के एक कक्ष में स्थापित किये गये।

श्री मदे बान्दम (निदेशक, अस्ति = Akadami Sani—Tari Indonesia, नृत्य-गीत अकादमी, डेनपसार, बाली), पं० नृसिंहदेव शास्त्री (जो बिरला के आग्रह पर हिन्दुत्व के प्रचारार्थ चौथे दशक में मथुरा से बालीद्वीप गये थे और वहीं के होकर रह गये) तथा विश्वविद्यालयीय बन्धुजनों—डॉ० आद्यान (कुलपति उदयन विश्वविद्यालय), डॉ० समादि अस्त्र (डीन, शास्त्र-फैकल्टी), डॉ० नूरा बागुस (अध्यक्ष, नृवंशशास्त्र-विभाग), डॉ० श्रीमती बिरियानी (इतिहास-विभाग) तथा डॉ० कोटिशान्तिक (विधि-विभाग) के प्रति इस कृति के माध्यम से अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूं। और अन्ततः हार्दिक आशीर्मय स्नेहस्मृति प्रिय धर्मयशा की, जो बालीद्वीप में मेरा एक मात्र हिन्दीभाषी सहचर था और जावा, बाली तथा लोम्बोक द्वीप की व्यापक यात्राओं में जो अपने वाहन सहित निरन्तर मेरे साथ रहा। इतिहास-विभाग के युवा प्राध्यापक वायान रेदिग, जिन्हें मेरी संस्तुति पर भारतीय राजदूत श्री वी०सी० खन्ना जी ने, भारत में पी एच्०डी० सम्पन्न करने के लिये चुना, के साथ बाली में बीते दैनन्दिन क्षणों को भूल पाना कठिन है। श्री रेदिग पिछले वर्ष ही पंजाबविश्वविद्यालय चण्डीगढ़ से पीएच्० डी० होकर स्वदेश लौटे हैं।

आशा है इस सारस्वत-प्रयास से सहृदयों एवं ज्ञानामृतपिपासुओं को, हजारों मील दूर प्रशान्त महासागर के वक्षःस्थल पर विराजमान बालीद्वीपीय बन्धुजनों का

जीवनवृत्त जानकर, हार्दिक आनन्द-उल्लास होगा। इस कृति में अन्य स्रोतों से आहृत सामग्री नाममात्र की है। वस्तुतः सम्पूर्ण ग्रन्थ मेरे प्रत्यक्ष अनुभवों तथा मौलिक जानकारियों (First hand knowledge) पर आधारित है। इस व्यक्तिगत सारस्वतवृत्त को 'सार्वजनिक' बनाने का सुअवसर प्रदान करने के लिये संस्थान के निदेशक डॉ० कमलाकान्त मिश्र के प्रति, एक बार पुनः आत्मीय कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

विद्वद्वशंवद

अभिराज राजेन्द्र मिश्र

२५ अप्रैल, १९९८ ई०

शिमला (हि०प्र०)

विषयानुक्रम

बालीप्रशस्तिः

नित्यस्मेरा वसनकृपणाःप्रोन्नतोरोजवत्यो
नाऽतिप्रौढाश्चटुलनयनाः स्वर्णचाम्पेयवर्णाः।
संसेवन्ते समुदितदया रागिणां प्रोषितानां
यत्र स्वीयैर्विनतवचनैर्मानसं चन्द्रमुख्यः!!

शालिक्षेत्रैः पनसकदलीनारिकेलाऽम्रवृक्षैः
सत्खाद्यान्नैः सुमधुरफलैः कूजितैः कोकिलानाम्।
प्रातर्ध्वानैररुणशिखिनां दूरसंस्था धरेयं
सिन्धूद्भिन्नं भरतवसुधाखण्डमेकं विभाति!!

– मृगाङ्कदूतम् (पूर्वमृगाङ्कः)

श्लोक ८,२१.

प्रथम अध्याय

प्रास्ताविक

वाल्मीकीय-रामायण में यवद्वीप की समृद्धि और स्थिति का वर्णन प्राप्त होने से भारतीयों का यवद्वीप-विषयक ज्ञान अत्यंत प्राचीन सिद्ध होता है। सीतान्वेषण के संदर्भ में वानरराज सुग्रीव, विनत नामक यूथपति को सुदूर-पूर्व में जाने का आदेश देते हुए कहते हैं—

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्॥ ३०॥

यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः
दिवं स्पृशति शृङ्गेण देवदानवसेवितम्॥ ३१॥

— वाल्मीकि० किष्किंधा०

वाल्मीकि-युगीन यवद्वीप के सात राज्य कौन से थे? इस विषय में कुछ कह सकना कठिन है। परंतु ऐतिहासिक साक्ष्यों एवं साहित्यिक उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में ब्रह्मदेश (वर्मा) को **सुवर्णभूमि** तथा सुमात्रा, जावा, बाली आदि को **सुवर्णद्वीप** कहा जाता था। यूनानी ग्रंथ पेरिप्लस तथा बौद्ध ग्रंथ लंकावतारसूत्र तथा महावंश में इन प्रशांतमहासागरीय द्वीपों की विश्वसनीय पहचान की गयी है। टालेमी के भूगोल (द्वितीय शती ई.) में भी इन द्वीपों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध है।

यवद्वीप अथवा जावा सुमात्रा के ठीक पूर्व में है। पूर्व और पश्चिम में अपने नाम के ही अनुरूप यव (जौ) के आकार में फैला यह द्वीप ईसा की प्रारंभिक शती से पंद्रहवीं शती के अंतिम चरण तक भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, राजनीति

एवं जीवनपद्धति का अमोघ प्रहरी रहा है । इन डेढ हजार वर्षों में जावा के अनेक चक्रवर्ती सम्राटों ने मनु, इक्ष्वाकु, राम और युधिष्ठिर-सरीखा अक्षय-यश प्राप्त किया । उन्होंने अथाह सागर की विस्तृत छाती पर अपने दिग्विजयी जहाजी बेड़ों से सैन्य-अभियान संपन्न किये और चम्पा (वियतनाम), कम्बोज, अयुथ्या (थाईलैंड), तुञ्जुङ्गपुर (बोर्नियो), मलायु तथा श्रीविजय (सुमात्रा)— जैसे दूरवर्ती देशों को भी अपने आधीन किया । महाकवि प्रपञ्च-प्रणीत नागरकृतागम में प्रस्तुत सम्राट् हयम वुरुक राजसनगर (सन् १३५०-८९) का दिग्विजय-वर्णन इसका साक्षी है ।

एरलंग–विष्णु का अवतार

जावा का प्रारंभिक कुछ शतियों का इतिहास अभी भी अंधकार में है । परंतु सातवीं शती के अंत से उसका राजनीतिक स्वरूप स्पष्ट होने लगता है । मध्य जावा के मतराम साम्राज्य (सन् ७३२-१०४९) में सञ्जय, बलितुंग, दक्षोत्तम, शिण्डोक तथा एरलंग- जैसे प्रतापी सम्राट् हुए । एरलंग के संबंध (सन् १०१०-४९) विलग (कलिंग), आर्य, गोल (गौड), कर्णाटक, चोलिक, मलयल, पाण्डिकिर (पाण्ड्य तथा चेर) तथा द्रविड़ सरीखे भारतीय राजवंशों से भी थे । जावा तथा बाली की परंपरा में एरलंग को विष्णु का अवतार माना गया है । उभयत: लक्ष्मी से युक्त गरुड़वाही विष्णु को सम्राट् की राजमुद्रा में अंकित किया गया था ।

पूर्वी जावा का कडिरी-साम्राज्य (सन् १०५०-१२२२) तथा सिंहसारि-साम्राज्य (सन् १२२२ से १२९२) अवांतर युग में जावा का श्री-वैभव बढ़ाता रहा । कडिरी के कामेश्वर, जयभय तथा कृतजय और सिंहसारि के जयविष्णुवर्धन तथा कृतनगर (सन् १२५४-९२) संस्कृत साहित्य, धर्म, दर्शन तथा बौद्धतंत्र के महान् उन्नायक रहे । प्रंबनान तथा पनतरन के अद्भुत हिंदू-मंदिर इन नरपतियों की अक्षय-कीर्ति के साक्षी हैं । कृतनगर, बौद्ध सुभूतितंत्र का प्रकांड पंडित था । मृत्यु के बाद उसे **शिवबुद्ध** के रूप में जनता पूजने लगी । वह शैव तथा बौद्ध आगम का समन्वय बिंदु था ।

जावा का मजपहित साम्राज्य

जावा के हिन्दू-साम्राज्यों में अंतिम था मजपहित-साम्राज्य (सन् १२९४-१४७८) जिसकी राजधानी कडिरी और सिंहसारि से और पूर्व में ब्रांतस नदी के तट पर मजपहित अर्थात् तिक्तबिल्व (मजा = बिल्व, पहित = तिक्त) नगर में केंद्रित थी। इस वंश का अंतिम महान् सम्राट् हयम बुरुक अथवा राजसनगर (सन् १३५०-८९) था; जो महान् दिग्विजयी, विद्याव्यसनी तथा प्रजावत्सल था। उसके साम्राज्य में पूर्वी-जावा का राज्य उत्तर में फिलिपींस, पूर्व में न्यूगिनी, दक्षिण में आस्ट्रेलिया तथा पश्चिम में अंदमान निकोबार तक व्याप्त हो गया।

महामात्य गजहमद अथवा गजमद इसी महान् सम्राट् का स्वामिभक्त सेवक था, जो न केवल राजसनगर बल्कि उससे भी पूर्व की दो पीढ़ियों तक मजपहित-साम्राज्य की सेवा करता रहा। वस्तुत: मजपहित-साम्राज्य को विश्वविश्रुत बनाने तथा उसकी संपूर्ण समृद्धि का सारा श्रेय महामात्य गजमद को है, जिसने जीवन के पचास वर्ष अर्पित कर दिये, मजपहित के योग-क्षेम के लिये। गजमद में अपार शौर्य-पराक्रम, दुर्लभ राजनिष्ठा तथा स्पृहणीय विद्वत्ता की त्रिवेणी विद्यमान थी। उसे महाप्राज्ञ चाणक्य, हरिषेण, वत्सराज तथा यौगंधरायण-सरीखे महान् भारतीय महामात्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है, जो अपने चारित्रिक गुणों के कारण, अपने आश्रयदाताओं की तुलना में कहीं अधिक लोकप्रिय एवं विख्यात रहे।

महामात्य गजमद

महामात्य गजमद के राजनीतिक जीवन के ५० वर्षों का संबंध मजपहित-वंश के तीन शासकों से जुड़ा हुआ है— जयनगर (सन् १३०९-२८), सम्राज्ञी गायत्री (सन् १३२८-५०) तथा सम्राट् राजसनगर हयम वुरुक (सन् १३५०-८९) राजसनगर के ही शासनकाल में वृद्ध गजमद का निधन हुआ, सन् १३६४ में। इस महान् स्वामिभक्त महामात्य के निधन से सम्राट् इतना व्यथित हुआ कि उसने उसके स्थान पर कोई दूसरा महामात्य नियुक्त ही नहीं किया।

मजपहित-साम्राज्य के संस्थापक कृतराजस जयवर्धन (सन् १२९४-१३०९) की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जयनगर **सुंदरपाण्ड्यदेवाधीश्वर विक्रमोतुङ्गदेव** की उपाधि के साथ राज्यासन पर आसीन हुआ। परंतु शासनसूत्र संभालते ही इस अनुभवहीन सम्राट् को अपने पिता के ही सामंतों का घोर विरोध एवं विद्रोह सहना पड़ा। विपत्ति की इस घड़ी में एक बहादुर तथा स्वामिभक्त सैनिक के रूप में सर्वप्रथम गजमद सम्राट् के संपर्क में आया।

विद्रोह और दमन

सन् १३०९ में प्रधान-अमात्य न बनाये जाने के कारण रंग लवे नामक सामंत ने तुबान में विद्रोह कर दिया। जयनगर ने रंग लवे को समूल उन्मूलित कर दिया। तब तक सन् १३११ में सेरा ने और सन् १३१४ में उसके एक अन्य मित्र गजह वीरू ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। सम्राट् ने स्वामिभक्त सैनिकों की सहायता से इन्हें भी नष्ट किया। सन् १३११ में ही, एक और प्राचीन-सामंत वीरराज जो चुपचाप विद्रोह की तैयारी कर रहा था, रोगग्रस्त होकर मर गया। सम्राट् जयनगर ने चैन की सांस ली और प्रसन्न-मन से अपने नाना सम्राट् कृतनगर की मृतक-समाधि (मंदिर अथवा चंडी) का निर्माण **पतपन** में कराया।

इन समस्त विद्रोहों के शमन में युवा गजमद ने सम्राट् जयनगर की अद्भुत रक्षा की। इसी बीच उसके वास्तविक भाग्योदय का एक और अवसर आया। कुटि नामक सामंत, जो वीरराज, सेरा तथा रंग लवे की ही तरह मजपहित-साम्राज्य का पुराना शुभचिंतक था, साथ ही साथ शासनसूत्र में अत्यंत सम्मानित सात **धर्मपुत्रों** में से एक था, अचानक सन् १३१९ में बगावत पर उतर आया। यह विद्रोह इतना गोपनीय तथा घातक था कि सम्राट् को प्राणरक्षा के लिये राजधानी मजपहित छोड़कर भागना पड़ा। सम्राट् जयनगर अपने स्वामिभक्त सैनिक गजमद के नेतृत्व में संगठित मात्र १५ अंगरक्षकों के साथ घनी अंधियारी रात में राजभवन से भागकर बडंडेर नामक स्थान मे पहुंचा। राजधानी तथा राजमहल पर विद्रोही सामंत कुटि का अधिकार हो गया।

इस संकट में गजमद ने अद्‌भुत सूझ-बूझ से काम लिया । सम्राट् को बडंडेर में व्यवस्थित कर वह सवेरा होते ही रोता-बिलखता मजपहित लौटा, यह कहते हुए कि कुटि के सैनिकों ने सम्राट् जयनगर का वध कर डाला । इस समाचार से विद्रोही कुटि और उसके अनुयायी तो आनंद-उल्लास में डूब गये, परंतु जनता सम्राट् के लिये शोकसंतप्त हो उठी ।

जब गजमद को मंत्रियों तथा प्रजाजनों का यह मनोभाव ज्ञात हो गया तब उसने धीरे से मंत्रियों के कान में सम्राट् जयनगर के **सुरक्षित बचे रहने** का समाचार कह दिया । इतना सुनना था कि एक स्वामिभक्त मंत्री ने नंगी तलवार से कुटि का तत्काल वध कर डाला । सम्राट् जयनगर पुनः पूरी प्रतिष्ठा के साथ राजभवन में उपस्थित हुआ ।

अपनी इस सूझ-बूझ से सैनिक गजमद कुछ ही घंटों में सारी राजधानी में बहुचर्चित हो उठा । मजपहित की जनता की आंखों में अब वह **सम्राट् अथवा राजवंश का प्राणदाता** मान लिया गया । अनेक कवियों की लेखनियां गजमद को अपना कथानायक चुनने लगीं ।

राज्यपाल पद पर नियुक्ति

इस महान् सेवा तथा स्वामिभक्ति के लिये कृतज्ञ सम्राट् जयनगर ने गजमद को समुचित पुरस्कार दिया । जावी ऐतिह्यग्रंथ **पररतों** के अनुसार सम्राट् ने सन् १३२१ में उसे *कहुरिपन*(कृतनगरयुगीन जंगल-राज्य, जिसकी राजधानी सिंहसारि थी) का गवर्नर (पतीह) नियुक्त किया । दो वर्ष बाद ही उसे **दह** (कृतनगरयुगीन पंजलु-राज्य जिसकी राजधानी दह, दहन अथवा कडिरी थी) का **पतीह** (राज्यपाल) बना दिया गया । सन् १३३१ तक गजमद अपार मान, यश और प्रतिष्ठा के साथ दह-राज्य को संरक्षण देता रहा । इस अवधि में भी वह सम्राट् जयनगर का सर्वाधिक प्रीतिभाजन, विश्वासपात्र सखा बना रहा । उसके प्रयत्नों से ही मजपहित साम्राज्य का भविष्य एकदम निष्कंटक हो गया था । उसकी लोकप्रियता, सैनिकों पर उसका असीम प्रभाव तथा उसके व्यक्तिगत साहस, पराक्रम एवं गुणों के कारण अब कोई

सम्राट् के विरुद्ध सोच भी नहीं सकता था। १३२२, २५, २६ एवं २७ में गजमद के ही प्रयत्नों से जावी राजदूत चीन-सम्राट् के पास गये। अंतिम दूत सन् १३२८ में चीन सम्राट् से भेंट- सामग्री लेकर मजपहित लौटा।

परंतु इसी बीच राजवैद्य तंच ने सम्राट् के फोड़े की शल्यक्रिया के बहाने उसका वध कर डाला। यह घटना सन् १३२८ की है। इस हत्याकांड के संदर्भ में अनेक जनश्रुतियां जावा तथा बाली में प्रचलित हैं। एक परंपरा के अनुसार सम्राट् **जयनगर** अपनी सौतेली बहन से ही विवाह करना चाहता था ताकि उससे विवाह करनेवाला कोई अन्य व्यक्ति शासन-सूत्र का अधिकृत प्रत्याशी न बन सके। परंतु उसके इस **पापकर्म** का दरबार और जनता में घोर विरोध हुआ, जिसकी परिणति उसके वध में हुई। दूसरी परंपरा के अनुसार सम्राट् ने राजवैद्य तथा धर्मपुत्र पदों पर आसीन तंच की पत्नी के साथ अभद्र आचरण किया था, जिससे क्रुद्ध हुए तंच ने अवसर पाते ही सम्राट् का वध कर डाला। बाली-द्वीप की परंपरा में सम्राट् का अभद्र आचरण स्वयं गजमद की पत्नी के साथ माना जाता है। सम्राट् की हत्या का समाचार सुनते ही गजमद राजधानी आ पहुंचा और उसने राजवैद्य तंच का तत्काल वध करके चारों ओर शांति स्थापित की।

सर्वसम्मति से दिवंगत सम्राट् कृतनगर की पुत्री (जो मजपहित-संस्थापक कृतराजस जयवर्द्धन की पटरानी तथा जयनगर की विमाता थी) महारानी गायत्री को सम्राज्ञी-पद पर नियुक्त किया गया। परंतु चूंकि तब तक राजपत्नी गायत्री संसार से विरक्त होकर बौद्धभिक्षुणी बन चुकी थी अत: उसके नाम पर उसकी पुत्री गीतार्जा (गीतार्या) **त्रिभुवनोत्तुंगदेवी विष्णुवर्धिनी** (सन् १३३०) की उपाधि के साथ शासन का संचालन करने लगी।

परंतु इस समय मजपहित-साम्राज्य का भाग्यसूत्र पूर्णरूप से गजमद के हाथ में था। वह किसी भी सम्राट् अथवा सम्राज्ञी से कहीं अधिक विश्वसनीय तथा आदरपात्र था। वह चाहता तो बड़ी सरलता से स्वयं सम्राट् बन जाता इस अवसर पर। शायद जावा की जनता को भी उसका सम्राट् बनना अच्छा लगता। परंतु चरित्रवान् गजमद ने ऐसा नहीं किया। हां, यह अवश्य हुआ कि अब वह विधिवत्

महामात्यपद (महापतीह) पर नियुक्त कर दिया गया । सन् १३२८ से १३५० तक त्रिभुवनोत्तुंग देवी विष्णुवर्धिनी ने राज्य किया । सन् १३३० में उसने चक्रधर अथवा चक्रेश्वर नामक श्रेष्ठ क्षत्रिय-सामंत से विवाह किया, जिसे विवाहानंतर **कृतवर्धन** नाम तथा **सिंहसारि का कुमार** उपाधि साम्राज्य की ओर से दी गयी । सन् १३३४ में कुमार हयम वुरुक का जन्म हुआ, जो जावा के संपूर्ण इतिहास में एक युगनिर्माता सम्राट् बना ।

दिग्विजय का श्रीगणेश

महापतीह गजमद इस समय ख्याति एवं प्रतिष्ठा की पराकाष्ठा पर था । महामात्य बनते ही उसने मजपहित की दिग्विजय प्रारंभ कर दी । पररतों में गजमद द्वारा जीते गये द्वीपों में गुरुजन, सेरन, तुंजुङ्पुर (बोर्नियो) , हरु, पहङ, डोंपो, बाली, सुंड, पालेम्बङ तथा तुमसिक के नाम गिनाये गये हैं । चीन के साथ गजमद ने संबंध और दृढ़ किये तथा सन् १३३२ में एक **सुवर्णपत्र** के साथ उसने तिरासी व्यक्तियों का एक **शिष्ट मंडल** चीन-सम्राट् के पास भेजा ।

बालीद्वीप जावा का निकटतम पूर्वी द्वीप है । चिरकाल से ही बाली अपनी संप्रभुता, साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा एवं कला के लिये प्रख्यात रहा । सन् १२८४ में सिंहसारि-सम्राट् कृतनगर ने पहली बार बाली-द्वीप पर अपना आधिपत्य स्थापित किया । परंतु सन् १२९२ में कृतनगर की मृत्यु होते ही बाली पुन: स्वतंत्र हो गया था ।

महामात्य गजमद ने सन् १३४३ में पुन: बाली पर आक्रमण किया और भयानक संग्राम में तेंगनान-सम्राट् बेदौलु को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला । बाली मजपहित-साम्राज्य में विलीन कर लिया गया ।

सन् १३५० में सम्राज्ञी गायत्री की मृत्यु हो गयी । उसे कडिरी प्रांत में **भयालंगो** के समीप **विशेषपुर** में समाधि दी गयी । **प्रज्ञापारमिता** के रूप में उसे शिल्पकारों ने मूर्ति में अंकित किया । अपनी मातामही (नानी) की मृत्यु के बाद सन् १३५० में राजकुमार हयमवुरुक मात्र सोलह वर्ष की अवस्था में मजपहित के

विशाल-साम्राज्य का प्रशासक नियुक्त हुआ। उसका शासकीय नाम **तिक्तबिल्वनगरेश्वर श्री राजसनगर** था। अर्जुनविजय के लेखक महाकवि तन्तुलर ने उसे **राजस-राज्य** तथा **संघयंग वेकास इंग-सुख** कहा। इसी प्रकार उसे हयम वुरुक, भटारप्रभु, रदेनतेतेप तथा म्पू जनेश्वर (शैव) आदि संज्ञाएं भी प्राप्त हुईं।

'पृथ्वी पर स्वर्ग'

राजसनगर तथा गजमद के मणिकांचन संयोग ने मजपहित-साम्राज्य को **पृथ्वी पर स्वर्ग** बना दिया, जिसका आंखों-देखा वर्णन राजकवि प्रपंच ने नागरकृतागम में प्रस्तुत किया है। सम्राट् राजसनगर उदय से मध्याह्न की ओर बढ़ रहा था और महामात्य गजमद मध्याह्न से अस्ताचल की ओर। फिर भी गजमद की परिपक्व राजनीति तथा राजनिष्ठा ने राजसनगर के मजपहित-साम्राज्य को १४ वर्षों तक अपार संबल एवं निर्बाध स्थायित्व प्रदान किया, जब तक कि सम्राट् तीस वर्ष का युवा अनुभवी प्रशासक नहीं हो गया।

गजमद को मजपहित-साम्राज्य की प्रतिष्ठा का कितना ध्यान था? इसका एक ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है। सन् १३५७ में, जब सम्राट् राजसनगर तेईस वर्ष का था, सुंड (वर्तमान जकार्ता-प्रांत) का पजजरन-नरेश अपनी कन्या का विवाह कुमार के साथ करने स्वयं मजपहित आया। महामात्य गजमद से उसका विवाद भी विचित्र था। सुंडनरेश चाहता था उसे मजपहित के समकक्ष माना जाय। परंतु महामात्य गजमद एक अधीनस्थ नरेश के ही रूप में उसकी कन्या अपने सम्राट् के लिये ग्रहण करने के पक्ष में था। इस विवाद के फलस्वरूप युद्ध में पजजरन-नरेश को प्राणों से हाथ धोना पड़ा। राजकन्या का विवाह राजसनगर केसाथ, पिता की मृत्यु के बाद संपन्न हुआ।

सन् १३६५ में सम्राट् के राजकवि प्रपंच द्वारा लिखित ऐतिहासिक ग्रंथ नागरकृतागम में उसके अधीनस्थ जनपदों में मलायु (सुमात्रा) के चौबीस, तुंजुंगपुर (बोर्नियो) के तेईस, पहंग (मलयेशिया) के सोलह तथा पूर्व-दिशा के इकतीस द्वीपों

का नाम गिनाया गया है। इस विशाल दिग्विजय का सारा श्रेय क्रोम, फेरंड एवं मजूमदार आदि आधुनिक इतिहासकारों ने महामात्य गजमद को ही दिया है।

सन् १३६४ ई. में जब मजपहित-साम्राज्य का यह **भीष्मपितामह** पचास वर्षों की अनवरत पराक्रम-यात्रा के बाद सर्वदा के लिये अस्त हो गया तो **अकेले** गजमद का कार्य सम्राट् को सात व्यक्तियों को सौंपना पड़ा। इससे गजमद के प्रति सम्राट् की श्रद्धा तो प्रकट होती ही है, गजमद की कार्यक्षमता का भी बोध होता है। गजमद के स्थान पर स्थापित 'भटार-सप्तप्रभु' मे सम्राट् स्वयं, माता-पिता, चाचा-चाची और उसकी दो बहनें सम्मिलित थीं। यही **सप्तप्रभु** महामात्य का दायित्व निबाहते थे।

प्राचीन जावी भाषा का प्रख्यात नीतिग्रंथ **कूटारमानव** गजमद की ही कालजयी कृति है, जिससे महामात्य का अगाध शास्त्रज्ञान प्रकट होता है। वर्तमान इंडोनेशिया राष्ट्र के अनेक द्वीपों तथा नगरों में गजमद के पवित्र नाम को किसी-न-किसी रूप में जीवित रखा गया है। जावा की गजमद यूनिवर्सिटी (योग्यकर्ता) जालान (मार्ग) गजमद, बाली की राजधानी डेनपसार का केंद्रबिन्दु 'गजहमद' इसका जीता-जागता प्रमाण है।

जावा तथा बाली

उपर्युक्त विवरण से जावा के साथ बालीद्वीप के सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः सच्चाई यही है कि बालीद्वीप का भौगोलिक स्वरूप तो सदैव एक-सा रहा। प्रशान्तमहासागरीय द्वीप होने के कारण तथा चतुर्दिक् सागर की जलराशि से घिरा होने के कारण बालीद्वीप के क्षेत्रफल में न कुछ बढ़ा, न ही घटा। परन्तु जावा का पड़ोसी होने के कारण उसकी सम्प्रभुता, स्वतंत्रता, सम्मान तथा वर्चस्व, समय-समय पर बाधित अवश्य होते रहे। इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

बालीद्वीप के स्थानीय शासकों में केसरीवर्मदेव (९१४ A.D.), उग्रसेन (९१५-९४२ A.D.), तबनेन्द्रवर्मदेव (९५५ A.D.), चन्द्रभयसिंहवर्मदेव

(९६०A.D.), जनसाधुवर्मदेव (९७५ A.D.), महारानी श्रीविजयमहादेवी (९८४ A.D.), श्रीधर्मोदयनदेववर्मन् (९८५-१०२२ A.D.), धर्मवंशवर्धन मरकतपञ्ज स्थानोत्तुंगदेव (१०२२-१०२६ A.D.), आनक वुंग्सु (१०५०-७८ A.D.), सकलेन्द्रकिरन (१०९८A.D.), जयशक्ति (११४६-११५० A.D.), जयपंगुस (११७८-११८१ A.D.), सकलेन्द्र (१२०१ A.D.), आदिकुन्तिकेतन (१२०४ A.D.), परमेश्वर वीरवीराम (१२०४ A.D.), तथा परमेश्वर श्रीह्यंग निगं ह्यंग अदिलंचन (१२५० A.D.) के विवरण प्राप्त होते हैं। तेरहवीं शती ई. में बाली पर यवद्वीपीय आक्रमण के समय बालीनरेश अष्टासुरा रत्नभूमि बण्टेन 'पयांगान' नामक स्थान पर राज्य कर रहा था।

बालीद्वीप की इस समूची नृपति-परम्परा मे धर्मोदयनदेववर्मा तथा उनकी राजमहिषी महेन्द्रदत्ता (जो जावा-नरेश मकुटवंशवर्धन की कनिष्ठ पुत्री थी) का नाम तथा यश सर्वोपरि है। बालीद्वीप के निवासी आज भी आदरपूर्वक उदयनदेव को **भटारप्रभु** के रूप में स्मरण करते हैं। शासन ने भी उस यशस्वी शासक की पुण्यस्मृति में उदयन विश्वविद्यालय (Universitas Udayana) की स्थापना राजधानी डेनपसार में की है।

बालीद्वीप की सम्प्रभुता अनेक बार खण्डित हुई। सर्वप्रथम तो मतरामशासक सञ्जय (७३२ A.D. चंगल शिलालेख[१]) ने बाली को अपने साम्राज्य में मिलाया। दूसरी बार, यवसम्राट् एरलंग के शासनकाल (१०१०-१०४९ A.D.) में बाली जावी-साम्राज्य का अंग बना। परन्तु यह एक विलक्षण राजनयिक स्थिति थी। वस्तुतः जावी-सम्राट् मकुटवंशवर्धन की मात्र दो पुत्रियां थीं, जिनमें से बड़ी का विवाह उसने धर्मवंश (९८५-१००६ A.D.) से किया। यही धर्मवंश मकुटवंशवर्धन के अनन्तर जावीसाम्राज्य का शासक बना। दूसरी पुत्री महेन्द्रदत्ता

---

१. श्रीमान्यो माननीयो बुधजननिकरैः शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी-
राज्ञा शौर्यादिगुण्यो रघुरिव विजिताऽनेकसामन्तचक्रः।
राजा श्रीसञ्जयाख्यो रविरिव यशसा दिग्विदिक्ख्यातलक्ष्मी-
स्सूनुस्सन्नाहनाम्नः स्वसुरपतिसमन्यायतश्शास्ति राज्यम्॥ पद्य ११॥

का विवाह बालीद्वीप के राजकुमार उदयनदेव से सम्पन्न हुआ था। एरलंगप्रशस्ति (सम्प्रति कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित) में उसे अत्यन्त विदुषी, तंत्रविद्यापारग तथा **गुणप्रियधर्मपत्नी** विरुद से विभूषित बताया गया है।

कुमार एरलंग उदयन तथा महेन्द्रदत्ता का ज्येष्ठ पुत्र था। चूंकि जावानरेश धर्मवंश भी पुत्रहीन था अत: उसने अपनी पुत्री का विवाह कुमार एरलंग से करके उसी को अपना उत्तराधिकारी भी घोषित कर दिया। इस प्रकार कुमार एरलंग को दुहरा राज्याधिकार प्राप्त हुआ। बालीनरेश उदयन का औरस पुत्र होने के कारण, उसे बालीद्वीप का पैत्रिक राज्याधिकार तो मिला ही, जावानरेश धर्मवंश का जामाता होने के कारण वह यव-साम्राज्य का भी अधिपति बना।[1] चूंकि उन दिनों बालीद्वीप यव-साम्राज्य का ही एक अंग था, अतएव हम बालीद्वीप को जावा का अधीनस्थ राज्य मान सकते हैं। परन्तु पारिवारिक रक्तसम्बन्ध की दृष्टि से, पिता एवं पुत्र की प्रभुसत्ता में सुरक्षित दोनों राष्ट्र परस्पर स्वंतंत्र भी थे।

बाली की सम्प्रभुता तीसरी बार खण्डित हुई सन् १२८४ ई. में, जबकि विस्तारवादी एवं महत्त्वाकांक्षी सिंगसारी-वंश के जावानरेश कृतनगर ने उस पर आक्रमण किया। परन्तु यह पराधीनता कृतनगर की मृत्यु (१२९२ A.D.) के साथ स्वत: समाप्त हो गयी।

१३४३ A.D. में महाबली मजपहित-साम्राज्य के सेनापति गजमद ने, चौथी बार भयावह आक्रमण करके बाली की सम्प्रभुता खण्डित की। महापतीह गजमद के प्रभविष्णु व्यक्तित्व, राजनिष्ठा की चर्चा तथा उसकी राजनीतिक उपलब्धियों की आख्या प्रस्तुत अध्याय के प्रारंभ में ही विस्तारपूर्वक की जा चुकी है। वह एक अविस्मरणीय इतिहास पुरुष था। उसने बालीनरेश के विलक्षण

---

१. शाकेऽब्देऽथ विलोचनाग्निवदने याते महावत्सरे
माधे मासि सितत्रयोदशतिथौ वारे शशिन्युत्सुकै:।
आगत्य प्रणतैर्जनैर्द्विजवरैस्साश्वासमभ्यर्थित:
श्रीलोकेश्वर नीरलङ्घनृपते ! पाहीत्युदन्तात् क्षितिम् ॥
— एरलंगप्रशस्ति: पद्य-५ (शकाब्द ९३२ = १०१० ई.)

दैवीशक्ति-सम्पन्न सेनापति **केवोइवो** को छलपूर्वक (विवाह के बहाने) यवद्वीप में बुलाया तथा एक कुएं में गिरा कर उसके जीवन का अन्त कर दिया। पूर्वी जावा में विद्यमान वह ऐतिहासिक **मृत्युकूप** आज भी पर्यटकों को आकृष्ट करता है।

केवोइवो के विनाश के बाद बालीविजय का कार्य सेनापति गजमद के लिये सुकर हो गया। पीजिंग कस्बे के मन्दिर **ब्लह बाटुह** में आज भी गजमद का एक काष्ठनिर्मित मुखौटा सुरक्षित रखा है, जिसका सार्वजनिक प्रदर्शन प्रतिवर्ष एक निश्चित तिथि पर किया जाता है। इस मुखौटे की दैवी शक्ति पर बालीवासी आज भी दृढ़ विश्वास करते हैं। बालीप्रवास में मित्रों ने बताया कि प्रथम बार राष्ट्रपति बनने पर जनरल सुहार्तो भी इस महाराजनीतिज्ञ के दिव्यशक्ति सम्पन्न मुखौटे का दर्शन करने के लिये बालीद्वीपस्थ उस मन्दिर में पधारे थे। लोगों का विश्वास है कि मुखौटे के दर्शनमात्र से महामात्य गजमद की राजनयिक शक्तियां दर्शक में संक्रान्त हो उठती हैं।

महामात्य गजमद की बालीविजय के अनन्तर यह द्वीप सब दिन के लिये महान् यवसाम्राज्य का अभिन्न अंग बन गया। बाली का धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवेश भी जावा से पूर्णत: अभिन्न बन गया। सन् १४७८ ई. में महान् जावी-साम्राज्य का, इस्लामी आक्रमण से विनाश हो जाने के बाद तो, भयभीत मजपहितवंशीय शासक ने भाग कर बाली में ही शरण ली तथा द्वीप के पूर्वी भाग में स्थित गेल्गेल नगर में **देव अगुंग केतूत** नाम से स्वयं को बालीनरेश घोषित कर दिया।

बाली का यह नवस्थापित हिन्दूसाम्राज्य, पूर्ण वैभव के साथ बीसवीं शती ई. के प्रथम दशक तक स्थिर रहा। १९०६ ई. के निर्णायक युद्ध में यह द्वीप डचों के अधीन हो गया। द्वितीय विश्वमहायुद्ध के दिनों में थोड़े दिनों के लिये इस द्वीप की सत्ता अंग्रेजों तथा जापानियों के हाथ में भी आई। परन्तु १७ अगस्त १९४५ ई० में जब सुकार्नो तथा हाटा ने इण्डोनेशिया की स्वतंत्रता घोषित कर दी, तो राष्ट्र के अंग-रूप में बालीद्वीप भी वैदेशिक उपनिवेशवाद के चंगुल से मुक्त हो गया। आज बाली द्वीप प्रभुसत्तासम्पन्न इण्डोनेशिया के सत्ताईस राज्यों में एक है तथा

अपनी **हिन्दू संस्कृति** की पहचान के कारण सम्पूर्ण विश्व का महान् आकर्षण-केन्द्र भी है । सच तो यह है कि दो हजार वर्ष प्राचीन जो भारतीय संस्कृति अब भारत में भी अवशेष नहीं है, उसे उसके मूलरूप में बालीद्वीप में देखा जा सकता है । किसी इस्लामी-आक्रमण से कभी भी अनाक्रान्त इस द्वीप में भारतीय वैदिक धर्म, संस्कृति एवं आचार-संहिता, बहुत कुछ मूल रूप में अक्षुण्ण बची है । इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा अगले अध्यायों में की जायेगी ।

द्वितीय अध्याय

भारतीय संस्कृति का जीवन्त प्रतीक

प्रशान्त महासागर की अथाह विस्तीर्ण जलराशि में शंख की आकृति में उभरा बालीद्वीप भारत एवं नेपाल के अनन्तर एकमात्र ऐसा भूखण्ड है, जहां आर्यसंस्कृति संस्कारानुप्राणित बन कर प्रतिष्ठित हुई है । मारिशस, फिजी, सूरीनाम, ट्रिनीडाड एवं गयाना की तरह बाली ऐसा कोई भूखण्ड नहीं है जहां कि हिन्दू भारतदेश से ले जाये गये हों और जिन्हें आज भी अपना भारतीय मूलस्थान (ग्राम, जनपद आदि) स्मरण हो ! सच तो यह है कि बालीद्वीप के लगभग ३० लाख हिन्दू चिरकाल से ही वहीं के मूल निवासी हैं ।

ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात है कि चम्पा (वियतनाम) , कम्बुज (कम्बोडिया) सुखोदय-द्वारावती-अयोध्या (थाईलैण्ड) , लवकुश (लाओस) , सुवर्णभूमि (वर्मा) कटाहद्वीप (वर्तमान केड्डाह, मलेशिया) तथा सुवर्णद्वीप (मुख्यत: सुमात्रा, जावा तथा बालीद्वीप) में हिन्दू साम्राज्यों की स्थापना प्रथम शती ई. से पांचवीं शती ई. के मध्य हुई । कौण्डिन्य, श्रीमार, सञ्जय, मूलवर्मा तथा पूर्णवर्मा आदि भूपतियों के प्राप्त एवं सुरक्षित शिलालेख इस तथ्य के साक्षी हैं ।

स्टुटरहाइम, पूर्वजरक, डा. गोरिस एवं अन्यान्य इतिहासकार भी इस सन्दर्भ में एकमत हैं कि बालीद्वीप में हिन्दूधर्म यवद्वीप (जावा) से संक्रमित होकर नहीं आया । वस्तुत: ईसा की प्रारंभिक शती से ही बालीद्वीप का भारत के साथ सीधा सम्पर्क जुड़ गया था । बाली में जावा के ही समानान्तर, एक सम्प्रभुता सम्पन्न-स्वतंत्र राजवंश स्थापित था । इस वंश के नरेश ११वीं शती ई. तक सर्वथा स्वतंत्र रहे । इस वंश में उत्पन्न केसरीवर्म देव का एक शिलालेख (कविभाषा एवं संस्कृत) जो

कि बाली की राजधानी डेनपसार के दक्षिणी अंचल में स्थित एक भग्न देवालय-परिसर में अभी भी यथावत् स्थित है, बाली नरेश को महान् दिग्विजयी सिद्ध करता है।

बाली के अनेक भग्न मन्दिरों में मिट्टी से बनाकर आग में पकाये गये लघु आकार के बौद्ध-स्तूप भी मिले हैं। ऐसे ही स्तूप तिब्बत और चीन में भी उपलब्ध हैं। स्टुटरहाइम ने इन स्तूपों का निर्माण-काल प्रथम शती ई. माना है। कुछ ताबीजें भी मिली हैं, जिन पर धम्मपद की एक प्रसिद्ध गाथा खुदी हुई है। ये सारी सामग्रियां राजधानी डेनपसार के **बाली म्यूजियम** में सुरक्षित रखी हैं। इतिहासकारों ने इन सबका गहन अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि ईसा की प्रथम शती में ही बौद्ध धर्म बाली में प्रतिष्ठित हो चुका था। सम्भवत: शैव तथा वैष्णव धर्म भी इसी समय बाली में लोकप्रिय हुए।

१६वीं शती ई. में, जब सम्राट् बाटु रेगांग के आग्रह पर जावा का प्रख्यात धर्माचार्य नीरार्थ बाली में धर्मस्थापनार्थ आया, तब तक बाली का धर्म नौ सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। नीरार्थ ने इन सब को काटछांट कर मात्र तीन सम्प्रदायों को मान्यता दी-सौगत, शैव तथा वैष्णव। सौर, ऋषि, ब्राह्मण, भैरव, गणेश तथा पशुपति सम्प्रदायों की स्वतंत्र सत्ता, राजकीय स्तर पर समाप्त हो गई और तब से आज तक बाली द्वीप में यही तीन धार्मिक सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हैं। इनमें भी शैव सम्प्रदाय बाली के हिन्दू-समाज में सर्वोपरि है। वस्तुत: वही बाली का सर्वमान्य धर्म है।

भारत सरकार द्वारा दो वर्षों (मई १९८७ से अप्रैल ८९ तक) के लिये बाली की राजधानी डेनपसार में स्थित उदयन यूनिवर्सिटी में संस्कृत एवं भारतीय सांस्कृतिक इतिहास विषय का अभ्यागत आचार्य (Visiting Professor) नियुक्त किये जाने के कारण मुझे बाली और वहां के उस हिन्दू समाज का भरपूर अध्ययन करने का अवसर मिला, जिसकी संस्थापना भारत के यायावर धर्माचार्य आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व कर आये थे। गज़नवी, गोरी, तैमूर, नादिर और अब्दाली के नृशंस आक्रमणों ने तो भारत की आर्यसंस्कृति का स्वरूप ही बदल डाला।

वैदिक संस्कृति की सर्वग्राह्य वर्णव्यवस्था, विश्वबन्धुत्व, सामाजिक समरसता एवं सहयोग जैसे महान् गुण आज के भारतीय हिन्दू समाज में कहां रहे ?

परन्तु बाली द्वीप पूरी दो सहस्राब्दी में किसी भी हिन्दू धर्म विरोधी राजसत्ता के आक्रमण का शिकार नहीं हुआ। फलत: बाली का हिन्दू धर्म, समाज, परम्पराएं तथा मानसिकता आदि आज भी अपने दो हजार वर्ष पुराने अतीत से सीधे जुड़ी हैं। सचमुच विधर्मी आक्रान्ताओं की रक्तलिप्सा से निरन्तर आतंकित भारत ने वैदिक एवं उपनिषत्कालीन जिन उदारवादी प्रवृत्तियों को हाथ से गंवा दिया, बाली ने उन्हें आज भी सहेज कर सुरक्षित रखा है। फलत: आज भी बाली में दो हजार वर्ष प्राचीन, भारत की विश्वसनीय आर्य संस्कृति सुरक्षित है। प्रस्तुत निबन्ध में बाली का एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहा हूं।

भौगोलिक दृष्टि से बाली वर्तमान इण्डोनेशिया राष्ट्र के २७ प्रांतों में से एक है। अन्दमान-नीकोबार (भारत) के पूर्व, हवाई द्वीप (अमेरिका) के पश्चिम, आस्ट्रेलिया के उत्तर तथा श्याम, मलेशिया, कम्बोडिया एवं वियतनाम-फिलिपाइन्स के दक्षिण का प्रशान्त महासागर क्षेत्र इण्डोनेशिया कहा जाता है। प्राय: ३२०० कि. मी. लम्बे तथा १८०० कि. मी. चौड़े (उत्तर दक्षिण) इस प्रशान्त क्षेत्र में छोटे-बड़े कुल १३६७७ द्वीप हैं, जिनमें केवल ३००० द्वीपों पर मानव-बस्तियां हैं। इन आबाद द्वीपों में भी सुमात्रा, जावा, बाली, लोम्बोक, मदुरा, कालीमन्तान (बोर्नियो) सुलावेसी, सुम्बा, सुम्बावा, सरेस, तिमूर, मालुकू तथा ईरियञ्जय ही ऐसे हैं, जिनकी सांस्कृतिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि अत्यन्त समृद्ध है। १४ वीं शती ई. में ये समस्त द्वीप विशाल जावा (यवद्वीप) साम्राज्य के अंग थे, जिनका सार्वभौम प्रशासक था मजपहितवंशी सम्राट् राजसनगर हयमबुरुक। हयमबुरुक का शासनकाल (१३५०-८९ A.D.) यवद्वीपीय साम्राज्य का सुवर्णकाल था, जिसका आंखों देखा उत्कृष्ट विवरण हम राजकवि प्रपञ्च-प्रणीत नागरकृतागम नामक ग्रन्थ में पाते हैं।

बाली द्वीप यवद्वीप के ठीक पूर्व में है। दोनों द्वीप दो रूठे भाइयों जैसे पास-पास बैठे प्रतीत होते हैं। बाली द्वीप के सागरतटवर्ती कस्बे गिलिमानुक से

जावा का सागरतट मात्र तीन कि.मी. दूर है। आधे घण्टे में ही स्टीमर या फेरी जलयान एक तट से दूसरे तट तक आते-जाते रहते हैं। बाली के पूर्व में विद्यमान लोम्बोक द्वीप प्राय: ३० कि.मी. दूर हैं। द्वीप के उत्तर तथा दक्षिण में अनन्त नीलजलधि पसरा पड़ा है। बालीद्वीप मजपहित-साम्राज्य का अंग बनने के बाद १५वीं शती में नौ रियासतों में विभक्त किया गया-क्लुंगकुंग्ग (गेल्गेल), करंगसम, बांगली, बुलेलेंग, बांडुंग, मेंगवी, ग्यान्यार, तबानान तथा जेम्ब्राना। क्लुंगकुग क्षेत्र बाली के सार्वभौम सम्राट् देव अगुंग के अधीन तथा शेष आठ राज्य सामन्तों के अधीन थे। इन सामन्तों को **भूपति** कहते थे।

ईस्वी सन् १९०६ में बाली पर, अन्तिम रूप से डचों का आधिपत्य स्थापित हो जाने पर भी द्वीप का यही विभाजन मान्य रहा। १९४५ में इण्डोनेशिया के स्वतंत्र राष्ट्र घोषित होने पर भी बाली के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया है, मात्र इसके कि मेंगवी रियासत का विलय तवानान में कर दिया गया है।

सम्प्रति बाली प्रापिंसी (Province अथवा राज्य) रिजेंसी अथवा कबूपा-तन (Ke-Bhupati-an) कचामतान् (District) तथा देसा क्रम (village) में विभक्त हैं। जिनके अधिकारी क्रमश: गुबुर्नुर (Governor) भूपति, चमत अथवा पुंगव तथा कपाल-देसा हैं। वस्तुत: यह सारा विभाजन मजपहित शासन-व्यवस्था की ही देन है।

मध्य बाली में पूर्व से पश्चिम में एक अटूट पर्वतशृंखला विद्यमान है, जिसके तीन शिखर (बटुकारु, बाटुर तथा गुनुंग-अगुंग) बाली के पौराणिक भुवनकोश के आधारबिन्दु हैं। बाटुर तथा गुनुंग-अगुंग ज्वालामुखी हैं जो १९६३ के महाविनाश के अनन्तर सौभाग्यवश सम्प्रति मौन बैठे हैं। सर्वाधिक पूर्व में करंगसम रिजेंसी में विद्यमान १०५६० फुट ऊंचा गुनुंग-अगुंग ही बाली का महामेरु अथवा कैलाश माना जाता है। इस पर्वत पर विद्यमान शिवमन्दिर (Mother temple) तथा मन्दिर-प्रांगण में स्थित त्रिमूर्ति पीठ (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) ही त्रिदेवोपासक बाली की आध्यात्मिक चेतना का केन्द्रबिन्दु है।

पूर्वोत्तर बाली द्वीप उच्चावच पर्वत शृंखलाओं, भयावह खाइयों,दर्रों तथा बीहड़ घाटियों के कारण दुरधिगम्य है । परन्तु दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र अत्यन्त उपजाऊ समतल एवं नयनाभिराम माल-भूमियों से ओत-प्रोत है । बाली द्वीप में दो प्रमुख सरोवर हैं । प्राय: पांच मील लम्बा चिन्तामणि सरोवर बाटुर पर्वत की तलहटी में है । चारों ओर गगनचुम्बी पर्वतों से घिरी तथा भूतल से सैकड़ों फुट नीचे स्थित यह झील सैलानियों का महान् आकर्षण है । इसी झील के दक्षिणी तट पर बसे द्रुनयान् गांव का वह अद्‌भुत श्मसान भी है जहां मुर्दे जलाये ही नहीं जाते । बस उन्मुक्त आकाश के नीचे पड़े ही पड़े अस्थिपञ्जरावशेष बन जाते हैं। परन्तु कालकवलन की इस प्राकृतिक प्रक्रिया में भी उनमें दुर्गन्ध का नाम नहीं ! यह सब संभव होता है, श्मसान भूमि में खड़े एक पुराणवृक्ष (तरु मन्यान) के कारण ।

बेडुगुल नामक दूसरा सरोवर बाली की राजधानी डेनपसार से प्राय: ३५ कि. मी. उत्तर में सिंगराजा मार्ग पर अवस्थित है । पर्वतों एवं सरोवरों के अतिरिक्त यह रहस्यमय द्वीप निरन्तराल बनराजियों, गहरी उपत्यकाओं एवं प्रशस्त सागरतटों (Beach) से ओतप्रोत है । सानुर, नूसा-दुआ, कुटा (डेनपसार नगर से क्रमश: पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में) चण्डीदास तथा सोका बालीद्वीप के प्रख्यात सागरतटवर्ती विहार-स्थल हैं जहां पूरे वर्ष भर प्राय: पचास हजार विदेशी पर्यटक बने रहते हैं । गर्म पानी के अनेक रहस्यमय स्रोत भी द्वीप का प्रकृति वैभव समृद्ध बनाते हैं ।

बालीद्वीप को क्या कहें? वेणुवन, कदलीवन अथवा नारिकेलवन? सम्पूर्णद्वीप इन तीनों वनों से संकुल है । बाली में १७ जाति के केले उपलब्ध हैं, जिनका विशिष्ट उपयोग है-केकनिर्माण, पूजोपचार, तंत्रप्रयोग आदि । बांस का प्रयोग **जोगेग** नामक प्रख्यात वेणुवाद्य से लेकर कुटीर-उद्योगों तक के लिए है । बांसों से बने उत्कीर्ण गृहस्तम्भ, मेज, कुर्सी, पलंग बाली के प्रत्येक होटल में सरलता से देखे जा सकते हैं ।

चावल बालीद्वीप की मुख्य फसल है । Balirice सम्पूर्ण इण्डोनेशिया का गौरव है जिसका निर्यात भी होता है । इसके अतिरिक्त मूंग (Kacangijo) अरहर (Undis) भी बाली के उपयोगी अन्न हैं । दो वर्षों के प्रवास में, मात्र परवल तथा

भिण्डी को छोड़, अन्य सारी भारतीय सब्जियां मुझे डेनपसार में मिलीं। उबीकायु, बाङ्क्वाङ् तथा कटेला जैसे सुस्वादु कन्द तथा सलक, मांगिस, वनी, राम्बूतान तथा तिम्बुल जैसे दुर्लभ फल बालीद्वीप की प्राकृतिक धरोहर हैं। जामुन, आम, नीबू, कटहल तथा अंगूर जैसे भारतीय फल तो उपलब्ध हैं ही ! परन्तु बाली का जम्बू-फल भारतीय जम्बू (जामुन) से सर्वथा भिन्न है। भारत के ही आकार का होने के कारण इसे जम्बू कहा जाता है। बाली निवासी भारत का प्रत्यभिज्ञान जम्बूद्वीप के रूप में ही करते हैं, यह तथ्य महत्वपूर्ण है।

बालीद्वीप की पौराणिक अथवा देवशास्त्रीय (Mythological) पृष्ठभूमि मूलतः भारतीय-चिन्तन की देन है। बालीवासी अपने द्वीप को ही समस्त भूमण्डल की नाभि (Nucleus) मानते हैं। उनकी दृष्टि में बाली ही धरामण्डल का केन्द्र-बिन्दु (Tanah Puseh) है। भारत में भी ब्रह्मावर्त (विठूर, उ. प्र.), उज्जयिनी अथवा प्रयाग को पृथ्वी की नाभि मानने की आर्षपरम्परा विद्यमान है। भारतीय पुराणों का ही भुवनकोश बाली में भी प्रतिष्ठित हुआ परन्तु सर्वथा नये रूप में। यह आर्य धर्म की उदारता एवं प्रशस्त, असंकीर्ण किंवा व्यापक दृष्टि का प्रमाण है कि वे जहां भी गये, वहीं के होकर रह गये। अपना सुमेरु, हिमालय, कैलाश तथा मानसरोवर, गंगा, नर्मदा, सिन्धु, सरयू सब कुछ उन्होंने उसी राष्ट्र में समाहित कर लिया। फलतः अपने आध्यात्मिक एवं धार्मिक चिंतन के लिये उन्हें भारत की आवश्यकता नहीं पड़ी। इस्लाम की प्रवृत्ति ठीक इसके विपरीत रही। क्योंकि भरणपोषण, जीविका तथा साम्राज्य के लोभ में मुस्लिम विश्व के भूखण्डों में बस तो गये परन्तु उनका मक्का, मदीना, काबा-कर्बला अरब राष्ट्र की संकीर्ण चहारदीवारी से बाहर नहीं निकल सका। धार्मिक तथा पारलौकिक श्रेय की दृष्टि से वे सदैव अरब और इराक पर ही समर्पित रहे। इसी मानसिकता के कारण मुस्लिमों के लिये अरबेतर राष्ट्र के प्रति, विशेष कर इस्लाम से पृथक् शासन-व्यवस्था वाले किसी भी राष्ट्र के प्रति अन्तःकरण से निष्ठावान् बन पाना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

बालीद्वीप की गंगा (पकेरिसान) एवं सुमेरु (गुनुंग-अगुंग) को देखने के बाद मैंने लोम्बोक द्वीप की गंगा (सुरनदी जो एक भूगर्भ-निस्सृत जलस्रोत के रूप में मतराम नगर से प्राय: १५ कि. मी. उत्तर दिशा में नर्मदा जनपद में विद्यमान है) एवं सुमेरु (माउण्ट रिञ्जानी) का दर्शन किया। पूर्वी जावा में विद्यमान ब्रह्मा (माउण्ट ब्रोमो) तथा सुमेरु पर्वत तो अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हैं ही ! इसी प्रकार वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस, बोर्नियों तथा सुमात्रा आदि द्वीपों में भी सुमेरु एवं गंगा की प्रतिष्ठा है । सच तो यह है कि प्रशान्त महासागर का प्रत्येक द्वीप स्वयं को 'भारत' समझता, मानता एवं अनुभव करता था । वह परम्परा आज तक अक्षुण्ण है ।

बाली की देवशास्त्रीय पृष्टभूमि ऋग्वेद में उल्लिखित इन्द्र एवं वृत्र के संघर्ष से सीधे जुड़ी है । पुराणों का मयदानव-इन्द्र संघर्ष भी उसी पुराकथा का एक अंग है । **उसना बाली** नामक ग्रंथ में उस युद्ध का रोचक वर्णन उपलब्ध है । मयदानव बेदौलु (बाली की राजधानी डेनपसार से प्राय: ३५ कि. मी. पूर्व में स्थित एक उपनगर) क्षेत्र का शासक था। वह आभिचारिक शक्तियों से सम्पन्न, मायानिपुण तथा देवविरोधी था। प्रजा उसके उत्पीड़न से व्यथित थी। लोगों ने रो-रोकर अपनी व्यथा तोहियांकुर गांव में प्रतिष्ठित **महादेव** को सुनाई और उन्होंने उनकी व्यथा यवद्वीपीय सुमेरु पर विद्यमान भगवान् 'अतिन्तिय शिव' (अचिन्त्य) से कही । अतिन्तिय द्वारा आदिष्ट देवसेनानायक भटार इन्द्र मयदानव से लोहा लेने चल पड़े । बेदौलु के पास **केन्द्रान** नामक गांव में दोनों योद्धाओं के बीच भीषण संग्राम हुआ ।

पराजित मय रूप परिवर्तित करता हुआ भागने लगा । वह कभी नारियल का फल बनता तो कभी कोई पशु ! अन्त में वह **मनुकाया** गांव (बेदुलु-पेजेंग मार्ग पर १६ कि. मी. उत्तर में स्थित) के पूर्व में स्थित घने जंगल में एक गृद्ध बन कर तिम्बुल वृक्ष पर जा बैठा ।

इन्द्र भी मय से कम मायावी नहीं था (इन्द्रो मायाभि: पुरुरूपमीयते—ऋग्वेद) वह वहां भी जा पहुंचा । तब तक घना अंधेरा छा गया । देवसेना प्यास से विकल हो पानी खोजने लगी । दुष्ट मय ने शत्रुनाश का स्वर्ण अवसर देख कर पार्श्ववर्ती

पर्वत-शृंखला में ही एक विषाक्त जलस्रोत पैदा कर दिया। जल पीते ही देवता निष्प्राण हो गये।

प्रातः इन्द्र ने यह लोमहर्षक दृश्य देखा। उसने अपने वज्र से पृथ्वी का गर्भ विदारित कर अमृततोया गंगा (तीर्त एम्पुल) को प्रकट किया। उस जल के अभिषेक-मात्र से देवता जीवित हो उठे। मय दानव संत्रस्त होकर पुनः भागा। परन्तु अबकी बार इन्द्र ने उसे बाटुर पर्वत की पीठ पर धर दबोचा। मय मारा गया। उसके शरीर से इतना रक्त प्रवाहित हुआ कि एक नदी (पेतानू) ही बह निकली।

तीर्त-एम्पुल सरोवर से बाहर निकलते ही वह जल पकेरिसान नदी के रूप में उत्तर से दक्षिण की ओर बहने लगता है। यही बाली की गंगा है। इसी का पवित्र जल द्वीप के समस्त मन्दिरों एवं संस्कारों में शुद्धि (Mewinten) के लिये प्रयुक्त होता है। पकेरिसान एवं पेतानू की अन्तर्वेदी को ही **अमरावती क्षेत्र** कहा जाता है। साधना एवं **पारलौकिक श्रेय** की दृष्टि से यह भूभाग बालीद्वीप में वाराणसी अथवा श्रीरंग-क्षेत्र जैसा ही स्थान रखता है। अमृततोया गंगा (पकेरिसान) की जहां बाली में इतनी प्रतिष्ठा है, वहीं मय के रक्त से प्रवाहित पेतानू की अप्रतिष्ठा भी है। बाली के कृषक आज भी पेतानू के जल से अपने 'सावाह' (धान के खेत) की सिंचाई नहीं करते।

इस महान् पौराणिक स्थल के अतिरिक्त, बालीद्वीप अन्य अनेक तीर्थों एवं साधना-भूमियों से ओतप्रोत है। कुतरी गांव की महिषासुरमर्दिनी तथा महामेरु पर स्थित शिव-मन्दिर बाली की धर्म चेतना के केन्द्रबिन्दु हैं। प्रत्येक गांव में ब्रह्मा (Pura Desa), विष्णु (Pura Puseh) तथा शिव (Pura Dalem) के मन्दिर हैं। प्रत्येक घर के प्रांगण में बने पूजास्थल (Pimirajan) में भी इहीं त्रिदेवों के मन्दिर हैं। बालीवासी हिन्दू त्रैकालिक पूजा (Puja Trisandya) के अभ्यस्त हैं।

बाली के सामाजिक परिवेश ने मुझे सर्वाधिक आकृष्ट किया। भारत का प्राचीन विश्वविश्रुत वर्णाश्रम धर्म इस द्वीप में देखने को मिला। बाली में आज भी चातुर्वर्ण्य मात्र हैं, जातियां नहीं हैं। ब्राह्मण अभी भी बाली में सर्वोपरि प्रतिष्ठित हैं,

परन्तु विद्वान् एवं धर्म-रक्षक के रूप में, न कि वंशगौरव के कारण । ब्राह्मण (ईदा बागुस) , क्षत्रिय (जोकोर्दे, गुस्ती), वैश्य (देव) तथा शूद्र (वायान) एक ही गांव में प्रेमपूर्वक रहते हैं । किसी की पृथक् बस्ती नहीं है । प्रत्येक सामाजिक संस्कार में हर घर से एक व्यक्ति का सम्मिलित होना अनिवार्य है, अन्यथा कपाल-बंजार (सभापति) की ओर से दण्ड-व्यवस्था है ।

चारों वर्णों में गुणानुरोध की दृष्टि से 'वरीयताक्रम' अवश्य है जो कि परम्परया चला आ रहा है । परन्तु व्यावहारिक स्तर पर मैंने दो वर्षों में **सवर्ण-असवर्ण** जैसा ओछा संघर्ष बाली में नहीं देखा । अस्पृश्यता नाम की कोई वस्तु बाली में नहीं ! सभी वर्णों के पुरुष एवं महिलायें समान रूप से गौरवर्ण एवं सुन्दर हैं । यद्यपि सभी वर्ण अभी भी विवाह-सम्बन्ध अपने ही वर्ग में कर रहे हैं, विशेष कर ब्राह्मण एवं क्षत्रिय । फिर भी शिक्षित समाज में अन्तर्वर्णीय-विवाह अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हो रहे हैं । विवाह में कन्या की इच्छा एवं पसन्द सर्वोपरि है । कोई भी पिता, कन्या को मनोनुकूल वर चुनने में बाधा नहीं डाल सकता । इस स्वस्थ परम्परा के कारण बाली में दहेज तथा तज्जनित सामाजिक विघटन सर्वथा नहीं हैं ।

बाली में पासी, चमार, धरिकार, कुम्हार, मुसहर, नाई, बारी, कहार, गड़रिया अथवा मिश्र, शुक्ल, तिवारी, दुबे, पाण्डे जैसी जातियां तथा उपजातियां कतई नहीं हैं । हां, धर्माचार्य नीरार्थ की विभिन्न वर्णों से गृहीत पत्नियों की सन्तति होने के कारण, बाली के ब्राह्मणों में वंशशुद्धि का थोड़ा **अहम्** अवश्य है ।

बाली का हिन्दू समाज अत्यन्त ऋजु, आस्तिक एवं धर्मभीरु है । भारत में जहां गंगास्नान, तीर्थाटन एवं मन्दिर-दर्शन अब बहुत कुछ जल-विहार, पिकनिक एवं अपात्रतागोपन के पर्याय बनते जा रहे हैं, बाली की जनता आज भी आमूलचूड़ धर्मप्राण है । कोई भी ऋतुमती महिला, जाहे वह अशिक्षित हो या विदुषी, किसी भी मूल्य पर मन्दिर में प्रवेश नहीं करती । भारत में भी कुछ दशक पूर्व तक ये परम्परायें प्रतिष्ठित थीं । ऋतुमती महिला रसोई तक नहीं बनाती थी । परन्तु आज तो उसकी चर्चा तक करना अशिष्टतम व्यवहार माना जायेगा ।

मैं पचीसों रातें, अपने मित्रों के साथ उनके दूर-दराज के गांवों में रहा। परन्तु किसी ने मुझे यह नहीं बताया कि यहां हत्या अथवा राहजनी की घटना घटी है। इधर कुछ दिनों से पूर्वी बाली की करंगसम रिजेंसी कुख्यात होने लगी है। अन्यथा बाली के गांवों में आज़ भी लोग घरों में ताला लगाने की आवश्यकता नहीं ही समझते। वाहन घरों के बाहर भी सुरक्षित रहते हैं। उदयन यूनिवर्सिटी में मैंने कोई साइकिल स्टैण्ड नहीं देखा, जबकि विश्वविद्यालय का एक भी छात्र बिना वाहन के नहीं आता। प्रत्येक वाहन के हैण्डिल में एक या दो तक **हेलमेट** भी टंगे रहते हैं, परन्तु उसके चोरी होने का कोई भय नहीं।

पूर्व-पश्चिम में प्राय: २१० कि. मी. तथा उत्तर-दक्षिण में प्राय: १२० कि.मी. विस्तृत बालीद्वीप में सम्प्रति तीस लाख हिन्दू रहते हैं। ये शैव, वैष्णव, तथा बौद्ध सम्प्रदायों में विभक्त हैं। फिर भी अधिसंख्य जनता शैवमतावलम्बी है। द्वीप के आराध्य देवता 'अतिन्तिय शिव' ही हैं। थोड़े से मुस्लिम एवं क्रिश्चियन भी हैं बाली में, विशेष कर नगरों में। समाज में पुरोहित (Pedanda) तथा मन्दिर के पुजारी (Pemangku) की प्रतिष्ठा अभी भी सर्वोपरि है।

बालीवासी विशुद्ध मांसाहारी हैं। सुअर, मुर्गा, तथा चावल उनका प्रिय एवं दैनन्दिन भोजन हैं। शाक-सब्जियां भी लोकप्रिय हैं। नारियल से बना मक्खन तथा गुड़ अत्यन्त स्वादिष्ट एवं स्वास्थ्यकर होता है। घी-दूध-दही का प्रचलन बाली में कतई नहीं है। गाय दुहने की परम्परा ही नहीं है। गाय के प्रति भारत जैसा मातृभाव भी मैंने बाली में नहीं देखा। बल्कि गाय को हल खींचते देख बड़ी व्यथा भी हुई। मैंने जो कुछ अध्ययन किया उसका निष्कर्ष यह था कि खान-पान के क्षेत्र में बाली का हिन्दू-समाज आमिषभोजी चीन से अधिक प्रभावित रहा। १५ शती ई. के अनन्तर भारत से सम्पर्क टूट जाने के कारण, बाली का समाज अपनी नियति पर ही जीवित रहा। इधर कुछ वर्षों से **हरे कृष्ण सम्प्रदाय** के आन्दोलन ने बाली में पुन: शाकाहार को प्रतिष्ठापित करने का यत्न प्रारम्भ किया है और सफलता भी पाई है।

स्त्री एवं पुरुष-दोनों ही एक लुंगी (Sarong) पहनते हैं। महिलाओं का सारोंग तीन बार लपेटा रहता है। पुरुषों का ऊंची गांठ बांधने के कारण घुटने तक उठा हुआ। सारोंग के साथ महिलाएं पूरे आस्तीन की बाटिकाएं पहनती हैं तथा कमर में एक जरीदार सुन्दर कमरबन्द बांधती हैं। उनके शीर्ष पर आहत-सुवर्ण (Beaten gold) से निर्मित नयनाभिराम मुकुट रहता है। पुरुष आधी बांह की शर्ट, कमरबन्द तथा एक विशेष शैली में सिली मुकुटाकार पगड़ी बांधते हैं। विवाह में, पुरुष पीछे एक खड्ग भी धारण करता है। प्राय: मन्दिर-यात्रा, पर्व, मन्दिर-महोत्सव (odolan) अथवा सामाजिक संस्कार के सुअवसर पर बालीवासी अपनी इसी पारम्परिक वेषभूषा में रहते हैं।

दो वर्ष बाली के हिन्दू समाज में रहकर अपार सुख-शान्ति एवं प्रतिष्ठा मिली। मैं बालीवासियों के हृदय में रहा। उनके लिये गीता के १८ अध्यायों का श्लोकगायन टेप कराया। उनके लिये, उन्हीं की भाषा (Bahasa Indonesia) में संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखा एवं प्रकाशित कराया। पचासों घण्टों के प्रवचन, विविध विषयों पर दिये जो अभी भी मित्रों के कैसेट्स में सुरक्षित हैं। जावी रामायण के २७७८ श्लोक देवनागरी में बदल कर, हिन्दी में अनूदित किये। फिर भी लगता है, मानों बाली मुझे पुन: आमंत्रित कर रहा है, ढेर सारे बचे कार्यों के लिये। अभी भी बालीवासी मित्रों से मेरा पत्र-सम्पर्क बना हुआ है। मैं चाहूंगा कि पुन: अपने पुरखों की उस भूमि पर जाऊं तथा अपने सम्बन्धों को अपेक्षाकृत और प्रगाढ़ कर लौटूं।

तृतीय अध्याय

अर्धनारीश्वर की विहारभूमि

प्राचीन भारत के श्रेष्ठ धर्माचार्यों तथा महत्वाकांक्षी साहसी राजकुमारों ने ईस्वी शतीके प्रारम्भिक चरणमें ही सुदूर पूर्व के द्वीपों कीं यात्राएं की । ज्येष्ठ पुत्र को ही शासनाधिकार पाने की धर्मशास्त्रीय व्यवस्था होने के कारण वैभव-विलास एवं राजसत्ता के अन्वेषक ये यायावर राजपुत्र एशिया महाद्वीप के पूर्वी छोर तक जा पहुंचे और देखते ही देखते उन सारे भूभागों में हिन्दू राजवशों की स्थापना हो गयी । यूनानी, अरबी, चीनी तथा भारतीय स्रोतों से स्पष्टत: ज्ञात होता है कि ईस्वी शती के प्रारम्भ में ही चम्पा (वियतनाम), कम्बुज (कम्पूचिया), लावदेश (लाओस), द्वारावती, सुखोदय, अयोध्या (थाईलैण्ड), सुवर्णभूमि (वर्मा), कटाह द्वीप (केडाह प्रान्त, मलयेशिया) तथा सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा, जावा, बाली) भारतीय राजवंशों के अधीन रहे ।

तब से अगले ढेढ़ हजार वर्षों तक इन द्वीपों में भारतीय धर्म, संस्कृति, भाषा एवं लोक-परम्पराओं का अद्भुत विकास हुआ । अंकोरवाट (कम्बुज) का पर्वताकार भव्य विष्णु मन्दिर, जावा का बोरोबुदुर बौद्ध स्तूप तथा बाली द्वीप का बैसाकीह शिवा मन्दिर आज भी उस पराभौतिक स्वर्णिम अतीत के साक्षी हैं । १५वीं शती ई. के इस्लामी आक्रमणों ने एक-एक करके पारस्परिक राग-द्वेष से ग्रस्त इन हिन्दू उपनिवेशों की सत्ता समाप्त कर दी । परन्तु बाली द्वीप तब भी इस्लामी आक्रमण से बचा रहा । मजपहित साम्राज्य (पूर्वी जावा) के पलायित हिन्दू नरेश ने बाली में शरण ली और देवअगुंगके नाम से स्वयं को द्वीप का अधिपति घोषित कर दिया । इस वंश के शासक बीसवीं शती के प्रारम्भ तक बाली द्वीप की प्रजा का यत्नपूर्वक

रक्षण करते रहे, जब तक कि द्वीप डचों के अधीन (१९०६ ई.) नहीं हो गया। इन मध्यवर्ती चार सौ वर्षों में बाली द्वीप भारतीय हिन्दू धर्म, संस्कृति एवं उपासनाका स्पृहणीय केन्द्र बना रहा। अन्यान्य समस्त द्वीपों के भी आस्थावान् हिन्दू, श्रेष्ठ विद्वान्, धर्माचार्य, कर्मकाण्डी पुरोहित (पैडण्डा) तथा पुजारी (पमंकू) बाली द्वीप में आ बसे।

बाली का शैव मत

१६वीं शती ई. से पूर्व बाली में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित थे। इन सम्प्रदायों की मूल भूमि यद्यपि भारत था, फिर भी इनका विकास बाली द्वीप की स्थानीय परम्पराओं के प्रभाव में अनोखे ढंग से हुआ था। प्रसिद्ध विद्वान् डा. आर. गोरिस (बाली) ने ऐसे नौ सम्प्रदायों के नाम गिनाये हैं- शिवसिद्धान्त, पाशुपत, भैरव, वैष्णव, ब्राह्मण, सौर, गणेश, ऋषि तथा सौगत (बौद्ध)।

इन सम्प्रदायों में भी शिवसिद्धान्त, वैष्णव तथा सौगत प्रमुख थे। समय-समय पर बाली में इन सम्प्रदायों का प्रभाव तथा महत्व घटता-बढ़ता रहा। ११वीं शती में वैष्णव धर्म बाली का राजधर्म था। बालीनरेश उदयन तथा उसकी विदुषी पत्नी महेन्द्रदत्ता को विष्णु तथा लक्ष्मी का अवतार माना गया। शिलालेखों में महेन्द्रदत्ता को गुणप्रिय धर्मपत्नी तथा यवराज लक्ष्मी कहा गया है। वह जावानरेश मुकुट वशंवर्धन की कन्या थी। फलतः उदयन-महेन्द्र दत्ता का पुत्र सम्राट् एरलंग जावा तथा बाली द्वीपों का एकछत्र अधिपति हुआ। एरलंग की मुद्राओं में भी उसे दो लक्ष्मियों के बीच में आसीन विष्णु के रूप में अंकित किया गया है। दो लक्ष्मियां वस्तुतः सम्राट् एरलंग की दो पत्नियाँ हैं। इसप्रकार ग्यारहवीं-बारहवीं शती का (जावा तथा) बाली द्वीप वैष्णव धर्म का अनुयायी था।

प्रतिमोपासना का युग

बाली में साम्प्रदायिक सहिष्णुता प्रारम्भ से ही पराकाष्ठा पर थी। सामान्य प्रेत-पिशाच (रांगदा) की उपासना करनेवाले से लेकर परम शैव, परम वैष्णव तक निर्विघ्न रूप से अपनी उपासना पद्धति को सार्थक कर रहे थे। सभी सम्प्रदायों के

भव्य मन्दिर थे, मनोरम साधनास्थल थे, जिन्हें आज भी बाली में देखा जा सकता है। १६वीं शती ई. से पूर्व बाली में सर्वत्र मूर्तिपूजा विद्यमान थी, ऐसा अनुमान है। क्योंकि ब्रह्मा, गणेश, भैरव, विष्णु तथा बुद्ध आदि की सैकड़ों मूर्तियाँ द्वीप के प्राचीन मन्दिरों तथा बाली म्यूजियम (डेनपसार) में अभी भी संगृहीत है। तीर्थ एम्पुल गोआगजा आदि मन्दिरों में (शिव) लिङ्ग- योनि भी द्रष्टव्य हैं।

किन्तामनि (शिलालेखों में चिन्तामणि) कस्बे से ७ कि.मी. उत्तर ज्वाला-मुखी बाटुर पर्वत के शिखर पर 'पुरा-पनुलिसान' नामक एक अति प्राचीन मन्दिर है। बाली में यह सर्वाधिक ऊंचाई पर स्थित मन्दिर है। मन्दिर के अनेक कक्षों में मैंने गणेश, चतुर्भुज ब्रह्मा, लक्ष्मी, विष्णु तथा अन्य 'भटारों' (देवों) की भव्य प्रतिमायें देखीं। किन्तामनि कस्बे के केन्द्र में विशाल 'किन्तामनि लेक' के पश्चिमी तट पर स्थित अनेक तोरणों, शिखरों एवं गर्भगृहों से युक्त विष्णु-मन्दिर के भी मैंने दर्शन किये। यह देवालय 'पुरा-बाटुर' के नाम से विख्यात है। तीर्थ एम्पुल (देवराज इन्द्र-निर्मित अमृत सरोवर, जिसमें भूगर्भ से फूटा जलस्रोत अभी भी विद्यमान है) की यात्रा में मैंने गियान्यार रिजेंसी (कमिश्नरी) के पेजेंग कस्बे में स्थित पुरा केबो ईदान (अर्थात् उन्मत्त महिष) में प्राय: १८ फुट ऊंची शिव-भैरवकी एक विशाल नग्न प्रतिमा देखी।

परन्तु १५वीं शती ई. में एक अद्भुत क्रान्ति का सूत्रपात बाली द्वीप में हुआ। पराजित, पलायित जावा-नरेश भागकर बाली आ गया और उसने द्वीप के दक्षिण-पूर्व में स्थित सागरतटवर्ती गेल्गेल नगर में एक नये राजवंश की स्थापना की। अपने सामन्तों को द्वीप के अन्य प्रान्तों का शासक नियुक्त कर वह बाली का सार्वभौम प्रशास्ता बना—देव अगुंग नाम से। बाटु रेगांग (१६वीं शती) इसी वंशका शासक था; जिसने अपने प्रताप, ऐश्वर्य तथा पराक्रम से प्रभूत यश अर्जित किया।

धर्माचार्य नीरार्थ

इसी नरेश के आमन्त्रण पर उस युग का महान् हिन्दू धर्माचार्य, कर्मकाण्डी तथा महातान्त्रिक विद्वान्, नीरार्थ जावा से बाली द्वीप आया। समुद्रमार्ग से आया

महापण्डित नीरार्थ बाली द्वीप के जिस स्थान पर उतरा, वह स्थान तबानान रिजेंसी के कडिरी जनपद में है। इसे **तनाह-लाट** (तनाह-पृथ्वी, लाट-समुद्र अर्थात् समुद्रतट) कहते हैं। यहीं समुद्र में उभरी एक टेकड़ी पर नीरार्थ-स्थापित शिवमन्दिर है, जिसके पुनर्निर्माण का कार्य इन दिनों चल रहा है। समस्त धर्मों के प्रति निष्ठावान् इण्डोनेशिया के लोकप्रिय राष्ट्रपति पूर्णविराम सुहार्तो ने अपने व्यक्तिगत कोष से इस ऐतिहासिक हिन्दू मन्दिर के संरक्षणार्थ डेढ़ लाख (भारतीय) रुपये दिये हैं।

नीरार्थ विद्वान् एवं शास्त्रज्ञ तो था ही, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ भी था। उसकी सारी जीवनचर्या सुन-समझकर मुझे महाप्राज्ञ चाणक्य की स्मृति हो आयी। नीरार्थ ने मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा भञ्जित जावी मन्दिरों की भव्य प्रतिमाओं को देखा होगा। बाली यद्यपि मुस्लिम आक्रमण के भय से मुक्त था, फिर भी नीरार्थ की दृष्टि में ऐसे किसी भी संकट की सम्भावना अभी भी बनी थी। सम्भवत: अपनी इसी दूरदर्शिता के कारण उसने बाली द्वीप में 'निर्गुण-त्रिदेवोपासना' का प्रचार किया। मूर्तिपूजा (सगुणोपासना) छुड़वाने के पीछे धर्माचार्य नीरार्थ का उद्देश्य सम्भवत: यही रहा होगा कि मन्दिरों में मूर्तियाँ होंगी नहीं तो आक्रान्ता तोड़ेंगे किसे ?

वैसाकीह, साकेनान, पनुलिसान, तनाहलाट, उलू-वाटू आदि बाली के प्रख्यात तीर्थमन्दिरों में मैंने जब शिवलिङ्ग अथवा प्रतिमाएं नहीं देखी तो आश्चर्य हुआ। मेरी इस उत्कण्ठा का समाधान भी कोई नहीं कर सका कि बाली के शिवमन्दिरों में शिवलिङ्ग अथवा प्रतिमाएं क्यों नहीं हैं, कब से नहीं हैं ? वर्ष भर के निरन्तर अध्ययन तथा सतत पर्यटन से मुझे अपने प्रश्नों का उत्तर स्वयं मिला। बालीवासी विद्वान् भी नीरार्थ को ही बाली के वर्तमान शैव धर्म का नियामक एवं संस्थापक मानते हैं।

निर्गुण शिवोपासना

नीरार्थ के दैवी व्यक्तित्व की गरिमा के कारण ही बाली में शैव-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हुई। नीरार्थ ने पाशुपत, भैरव, ब्राह्मण, गणपति, ऋषि तथा सौर सम्प्रदायों को भी शिवसिद्धान्त में ही विलीन कर दिया। अतिन्तिय (अचिन्त्य) शिव को नीरार्थ

ने निष्कल (निर्गुण) परमेश्वर शिव तथा परब्रह्म के रूप में निरूपित किया। वही निष्कल शिव अपनी चित् शक्ति **माया** का आश्रय लेकर स्वयं को त्रिधा विभक्त करता है— रजोगुणी ब्रह्मशिव (ब्रह्मा), सत्त्वगुणी सदाशिव (विष्णु) तथा तमोगुणी रुद्रशिव (रुद्र)। आत्मविस्तार के अगले चरण में वही अतिन्तिय परमेश्वर इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि भटारों के रूप में तथा अन्ततः दृश्यमान समस्त चराचर जगत् के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसप्रकार अतिन्तिय शिव ही सब कुछ है।

नीरार्थ द्वारा प्रतिपादित बाली का यह शिव सिद्धान्त (शैव धर्म) थोड़े-बहुत परिवर्तनों के बावजूद भारतीय शैव मत के सर्वथा अनुकूल ही है। यद्यपि बाली में ब्रह्मा के किसी स्वतन्त्र सम्प्रदाय होने की पुष्टि नहीं होती तथापि महापण्डित नीरार्थ ने भारतीय धर्मशास्त्रीय पद्धति के अनुकूल ही **त्रिदेववाद** में रुद्र एवं विष्णु के साथ ब्रह्मा को भी प्रतिष्ठित किया। वैष्णव मत जहाँ भगवान् विष्णु को ही त्रिधा व्यवस्थित **परमेश्वर** मानता है, शैव मत वहीं भगवान् शिव को। मान्यता की पद्धति एक ही है। भेद है तो केवल उस मान्यता की पृष्ठभूमि में, निष्ठा में।

अर्द्धनारीश्वर की लीलाभूमि

नीरार्थ के युग से ही बाली द्वीप अर्धनारीश्वर की विहारभूमि बन गया। त्रिदेवमन्दिर न केवल तीर्थ, अपितु प्रत्येक गाँव (देसा) तथा प्रत्येक कुटुम्बके लिये अनिवार्य हो गये। बाली में आप कहीं भी जायें, ये त्रिदेवमन्दिर अनिवार्यतः देखने को मिलेंगे। प्रायः तीनों मन्दिर गाँव के विभिन्न छोरोंपर स्थापित होते हैं, परन्तु शिव-मन्दिर सदैव चिताभूमि (शेत्र, सेमा-क्षेत्र, श्मशान) के पास होता है।पुरा-दलेम (शिव), पुरापुसेह (विष्णु) और पुरा-देसा (ब्रह्मा) का सारा प्रबन्ध गाँव का बंजार (ग्रामसभा) करता है। प्रत्येक मन्दिर के नाम कुछ उपजाऊ जमीन (सावाह) होती है, जिसकी उपज से पमंकू (पुजारी) का भरण-पोषण तथा मरम्मत आदि का काम सम्पन्न होता है। वर्ष में दो बार (छः महीनेपर) प्रत्येक मन्दिर का महोत्सव आयोजित होता है— सुनिश्चित तिथिपर, जिसे **ओडालान** कहते हैं। इस अवसर पर शास्त्रानुकूल मन्दिर-कर्मकाण्डों, मन्दिर-नृत्यों तथा सामूहिक भोजों का आयोजन

होता है । आर्थिक संकट होने पर **कपाल-बंजार** (ग्रामसभाध्यक्ष) ग्रामवासियों से चन्दा भी उगाहता हैं, इन महोत्सवों के लिये ।

प्रत्येक परिवार के प्रांगण में भी एक मन्दिर-परिसर होता है- जिसे **पिमिराजन** कहते हैं । यहाँ भी भटार आदित्य, कुलदेवता तक्षु, पितर(कवितान) मातृशक्ति (इबू) तथा दो-एक और भी गृहदेवताओं के साथ एक विशाल स्तम्भ पर स्थापित तीन कोष्ठकों में त्रिदेवों की स्थापना होती है । अपनी दैनिक पूजा घर के स्त्री-पुरुष पिमिराजन में ही सम्पन्न करते हैं । गाँव के त्रिदेव मन्दिरों की दैनिक पूजा उसके पमंकू (पुजारी) करते हैं, जो प्राय: स्थार्या रूप से मन्दिर के ही किसी कक्ष में रहते भी हैं । ग्रामवासियों का जमावड़ा इन मन्दिरों में प्राय: पर्वों अथवा मन्दिर के उत्सवों मे ही होता है । भारतीय मन्दिरों जैसी चहल-पहल इन मन्दिरों में नित्य नहीं होती ।

बाली के प्रत्येक पर्वतपर मन्दिर, प्रत्येक तीर्थस्थलपर मन्दिर, प्रत्येक गांव तथा प्रत्येक घर में मन्दिर ! मन्दिरों की संख्या भी तीन और प्रत्येक मन्दिर के वर्ष भर में दो महोत्सव ! अत: बाली द्वीप का प्रत्येक दिन मन्दिर-महोत्सवों का दिन होता है जिन्हें देखकर हिन्दू धर्म की जीवन्तता का प्रत्यग्र बोध होता है ।

नीरार्थ द्वारा निष्कल शिव की उपासना की प्रतिष्ठा के बाद ही बाली के मन्दिरों में शिवलिङ्ग अथवा प्रतिमा की उपासना की प्रथा बन्द हुई होगी । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बाली के मन्दिरों में मूर्तियाँ हैं ही नहीं । वस्तुत: धातु अथवा पाषण-निर्मित छोटी मूर्तियाँ सभी मन्दिरों में हैं । वे समस्त अलंकरणों (हार, अंगद, मुद्रिका, मुकुट आदि मूल्यवान् गहने) तथा वेशभूषाओं के साथ मन्दिर के एक विशिष्ट कक्ष में बन्द रहती हैं । मन्दिर-महोत्सवों तथा पर्वों पर ही उनका सार्वजनिक प्रदर्शन होता है । नववर्षारम्भ(न्येपी) से पूर्ववर्ती सप्ताह में इन प्रतिमाओं का गाजे-बाजे के साथ सागर जल से अभिषेक होता है । यह पूरा सप्ताह सम्पूर्ण द्वीप में आनन्द मंगल एवं उत्साह का क्षण होता है । चारों ओर नृत्य-गीत, शोभायात्रा, तथा घण्टा-घड़ियाल, गांग(पेलेगोंगन) की हृदयावर्जक ध्वनि होती है । सिंहासनपर स्थापित इन देवमूर्तियों को भक्तगण कन्धोंपर ढोते हैं ।

वैसाकीह मंदिर

इसप्रकार मूर्तियाँ मंदिरों में हैं, परन्तु भारतीय मंदिरों की तरह **व्यावहारिक** स्तरपर, जनसामान्यकी पूजा-अर्चा के लिये स्थापित नहीं हैं। व्यवहार में तो बस निर्गुणोपासना है। सर्वत्र प्रतीकात्मक पद्मासनों (पलिंगह अथवा देवपीठ) की स्थापना है। वैसाकीह मंदिर में तीनों पद्मासन (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) एक ही साथ स्थापित हैं। मूलत: यह मंदिर **पुरादलेम** (शिव) है। अत: इस मंदिर में त्रिदेवों का पलिंगह होना इस बात का द्योतक है कि ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र, एक ही अतिन्तिय-निष्कल शिव की तीन पृथक् अभिव्यक्तियाँ हैं। महामेरु के नाम से विख्यात बाली का सर्वोच्च पर्वत **गुनुग-अगुंग** (शिखर१०५६० फुट) बाली के धर्मग्रथों में संपूर्ण भूमण्डलका केन्द्रबिन्दु (पुसेह, नाभि) माना गया है। यह परमेश्वर शिव तथा इन्द्रादि देवोंका स्थायी-निवास तथा हिमालय के कैलास-शिखर जैसा ही पवित्र है। यहाँ महर्षि मार्कण्डेय तथा शिवगुरु (अगस्त्य) जैसे महर्षियों तथा कुतुरान (११ वीं शती) नीरार्थ (अन्य नाम द्विजेन्द्र, बहुराहु १६ वीं शती) सरीखे धर्माचार्यों ने घोर तप किया। इस पर्वत पर छोटे-बड़े प्राय २४ मंदिर हैं जिनमें वैसाकीह प्रमुखतम है। इसे **मदरटेंपुल** भी कहा जाता है क्योंकि संपूर्ण द्वीप की धर्मचेतना का यही मूल निस्यन्द है।

जब निष्कल अथवा निराकार शिव **सकल अथवा साकार** होते हैं, तब देवी उमा उनकी अर्धाङ्गिनी बनती है। देवी श्री तथा देवी सरस्वती विष्णु तथा ब्रह्मा की अर्धाङ्गिनी बनती हैं। सगुण रुद्रका संहारक रूप **भटारकाल** तथा देवी उमा का संहारक रूप **भटारी-दुर्गा** कहा जाता है।

महिषासुरमर्दिनी

डेनपसार (बाली-प्रान्तकी राजधानी) से गियान्याट नगरको जानेवाले मुख्य मार्ग पर प्राय: १८ कि.मी. दूर स्थित कुतरी गांव में महिषासुरमर्दिनी दुर्गा की एक अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक प्रतिमा अभी भी एक पहाड़ी पर स्थापित है। प्राय: ३५० खड़ी सीढ़ियों की चढ़ाई के बाद मैंने इस भव्य प्रतिमा के दर्शन किये। प्रतिमा

११वीं शती ई. की है तथा प्राय: आठ फुट ऊँची है । भगवती युद्धवेश में है तथा महिष की पीठ पर आरूढ़ है । यह देवी उमा का संहारक रूप है ।

साकेनान शिवालय

यद्यपि रक्षाबंधन, दशहरा, दीवाली तथा होली जैसे पर्व बालीद्वीपके हिन्दुसमाज में प्रचलित नहीं; राम-कृष्ण-हनुमान् भी आराध्यदेवता के रूप में यहाॅ मान्य एवं पूज्य नहीं, फिर भी बाली के अनेक पर्वों का सैद्धान्तिक सामञ्जस्य भारतीय पर्वों के साथ है । **गलुंगान** अधर्म पर धर्म की विजय के उपलक्ष्य में मन मनाया जानेवाला एक ऐसा ही दस-दिवसीय महोत्सव है । इसका अंतिम दिवस 'कुनिङ्गान' कहा जाता है । पिछले गलुंगानमे मैंने डेनपसारसे प्राय: आठ कि० मी० दूर समुद्र में उभरे एक नन्हें से गाँव की यात्रा की । यात्रा का उद्देश्य था इस गाँव में थित ऐतिहासिक **साकेनान-शिव मंदिर** का दर्शन करना । लोम्बोक, नूसापनीडा तथा सुम्बावा आदि द्वीपों के भी हजारों धर्म प्राण शिवभक्त इस अवसरपर भगवान् अर्धनारीश्वरके दर्शनार्थ सारंगान गाँवमें उपस्थित थे । प्रशान्तमहासागरका वक्ष भारीभरकम स्टीमरों तथा बालीद्वीपकी **गजहमीन** नामसे विख्यात हजारों लघु नौकाओंसे संकुल था । ऊपर उठे गजशुण्ड तथा मत्स्य-आकृतिवाली परस्पर जुड़ी ये जुड़वां नावे विद्युतगतिसे चलती हैं । सैकड़ों विदेशीपर्यटक मंदिरकी वेषभूषा पहने प्रांगणमें उपस्थित थे । बालीके किसी भी मंदिरमें सामान्य वेषभूषामें प्रवेशकर पाना सर्वथा असम्भव है । शुल्क देकर कार्यालयसे ये अंगवस्त्र प्राप्त किये जा सकते हैं । परन्तु बाली-द्वीपके दर्शनार्थी पर्वके दिन उसी वेषभूषामें रहते ही हैं— सिरपर एक विशेष प्रकारकी पगड़ी, कमरमें लिपटा **सारोंग** (बाटिक वस्त्रपट्ट लुंगी) तथा उसके ऊपर एक जरीदार वस्त्रपट्ट अथवा पेटी जैसा बाँधा अंगौछा । महिलाओंका भी यही वेष है, परन्तु वे पगड़ी नहीं पहनती ।

सर्वव्यापी शिव !

बाली-द्वीपका पूरा क्षेत्रफल **शिवमय** है । घर-घर, गाँव-गाँव तथा प्रत्येक तीर्थों में तो शिवमंदिर हैं ही, प्रत्येक बाजार, विद्यालय तथा संस्थानोंमें भी

अनिवार्यतः शिव मंदिर हैं । डेनपसार नगरसे सानुर समुद्र तटकी ओर जाने वाले मार्गपर फूलों तथा पौधों के अनेक विक्रयकेन्द्र (पसार-बुंगा) हैं ।

कार्यालय, डाकघर, बैंक, दूकान सर्वत्र शिवालय हैं ! उदयन विश्वविद्यालय तथा उसके विभिन्न **आश्रम पुत्री** (महिला-छात्रावास) आश्रम पुत्र (पुरुष-छात्रावास) में भी मंदिर-प्रांगण है, जिनमें शाम-सवेरे नियमित रूपसे धूप-नैवेद्य अर्पित किया जाता है । वस्तुतः पूजा उपासना बालीवासियोंकी आत्मिक-चेतनामें है । वे और कुछ करें या न करे, उपासना अवश्य करेंगे, छोटे या बड़े किसी भी स्तर की । भारतकी ही तरह बाली के समाजमें भी महिलाएँ पुरुषोंकी तुलनामें कहीं अधिक धर्मप्रवण हैं । पञ्चाङ्गों में उल्लिखित नाना प्रकारके धार्मिक शुभयोग अथवा शुभ-दिन (हरी राय सरस्वती, तुम्पक् वायांग आदि) इन महिलाओंको ही स्मरण रहते हैं, पुरुषोंको नहीं ।

भारतके साथ सुमात्रा, जावा तथा बाली द्वीपोंका सीधा सम्पर्क रहा है । जावाके केडू प्रांतमें बुकिरपहाड़ीपर बने भव्य शिवमंदिरका शिवलिङ दक्षिणभारत के 'कुञ्जरकर्ण' नामक स्थानसे लाया गया था, ऐसा उल्लेख मंदिर भित्ति में लगे, मतरामवंशीय हिन्दूनरेश सञ्जयके शिलालेखमें है । कलिङ, ओलक (वर्तमान तञ्जौर) आदि जनपदोंका उल्लेख भी एरलंगकी प्रशस्ति (११ वीं शती) में है जो सम्प्रति कलकत्ता संग्रहालयमें सुरक्षित है । इस प्रकार सुवर्णद्वीप तथा भारत के बीच व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संबंध प्राचीनकालमें ही दृढ़ हो चले थे । इसी संबंधके कारण भारत का सारा धर्म, दर्शन एवं आचार-विचार इन द्वीपों में सुगमता से स्थापित हो सका ।

परन्तु १५ वीं शती के अंतिम चरणतक सम्पूर्ण जावा तथा सुमात्राका इस्लामीकरण सम्पन्न हो जाने पर ये सम्बन्ध स्थगित हो गये । मध्यकालीन राम और कृष्णभक्तिका भारतीय-आंदोलन भी जावा तथा बालीतक नहीं पहुँच सका । राम एवं कृष्ण यदि बाली में **आराध्य-देवता** नहीं बन सके तो उसका कारण दोनों देशोंका यह सम्बन्ध विच्छेद ही था । चारों ओर मुस्लिम-राजसत्ता से घिरा, एकमात्र हिन्दूद्वीप बाली तभीसे अलग-थलग पड़ा है । बाली-द्वीपका हिन्दुत्व

अपनी अन्त: ऊर्जा से ही जीवित है जो उसे ईसाकी प्रथम सहस्त्ब्दीकी **विरासत** के रूपमें मिला है ।

शिवरात्रि पर्व बाली में भी है परन्तु यहाँ यह भारतीय शिवरात्रिसे प्राय: दो मास पूर्व ही मनाया जाता है । सारी रात ककवीन (काव्य) के पाठ अथवा वायांगकुलित (पुत्तलिकानाट्य) आयोजित होते हैं । भारतके परवर्ती व्रत, संस्कार, अनुष्ठान तथा तीज- त्यौहारसे एक है, जिसके ३० लाख निवासियोंमें प्राय: पञ्चानवे प्रतिशत लोग हिन्दू हैं । अन्यान्य द्वीपोंमें भी लाखों की संख्यामें हिन्दू हैं जो हजारों वर्ष पुरानी परम्पराओंको छाती से लगाये जी रहे हैं । पिछले दस वर्षोंसे बाली-प्रशासन **धर्मगीता** नामक एक चतुर्दिवसीय समारोह डेनपसारमें आयोजित कर रहा है जिसमें समस्त द्वीपोंके हिन्दू छात्र-छात्राएँ तथा प्राध्यापक आते हैं-धर्मग्रंथों से संस्कृत श्लोकोंका पाठ करने के लिए ! सबकी अपनी विशिष्ट शैली, वेषभूषा तथा उच्चारण विधि है ।

चतुर्थ अध्याय

आस्था से जुड़े हिन्दू-संस्कारों की भूमि

चीनी, भारतीय, अरबी तथा यूनानी स्त्रोतों से ज्ञात होता है कि ईसा की प्रारंभिक शती में ही भारतीय उपनिवेश सुवर्णभूमि (वर्मा), सुखोदय, द्वारावती अयोध्या (थाईलैण्ड) , लावदेश (लओस), कम्बुज (कंपूचिया), चम्पा (वियतनाम) कटाहद्वीप (मलेशिया) तथा सुवर्णद्वीप (जावा सुमात्रा बाली) में स्थापित हो चुके थे । रामायण, महाभारत अष्टाध्यायी, लंकावतारसूत्र तथा महावंश में इन द्वीपों का प्रभूत उल्लेख मिलता है । प्लिनी तथा टालिमी (द्वितीय शती ई.) ने अलबरुनी, हरकी तथा याकूत ने भी अपने विवरणों में इन द्वीपों में भारतीय संस्कृति के वर्चस्व को स्वीकार किया है । चीनी विवरण भी सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) में भारतीय राज्य का उल्लेख करते हैं, ईसवी चतुर्थ शती में ।

हिंदू उपनिवेशों की स्थापना के ही साथ प्राचीन भारतीय संस्कार भी प्रशांत महासागर के विभिन्न द्वीपों तथा दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में प्रतिष्ठित हुए । चंपा में यदि शैव धर्म की प्रधानता रही तो कंबुज में वैष्णवधर्म की । जावा में सम्राट् कृतनगर (१३वीं शती) ने **शिवबुद्ध** को अपना उपास्य । देवता घोषित किया मध्यजावा के शैलेंद्रवंशी अनेक शासक **हरिहरोपासक** थे । इस प्रकार मूल भारतीय शैव, वैष्णव एवं बौद्ध धर्म बृहत्तर भारत के इन उपनिवेशों में परंपरामुक्त वातावरण में एक नये रूप में विकसित हुए ।

भारतीय संस्कृति की इस यायावरी वृत्ति में कितने ही मूल हिन्दू संस्कार इन द्वीपों में स्थापित नहीं हो सके, कितने ही संस्कारों का आंशिक रूप में कायाकल्प

हो गया और कितने ही ऐसे संस्कार प्रतिष्ठित कर दिये गये स्थानीय धर्माचार्यों द्वारा, जिन्हें भारतीय स्मृतिकारों ने अपनी चिंतन परिधि में रखा ही नहीं था ।

१६वीं शती तक प्राय: इन समस्त हिंदू साम्राज्यों का इस्लामीकरण भी हो गया । १४७८ ई. के निर्णायक युद्ध में जावा का मजपहित साम्राज्य भी निश्शेष हो गया । जावा का हिंदू नरेश प्राण बचा क़र बाली द्वीप में भाग आया तथा गेल्गेल में उसने देव अगुंग के नाम से स्वंय को बाली का अधिपति घोषित कर दिया, तब से डचों की संप्रभुता (१९०६ ई.) स्थापित होने तक बाली सुदूर-पूर्व का एकमात्र हिंदू-द्वीप बना रहा ।

यद्यपि खड्ग एवं रक्तपात के जोर से इन द्वीपों में धर्म परिवर्तित हो गया, परंतु यहां के निवासियों की हिंदू जीवन पद्धति, लोकाचार तथा संस्कार समाप्त नहीं हो पाये । आज भी जावा के मुस्लिमों की व्यावहारिक जीवन पद्धति अरब राष्ट्रों जैसी नहीं है । उनके लोकाचारों और घर की परम्पराओं से लगता ही नहीं कि वे हिन्दू जीवन पद्धति से सर्वथा असंयुक्त हैं । पिछले आठ दस महीनों से दूरदर्शन पर प्रसारित सुमात्रा एवं जावा के अनेक **उपचारों** (संस्कारों) को देख कर मैं अपने गांव-गिरांव की लोकपरंपराओं का स्मरण करता रहा हूं । फसल के पकने पर क्षेत्रलक्ष्मी की पूजा, विवाह से पूर्व कन्या का नहछू-नहावन, विवाह में वर एवं वधू-पक्षों की ओर से अलंकृत शैली में काव्य- (शाखोच्चार !) पाठ, नवजात शिशु के अनेक संस्कार-सब मुझे भारतीय हिंदू संस्कारों से अभिन्न प्रतीत हुए !

संस्कारों की रंगस्थली : पुरा दद्या

परंतु बाली द्वीप की बात ही कुछ और है । बाली आज भी प्राय: शत-प्रतिशत हिंदू-द्वीप है । भारत से प्राप्त वैदिक-संस्कृति के अमूल्य रिक्थ को इस द्वीप ने अपने हजारों **तुतुर** (तत्त्व अथवा दर्शन) **किंडुंग** (तेंगहान छंदों में लिखित ककवीन-वाङ्-मय) तथा **गेगुरितान** (मचपत छंदों में लिखित बाली का विशुद्ध स्थानीय वाङ्मय) ग्रंथों में संजो रखा है । बाली के मंदिरों तथा पैंडंडा (धर्माचार्य) पमंकुओं (पुजारियों)

ने आज भी हिंदू-धर्म के व्यावहारिक-पक्ष को भारत की तुलना में कहीं अधिक जीवंत बना रखा है ।

बालीवासी महर्षि मार्कण्डेय एवं अगस्त्य (शिवगुरु) को इस द्वीप में हिंदू धर्म का आदि प्रचारक मानते हैं । बाली के महामेरु (माउंट अगुंग) पर मार्कण्डेय द्वारा स्थापित पंचदेव-मंदिर पर्वतशिखर के प्राय: पच्चीस मंदिरों में प्राचीनतम माना जाता है । माउंट अगुंग पर स्थित **वैसाकीह मंदिर** (मदर टेंपल) जो मूलत: **अतिंतिय** (अचिंत्य) परमेश्वर शिव का अधिष्ठान है, संपूर्ण द्वीप की धर्म-चेतना का मूलस्रोत है । इसमें शिव, ब्रह्मा तथा विष्णु के पद्मासन (पलिंगिह) एक साथ स्थापित हैं; जो इस आस्था के प्रतीक हैं कि भगवान् 'अतिंतिय' ही ब्रह्मशिव (ब्रह्मा) सदाशिव (विष्णु) तथा परमशिव (रुद्र) के रूप में विभक्त हैं ।

बाली के शैवधर्म का यह दार्शनिक पक्ष है कि समस्त सृष्टि के सर्वस्वभूत अचिंत्य शिव प्रथम चरण में स्वयं को त्रिदेवों में विभक्त करते हैं । व्यक्तित्व प्रचार के द्वितीय चरण में वही अचिंत्य शिव अनेक भटारों तथा भटारियों (देवियों) के रूप में बंट जाते हैं—भटार इंद्र, भटार गुरु, भटार वरुण, भटार कुमार (स्कंद) भटार गना (गण अथवा गणेश), भटार कबेर, भटार काल, भटार सेमारा (स्मर कामदेव), देवी श्री, देवी पर्तिवी (पृथ्वी), देवी रतिह, देवी उमा आदि ।

तीसरे चरण में आते हैं पितर अथवा संघयांग कवितान ! वस्तुत: ये अपने ही पिता, पितामह अथवा अन्य कुटुंबी हैं, जो मृत्यु के अनंतर भटारों के समाज में सम्मिलित हो गये हैं । पितर, देवत्व एवं मानवत्व के बीच **सोपान** (सीढ़ी) अथवा माध्यम का काम करते हैं । फलत: ये 'प्रथम देवता' के रूप में पूजित होते हैं । पूर्वमानव होने के कारण ये पितर अपने वंशजों के योग-क्षेम की चिंता में लगे रहते हैं ।

बाली द्वीप के प्रत्येक गाँव (देसा) में अनिवार्यत: चार मंदिर होते हैं—पुरा दलेम (शिव मंदिर), पुरा पुसेह (विष्णु मंदिर), पुरा देसा (ब्रह्मा मंदिर) तथा पुरा दद्या (पितर-मंदिर) प्रथम तीन मंदिर तो संपूर्ण ग्राम में एक-एक ही होते हैं, परंतु प्रत्येक

वर्ण (ब्राह्मण = ईदा बागुस, क्षत्रिय = जोकोर्दे आदि) का पुरा दद्या पृथक् होता है । सारे सामूहिक धर्मसंस्कार अथवा मंदिर-महोत्सव तो शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा के मंदिर में संपन्न होते हैं, परंतु समस्त वैयक्तिक कुटुंब-संस्कार पितरों के मंदिर में किये जाते हैं ।

प्रायः पुरा दद्या (क्लॉन टेंपल) के समारोहों अथवा संस्कारों में उसी वर्ग के लोग भाग लेते हैं जिनका वह होता है । हर एक पितर-मंदिर के पृथक् पुरोहित होते हैं, जो समस्त संस्कार-विधि को संपन्न कराते हैं । त्रिदेव-मंदिरों की सारी व्यवस्था बंजार (ग्रामसभा जैसी प्रत्येक गांव की संस्था) के कपाल (प्रमुख) द्वारा चंदे की धनराशि से अथवा मंदिरों के नाम लगी जमीन की आय से की जाती है । परंतु पुरा-दद्या की सारी व्यवस्था वर्गविशेष के अर्थ-सहयोग से पूर्ण होती है ।[१]

मेतलूबुलानः मेविन्तेन !

बाली द्वीप की राजधानी डेनपसार से उत्तर में प्रायः १५ कि.मी. दूर सड़क पर ही मेरे मित्र वायान रेदिग का गाँव है— शिवांग ! विगत ४ फरवरी (१९८८ ई०) को रेदिग के पुरादद्या में दो पारिवारिक हिंदू संस्कार सामूहिक स्तर पर आयोजित किये गये थे, जिनका प्रत्यक्ष आनंद लेने के उद्देश्य से मैं अपराह्न दो बजे शिवांग पहुंच गया ।

---

१. भारत में षोडश संस्कारों का प्रचलन है । यद्यपि बालीद्वीप में भी ये ही संस्कार प्रतिष्ठित है, परन्तु थोड़े परिवर्तित रूप में । वस्तुतः बालीद्वीप में सम्प्रति कुल १२ संस्कार प्रतिष्ठित हैं, जिनके नाम हैं – उपचार मेगेडोंग गेडोङ्गन्, (गर्भाधान), उप. केपुस पुम्सेद (नाभिच्छेद) उप. पेचोलागान (नामकरण) , उप. मतलूबुलान मविन्तेन (परिशुद्धि), उप. ओटोनान (जन्मदिवस) ,उप. मेटाटाह अथवा पेटोंग गिग्गी (दन्तशोधन) , उप. नुतुग् केलिह अथवा रेजासावाला (रजोदर्शन), उप. पविवाहान (पाणिग्रहण), उप. ङ्गाबेन (दाहकर्म), उप. ङ्गेरोरसिन (एकादशाह), उप. मोमुकुर (श्राद्ध) तथा उप. मलिगिया (पितृस्थापना) बालीद्वीप में संस्कार को उपचार कहा जाता है । उपर्युक्त बारह संस्कारों में प्रथम आठ तो मनुष्ययज्ञ के अंशभूत हैं, शेष चार पितृयज्ञ के । इन बारहों में भी अनिवार्यतः सम्पादनीय संस्कार मात्र चार हैं—मेतलूबुलान, मटाटाह, पविवाहान तथा मोमुकुट ।

पहला संस्कार था—शुद्धीकरण ! नवजात शिशु के तीन महीने के होते ही यह संस्कार संपन्न हो जाना चाहिए । स्थानीय बाली भाषा में इसे मेतलूबुलान कहते हैं । परंतु यही परिशुद्धि-संस्कार यदि युवकों अथवा युवतियों का हो तो उसे मेविंतेन कहते हैं । विवाहित अथवा अविवाहित का कोई नियम अथवा बंधन नहीं है । जैसे मनुस्मृति आदि में ब्राह्मण, क्षत्रियादि शिशुओं की उपनयन आयु का स्पष्ट निर्देश है, परंतु व्यवहार में उसका पालन नहीं होता, ठीक वही स्थिति बाली में भी है । पुरोहित की दक्षिणा, पुरा दद्या की साज-सज्जा तथा संस्कार की औपचारिकताओं की पूर्ति के व्यय से भयभीत कोई ग्रामवासी अकेले अपने बच्चे का मेतलूबुलान नहीं संपन्न करा पाता । अत: बच्चे तीन महीने की लक्ष्मण-रेखा लांघ कर, तीन वर्ष के भी हो जाते हैं । इसी प्रकार नियमत: युवकों, युवतियों का भी मेविंतेन विवाह से पूर्व ही हो जाना चाहिए, परंतु इसी आर्थिक प्रपंच के कारण वे भी विवाहोपरांत अथवा एक-दो बच्चों के बाप बन जाने पर परिशुद्धि करा पाते हैं ।

वायान रेदिग ने एक वस्त्रालंकारभूषित मित्र से परिचय कराया । उनकी गोद में एक सुदंर कन्या भी थी । बाप और बेटी दोनों मेविंतेन तथा मेतलूबुलान के लिये पुरादद्या में उपस्थित थे । इस विचित्र संयोग का आनंद लेते हुए हम लोग खूब हंसे, वे स्वयं भी हास-परिहास में डूबे थे ।

यह तो हुई शास्त्रीय व्यवस्था की बात , परंतु कभी-कभी अवसर का लाभ उठा कर अन्यान्य धर्मभीरु एवं आस्थालु वृद्धजन भी मेविंतेन में शामिल हो जाते हैं यह सोच कर कि इसी बहाने पुरोहित द्वारा मंत्र प्रयोग से निर्मित किये गये अमृत से उनका भी अभिषेचन हो जायेगा । परंतु कभी-कभी यह साहस एक विचित्र संदेह को जन्म देता है । यदि वह प्रौढ़ या वृद्ध व्यक्ति धर्मप्रवण है, श्रद्धेय है, सत्पात्र है तब तो ग्रामवासी उसके स्वैच्छिक मेविंतेन को प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं, अन्यथा कानाफूसी होने लगती है कि निश्चय ही इसने कोई दुष्कर्म किया है, जिससे मुक्ति पाने के लिये परिशुद्धि करा रहा है । लोकाराधन विश्व के किसी भी अंचल में सरल अथवा सहज नहीं है ।

संस्कार पुरोहित-पत्नी को कराना था, क्योंकि पुरोहित जी की कुछ वर्ष पूर्व मृत्यु हो चुकी थी । वायान रेदिंग ने बताया कि पुरोहितानी जी अपने पति की तरह विद्वान् नहीं है । फिर भी पति की सारी कर्मकांडीय दक्षता पर उनका पूर्ण अधिकार है । मंत्रोच्चारण, मंत्रों का क्रम, हस्तमुद्राएं, तांत्रिक क्रियाएं तथा पुरादद्या में संपन्न होनेवाले समस्त गृह-संस्कारों का पारंपरिक विधान उन्हें कंठस्थ है । उनकी बेटी तथा दामाद सारे कर्मकाण्ड में उनकी सहायता करते हैं । पौरोहित्य के आनुवंशिक होने के कारण यह सामाजिक दायित्व उन्हें निभाना ही है ।

पुरा दद्या है क्या ? मैंने रेदिग से अर्थ पूछा, परंतु वे मौन रहे । तभी मेरे मन में आया कि हो न हो यह संस्कृत का दायाद शब्द है, जो अपभ्रंश रूप में **दद्या** बन गया है । दायाद का अर्थ होता है वंशज, उत्तराधिकारी, पितृपरंपरा ! अत:दायादों के मंदिर का अर्थ हुआ —पितरों एवं उनकी संततियों का मंदिर ! प्राचीन बाली (ओल्ड बालीनीज) तथा प्राचीन जावी(ओल्ड जावानीज अथवा कवि भाषा) भाषा में प्राय: ८० प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं । तत्सम एवं तद्भव शब्दों की भरमार है जैसे— सौडाराह (सहोदर, मित्र), सेंडी (संधि), मुका (मुख), बुडया (अभ्युदय), मेतेरी (मंत्री) आदि । रेदिग को मेरी व्याख्या एकदम सार्थक एवं सटीक लगी ।

संपूर्ण मंदिर की पारंपरिक शैली में साज-सज्जा की गयी थी । अलंकरण के अनेक पदार्थ तो मंदिर की स्थायी-संपत्ति थे, परंतु अनेक अन्य वस्तुएं गृहस्थों द्वारा समारोह मात्र के लिये भेंट दी गयी थीं । जैसे जरी के काम से भरेपूरे नाना प्रकार के वस्त्र, पौराणिक चित्रों से अलंकृत कलश, चांदी की तश्तरियाँ, नैवेद्य पात्र, सोने-चांदी के तारों से कढ़े हुए वस्त्रनिर्मित बंदनवार ।

सारा मंदिर ध्वजों एवं रंग-बिरंगे छत्रों से युक्त था । मंदिर प्रांगण के समस्त पलिगह (देवपीठ) विशेष रूप से अलंकृत थे । पितर-मूर्ति, प्रवेश द्वार के समक्ष ही एक भव्य पीठ पर स्थापित की गयी थी । इसे समारोह के अवसर पर ही मंदिर-कक्ष के बाहर निकाला जाता है । विशाल नाग पर आसीन यह पित्तर मूर्ति मात्र छह इंच ऊँची थी ।

प्रांगण में दो अन्य प्रमुख पलिंगह थे, एक भटार आदित्य का और दूसरा कुलमातृका का। भटार आदित्य का लघु चैत्य एक कच्छप की पीठ पर निर्मित था; जिसके चारों पैर मंदिर-वेदी के चारों कोनों में तथा विशाल मुंह सम्मुख भाग के वीचोंबीच प्रत्यक्ष दीख रहा था। भारत की ही तरह बाली में भी भटार आदित्य सर्वदेवात्मक माने जाते हैं। अतः त्रिदेव के बाद यदि बाली के मंदिरों में किसी देवता की प्रतिष्ठा है, तो केवल सूर्यदेवता की ही। यद्यपि बाली के गाँवों में हरी-भरी फसलों के बीच भी छोटे मंदिर सरलता से देखे जा सकते हैं, जो कि कृषि-देवता, देवी श्री एवं जल-देवता देवी दनु के पलिंगह हैं, परंतु उनका महत्त्व दूसरी दृष्टि से है। उत्तरी भारत के डीहों की तरह अन्न-जल की देवी होने के कारण श्री और दनु आंचलिक देवता की कोटि में आती हैं। परन्तु पितरों के मंदिर में स्थापित भटार-आदित्य त्रिदेवों का प्रतिनिधि है।

केले के सुनहरे छिलकों पर हरी-भरी पत्तियों के अलंकरण टांकते हुए बाली के कलाकार इतने सुंदर एवं भव्य बंदनवार बनाते हैं कि देखते ही बनता है। ऐसी ही अद्‌भुत चित्रकारी हरे बांसों पर भी की जाती है। केले के छिलकों पर रंग बिरंगे फूलों एवं पत्तियों की कसीदाकारी ऐसी प्रतीत होती है मानो गजदंत-फलक पर किसी चतुर शिल्पी द्वारा चित्ररचना की गयी हो। घर-घर में महिलाएं, छोटी बच्चियाँ तक इन मंगल-अलंकरणों के निर्माण में दक्ष होती हैं। बात भी करती जाती हैं और सधे हाथों से तोरणाभूषण भी बनाती जाती हैं। प्रत्यक्ष देखकर ही इस कला की सूक्ष्मता एवं भव्यता का मूल्यांकन किया जा सकता है।

संस्कार का समय अपराह्न दो बजे था, लेकिन अब साढ़े तीन बजने को आ रहे थे। सारा मंदिर-प्रांगण दर्शकों से भर गया था, मेतलूबुलान के प्रत्याशी असमर्थ शिशुओं को राजसी वेष-भूषा में सजाये तथा गोदी में लिये, विविध वय की माताएं अधीर हो रही थीं, कुछ की गोदों में पहलौटी प्रणयोपहार थे। बड़ी-बूढ़ी महिलाएं उनको कुछ अधिक ही दुलार-पुचकार रही थीं। जो बच्चे **बकैया** चलने लगे थे वे जमीन पर उतरने के लिये मचल रहे थे। जो उनसे भी अधिक समर्थ थे, वे

स्वच्छन्दतापूर्वक हमजोलियों के साथ फिरंट हो रहे थे, बेचारी माताएं उन्हें बहोरने में ही क्षीण हो रही थीं।

वात-रथ पर आसीन ऋग्वेद के मंत्र !

भद्रपुरुषों की सारी भीड़ मेरे इर्द-गिर्द इकट्ठी थी। वायान रेदिग की तरह मैं भी मंदिर की पारंपरिक वेशभूषा में था। हर नवागंतुक मेरा परिचय जानने को उत्सुक था। रेदिग बेचारे बार-बार विभिन्न प्रकार से परिचय देते-देते थक गये थे। दो घंटे पुरानी मैत्री के कुछ तेज-तर्रार लड़के मुझसे खालिस्तान, इंदिरा गांधी, जनता पार्टी और तमिल-समस्या के बारे में पूछने लगे थे। रेदिग दुभाषिये की भूमिका निभा रहे थे। तभी प्रसंग आ गया भारत के मंदिरों की पूजाविधि का।

बाली के पैडंडा भी मूल संस्कृत-मंत्रों का प्रयोग करते हैं, परंतु बहुत कम, उनका अधिकांश कर्मकांड मूल संस्कृत के बालीनीज रूपांतर पर आधारित हैं। संस्कृत का उच्चारण भी इतना विलक्षण एवं खींचतान से भरा है कि सामान्यत: समझ में नहीं आता। हम लोगों की तरह स्पष्ट उच्चारण बालीवासी नहीं कर पाते। रेदिग इससे पूर्व भी गांव के पुरा दलेम में मेरा वैदिक शांतिपाठ सुन चुके थे। उन्होंने उसकी पुनरावृत्ति के लिये आग्रह किया और मैंने तन्मयता के साथ प्रारंभ कर दिया—स्वस्त्ययन ! वैदिक मंगलाचरण के बाद मैंने भगवती परांबा का क्षमायापन-स्तोत्र तथा रावण-प्रणीत शिवतांडवस्तोत्र का सस्वर पाठ किया। मंदिर का सारा कुहराम शांत हो गया। समझा तो किसी ने कुछ नहीं, फिर भी देववाणी की मधुरिमा एवं संप्रेषणीयता के चुंबकीय आकर्षण ने सबको मानो आत्मलीन कर लिया था।

बाली द्वीप के मुक्ताकाश में देवभाषा के अक्षर विहंगों को उड़ा कर मैंने अपने प्रवास की सार्थकता अनुभव की। रेदिग के ७० वर्षीय पिताश्री गद्गद हो उठे थे। मुझ जैसे विचित्र पाहुन के कारण रेदिग-परिवार की प्रतिष्ठा मानो शिवांग गांव में कुछ ऊँची चढ़ गयी थी। यूं भी उदयन यूनिवर्सिटी में उत्खननशास्त्र का युवा प्राध्यापक होने के कारण रेदिग के प्रति समस्त ग्रामवासियों का सहज स्नेह एवं

वात्सल्य है, फिर भी मेरी मैत्री ने उनकी साख को कुछ और पुष्ट कर दिया था। शिवांग की यह मेरी तीसरी यात्रा थी, सारे ग्रामवासी मुझे जानने-पहचानने लगे थे, परंतु आज उन्होंने मेरा एक और रूप देखा था। फलतः मेरे प्रति भी सबका स्नेह बढ़ गया था।

दूध-दही का प्रचलन नहीं

तभी, मंदिर के प्रबंधक बिना दूध (सुसु) की कॉफी तथा बालीनीज केक ले आये। बाली में दूध-दही, घी का कतई प्रचलन नहीं है। प्रक्रिया समझाने पर भी दही एवं घी का अस्तित्व-बोध रेदिग के पल्ले नहीं पड़ा। यहां गायें हल खींचने के काम आती हैं, यह जान कर मन व्यथित हो गया। उनका थोड़ा बहुत दूध केवल बछड़े पीते हैं। ये नीलगाय जैसी आकृति की तथा हृष्ट-पुष्ट होती हैं, परंतु दुधारू नहीं।

प्रतीक्षा की घड़ियां समाप्त हुई। पुरोहितानी पूरी मंडली के साथ आ गयीं। पान का बीड़ा मुँह में रखा, बाल संवारे और मंदिर-द्वार से सटे बरामदे में मंच पर बैठ गयीं। चूंकि अशुद्ध लोगों की शुद्धि होनी थी, अतः यह संस्कार पवित्रता की दृष्टि से प्रांगण के बाहर ही संपन्न होना था। काले कपड़े की पट्टी में लिपटा, पच्चीसों रुद्राक्ष, स्फटिक एवं मूंगों की मालाओं से अलंकृत, सित-उष्णीष युक्त महिला पैंडंडा का व्यक्तित्व अत्यन्त भव्य प्रतीत हो रहा था।

संस्कार की क्रियाएं प्रारंभ हो गयीं आत्मशुद्धि, वातावरण-शुद्धि, देवताओं का आवाहन, नवग्रह-पूजा, स्थानीय देवों की पूजा, पितृदेवता का आवाहन और अनेक तांत्रिक क्रियाओं द्वारा साधारण जल का अमृतीकरण करने के लिये। दो सहायक पुरोहित महिलाएं हाथों में क्रमशः मुर्गी एवं बत्तख थामे हुई थीं। इनमें भी मंत्रों द्वारा देवत्व एवं शुचिता की स्थापना की गयी। अब समस्त महिलाएं अपने मेतलूबुलान-प्रत्याशी बच्चों को गोदी में लिये मुख्य पूजामंडप में गड़े स्तंभ के चारों ओर प्रदक्षिणा करने लगीं। प्रत्येक प्रदक्षिणा की पूर्ति होते ही, बच्चे के ऊपर

अमृतजल छिड़का जाता था तथा दोनों पक्षियों के चंचुपुटों से उनका भाल-स्पर्श कराया जाता था।

प्रदक्षिणाओं की पूर्ति के बाद प्रत्येक शिशु के बाल का कुछ अंश काटा गया और उसकी मां को दे दिया गया। यह भारतीय चूड़ाकर्म जैसा संस्कार था। मेतलूबुलान की समाप्ति के तत्काल बाद ही युवकों-युवतियों का मेविंतेन प्रारंभ हो गया। सब कुछ ऊपर से बड़ा नाटकीय-सा प्रतीत हो रहा था, परंतु मैं इन संस्कारों की सूक्ष्म अथवा आत्मिक प्रभविष्णुता पर विचार करने लगा था। इस बाह्य कर्मकांड के भीतर समाहित था वह महान् लक्ष्य, जो सच्चे अर्थों में धर्म का स्वरूप हैं— तन, मन और वचन की शुद्धता।

शुद्धि—शारीरिक और मानसिक

इस शुद्धि के दो पक्ष हैं— शारीरिक एवं मानसिक। मां के पेट से उत्पन्न शिशु की परिशुद्धि प्राय: प्रत्येक धर्म एवं संप्रदाय में विहित है। गर्भाशय की बंद दीवारों में विकसित शिशु को बाह्य जगत् की प्रकृति के अनुरूप होने के लिये, उसकी शरीर-शुद्धि होंनी अनिवार्य है। फलत: गर्म जल से बच्चे का स्नान, नखनिकृंतन, क्षौरकर्म आदि किया जाता है, ताकि उसके अंगों का विकास, केशों की वृद्धि, नेत्रों की ज्योति अब प्रकृति के प्रभाव में संतुलित रूप से संपन्न हो।

परंतु युवकों, युवतियों तथा अन्य आस्थालु व्यक्तियों के लिये मेविंतेन की सार्थकता मानसिक शुद्धता में है। यौवन की दहलीज पर पांव रखते ही मन विकारग्रस्त होने लगता है। ये विकार नाना प्रकार के हैं। अत: इनसे मुक्ति पाना तथा भविष्य में किसी ऐसे विकार को मन में न आने देने का देवसाक्षिक संकल्प लेना ही मेविंतेन की मूल अवधारणा है। एक बार पवित्र किये गये मन में भला कौन पुन: अपवित्रता भरना चाहेगा ? अत मेविंतेन भावी विकारों का अवरोधक भी है।

इस परिशुद्धि के बाद भी यदि विकार (अनृतभाषण, अहितचिंतन, उन्मुक्त यौनाचार आदि) मन या शरीर में आ ही जायें तो व्यक्ति स्वेच्छया अपना मेविंतेन

कराने के लिये स्वतंत्र है। मन एवं शरीर यदि सर्वथा विकारहीन भी हों तो भी तेजस्विता एवं पवित्रता की वृद्धि के लिये बार-बार मेविंतेन संपन्न कराया जा सकता है। मूल लक्ष्य है– मन, वाणी एवं कर्म की पवित्रता, बाली के हिंदुओं का यह लोकवेदाश्रित संस्कार शिवसंकल्पसूक्त की देशना के सर्वथा अनूकूल है—तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु।

मेटाटाह अथवा दंतशोधन संस्कार

दूसरा संस्कार था मेटाटाह जिसे मैंने दंतशोधन नाम दिया है। बाली के प्रबुद्ध समाज में इसे टूथ फिलिंग सेरमनी कहते हैं। भारत के किसी भाग में यह हिंदू-संस्कार प्रचलित हो, ऐसा मुझे तो नहीं ज्ञात है। परंतु इसके उद्देश्य ने मुझे अत्यंत प्रभावित किया।

मेटाटाह संपूर्ण जीवन में मात्रं एक बार होता है। धार्मिक व्यवस्थानुसार विवाह से पूर्व ही युवक एवं युवतियों की टूथ फिलिंग हो जानी चाहिए, परंतु इस नियम में अब शिथिलता आ गयी है। विवाह के बाद भी लोग दंतशोधन कराते रहते हैं।

दंतशोधन कराने वाले युवक तथा युवतियां अत्यन्त भव्य पारंपरिक वेष में आते हैं। महिलाएं जरीदार वस्त्रों का लहंगा तथा सिर पर सुवर्णपत्रों से निर्मित मुकुट पहनती हैं। उनके वक्ष परभी जरी के कामवाला एक फेंटा, बाहुमूल से नितंब भाग तक अद्‌भुत कलामय शैली में लिपटा रहता है। संपूर्ण नारी प्रतिमा **कनक छरी सी कामिनी** प्रतीत होती है। बाली द्वीप की कन्याओं का वर्ण यूं भी सुवर्णचंपा जैसा ललछौंह-गौर होता है। उस नैसर्गिक रूप-वैभव के साथ, इस शाही वेष-भूषा का मणिकांचन संयोग दर्शक की दृष्टि बांध लेता है। युवक गण भी बाली की समारोह-वेषभूषा में रहते हैं, लुंगी के ऊपर अलंकृत वस्त्रपट्ट, कमर में फेंटा तथा सिर पर जरीदार पगड़ी।

मेटाटाह में **लेडीज फर्स्ट** की सुविधा है। युवती एक काष्ठफलक पर उत्तान-मुद्रा में लेट जाती है। पुरोहित एक विशेष प्रकार के चिकने पत्थर का टुकड़ा

ऊपर तथा नीचे की दाढ़ों के बीच स्थापित कर देता है ताकि मुंह आसानी से खुला रहे। इसके बाद वह एक महीन रेती से ऊपर तथा नीचे के छह दांतों को हल्का सा छील कर उन्हें सुडौल बना देता है। संस्कार संपन्न होते ही युवती उठती है और पानी की कुल्लियों से मुंह साफ कर लेती है। सचमुच वह सुदती प्रतीत होने लगती है।

इस प्रकार मेटाटाह का एक प्रत्यक्ष उद्देश्य तो है दंतपंतियों को सुंदर बनाना। परंतु इसका दार्शनिक पक्ष और भी अधिक सुंदर है। मनुष्य की दंत-पंक्ति में आगे के छह दांत (मोलर, प्रिमोलर तथा केनाइन टीथ) बाली की आगम-परंपरा मे षड्रिपुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, असूया, ईर्ष्या) के प्रतीक हैं। शोधन से पूर्व वे हिंस्र-पशुओं अथवा दानवों के दांत कहे जाते हैं। इनके शोधन का अर्थ है— षड्रिपुओं का शोधन, हिंस्र एवं दानवी प्रवृत्तियों का त्याग। अतःपूर्ण एवं आर्जवशील मनुष्य बनने के लिये मेटाटाह संस्कार होना अनिवार्य है।

पंचम अध्याय

बालीद्वीप की साहित्यिक विरासत

एच्. कर्न, सी. हुक्कास, जुइनबाल, थ्योडोर पिगॉड आदि पाश्चात्य तथा **आर. गोरिस** एवं **पर्वतजरक** सरीखे जावी विद्वानों ने एकमत से यह तथ्य स्वीकार किया है कि सुवर्णद्वीप (जावा तथा बाली) में लेखनकला भारत से ही आयी। पश्चिमी जावा में **सञ्जय** द्वारा भारतीय -साम्राज्य की स्थापना से पूर्व यवद्वीप का अपना कोई लिखित वाङ्मय नहीं था। न जावा की अपनी कोई साहित्यिक भाषा थी, न ही अपना कोई देवशास्त्र। फलत: देववाणी संस्कृत एवं स्थानीय जावी बोली को मिश्रित कर विद्वान् पंडितों ने एक प्रौढ साहित्यिक भाषा का निर्माण किया, जिसे **कवि** कहा गया। यह संस्कृत के ही समान सौशब्द्य एवं अर्थगाम्भीर्य का वहन करने में समर्थ भाषा थी। इसी भाषा में ईसा की प्राय: आठवीं शती से २०वीं शती के प्रारम्भिक चरण[१] तक जावा तथा बाली में उत्कृष्ट कोटि के अपार वाङ्मय की सर्जना हुई। कवि भाषा को ही डच विद्वानों ने ओल्ड जावानीज (Old Javanese) नाम दिया है।

वस्तुत: जावी कवि भाषा के दो रूप हैं–हिन्दुसाम्राज्ययुगीन कवि भाषा, जिसमें स्थानीय जावी के साथ एकमात्र संस्कृत शब्दावली तथा संस्कृत छन्दों का वर्चस्व रहा। दूसरा, सल्तनतकालीन (१५वीं शती ई. में जावा का इस्लामीकरण होने के बाद) कवि भाषा, जिसमें संस्कृत के स्थान पर अरबी-फारसी शब्दावली का

---

१. २० सितम्बर १९०६ ई. के डेनपसार (बाली की राजधानी) के भीषण 'पुपुतान' (आत्माहुति) युद्ध के अनन्तर बालीद्वीप पर अन्तिम रूप से डचों का प्रभुत्व स्थापित होने तक।

वर्चस्व रहा। डच विद्वान् इन्हीं दोनों को क्रमशः प्राचीन जावी (Old Javanese) तथा नव्यजावी (New Javanese) कहते हैं। सल्तनत युग के कवियों तथा लेखकों ने प्राचीन कवि भाषा की भावसंपदा तथा मञ्जुलपदशय्या के समक्ष अपनी भाषा को 'हीनगुण' अनुभव करते हुए, बड़ी ईमानदारी से **'कविमिरिंग'** (Kavi Miring) अर्थात् अधःस्तरीय कवि भाषा कहा। कुछ सल्तनतकालीन साहित्यकारों ने अपनी काव्य भाषा को **'जर्वा'** अथवा **'सजर्वा'** भी कहा। वस्तुतः सजर्वा संस्कृत शब्द *सार्जव* है। जिसका अभिप्राय है- आर्जवयुक्त जावी भाषा, सीधी-सादी कवि भाषा (Sloping kavi)।

प्राचीन कवि भाषा में अस्सी प्रतिशत रचनाएं तो संस्कृतमूलक हैं। संस्कृतमूलक ये रचनाएं भी तीन प्रकार की होती हैं: १. संस्कृत ग्रन्थों का अविकल अनुवाद २. संस्कृत कृतियों की पुनः प्रस्तुति (Reproduction) ३. संस्कृत-कथानकों के आधार पर सर्वथा मौलिक ग्रंथसर्जना।

महाभारत के ९ पर्वों का (आदि-विराट-उद्योग-भीष्म-स्त्री-आश्रमवास-मुसल-प्रास्थानिक एवं स्वर्गारोहण) गद्यानुवाद मतराम नरेश **धर्मवंश** (९९०-१००७ ई.) तथा उसके जामातृ उत्तराधिकारी **एरलंग** (१०१०-४९ई.) के शासनकाल में सम्पन्न हुआ।

वाल्मीकीय रामायण, **कालिदास**प्रणीत *रघुवंश* एवं *कुमारसंभव*, **भारवि**-प्रणीत *किरातार्जुनीयम्* आदि महाकाव्यों की प्राचीन कवि भाषा में पुनः प्रस्तुति हुई। परन्तु अनेक संस्कृत कथानकों पर सर्वथा मौलिक रचानायें भी हुई जैसे -बौद्ध सुतसोम जातक के आधार पर **महाकवि तन्तुलर** द्वारा १४वीं शती. ई. में *सुतसोमककविन्* का प्रणयन। सल्तनतयुगीन कवियों (सिन्धुशास्त्र, यशादिपुर प्रथम, यशादिपुर द्वितीय, पाकुभुवन आदि) ने भी अनेक प्रख्यात प्राचीन महाकाव्यों को नव्य जावी में नये सिरे से लिखा। जैसे—**यशादिपुर** प्रणीत *सीरतकाण्ड* (रामायणककविन्) तथा व्रतयुद (प्राचीन सेडाहप्रणीत भारतयुद्ध) **सुल्तान पाकुभुवन** प्रणीत *मिन्तराग* (प्राचीन अर्जुनविवाहककविन्) आदि।

शैली की दृष्टि से जावा तथा बाली का सम्पूर्ण वाङ्मय (प्राचीन एवं नव्य जावी) दो प्रकार का है—काण्ड (पद्य) एवं पर्व (गद्य) काण्ड के अन्तर्गत **ककविन्** (काव्य) आते हैं तथा पर्व के अन्तर्गत **तुतुर** (= तत्त्वग्रन्थ, शास्त्र) **पाकिम**(रंगमञ्चीय ग्रन्थ) तथा **बाबद** (इतिहास) की गणना है । उपर्युक्त शीर्षकों के अन्तर्गत प्रणीत ग्रन्थों की संख्या इतनी भूयसी तथा गुणवत्ता इतनी उत्कृष्ट है कि उसे किसी भी प्रकार संस्कृत से हीन नहीं माना जा सकता ।

छन्द की दृष्टि से जावा तथा बाली का वाङ्मय त्रिविध हैः—

१. **ककविन्** - जो प्राचीन (संस्कृत) छन्दों-इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वंशस्थ , स्रग्धरा आदि में लिखा गया है । यह वाङ्मय मात्र प्राचीन जावी भाषा का है । अर्थात् हिन्दूसाम्राज्य में प्रणीत ।

२. **किडुङ्ग**—जोकि तेगंहान छन्दों में लिखा गया है । तेगंहान का अर्थ है मध्यम । सल्तनतकालीन कवियों ने भी अपनी काव्य-सर्जना में प्रयोग तो किया प्राचीन संस्कृत-छन्दों का ही, परन्तु छन्दश्शास्त्र से अनभिज्ञ होने के कारण वे उसका शुद्ध प्रयोग नहीं कर सके । फलत: आत्मप्रयुक्त प्राचीन संस्कृत-छन्दों को उन्होंने तेगंहान की संज्ञा दी ।

३. **गेगुरितान्– गुरित** क्रिया का अर्थ है वर्णन करना (To describe) । अत: गेगुरितान का अर्थ है —सम्यग् वर्णन । यह साहित्य जावा तथा बाली के स्थानीय छन्दों में लिखा गया है, जिन्हें *मचपत* कहते हैं । *मचपत*(मूलशब्द मञ्चपत) का अर्थ है- चार मित्र ! इस प्रकार इस शब्द का लाक्षणिक अर्थ है घरेलू अथवा गृहनिर्मित छन्द । वस्तुत: स्रग्धरा सरीखे भारी भरकम छन्द, नवयुगीन मुस्लिम कवियों के लिये दुस्साध्य थे । फलत: वे *तेम्बाङ्ग गिडे* (दीर्घवृत्त, Great verse) के स्थान पर *तेम्बाङ्ग चिलिक*(लघुवृत्त, Small verse) का अन्वेषण कर रहे थे ।

इस अन्वेषण की ही परिणति *मचपत* छन्दों के रूप में प्रकट हुई । ये एक प्रकार से सुवर्णद्वीप के देशी छन्द थे, जिनके बीज लोकगीतों (Pantum) तथा बच्चों की लोरियों में विद्यमान थे । मचपत छन्दों में चरणों (कम से कम चार,अधिक

अग्निक दश) तथा चरणाक्षरों (तीन से बारह अक्षर) को व्यवस्थित करने की स्वतंत्रता थी।

इन्हीं मचपत छन्दों में प्रणीत काव्यवृत्ति को **गेगुरितान** कहा गया। मचपत छन्दों की संख्या १५ है, जिनमें प्रमुख हैं – *गिनड, सिनोम, कुमम्बड़, देमुङ्ग दुर्म, सेमरन्दन, डण्डङ्ग गुल, पंगकुर तथा गम्बूह।*[१]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है १४७८ ई. में हुए मुस्लिम आक्रमण से भयभीत होकर मजपहितवंशी जावा-नरेश अपने कुटुम्ब तथा सामन्तों के साथ अपने ही अधीनस्थ राज्य बालीद्वीप में भाग आया और द्वीप के पूर्वभाग में स्थित गेल्गेल नगर में उसने स्वयं को **देव अगुंग** के नाम से बाली का शासक घोषित कर दिया। आगे भी इस वंश के सभी नरेश अपनी उपाधि **देव अगुंग** (श्रेष्ठ नरपति) ही लिखते रहे। १६वीं शती ई. में इसी बंश का नरपति हुआ– **बाटु रेगांग**, जिसके शासनकाल में हिन्दू धर्म, साहित्य तथा संस्कृति की अभूतपूर्व पुनर्व्यवस्था हुई। प्राचीन ककवीनों के शुद्ध पाठ तैयार किये गये तथा नई सर्जनाएं भी हुईं। **थ्योडोर पिगॉड** ने ठीक ही समीक्षा की है –

In Bali, up to the end of the nineteenth century authors took a pride in their ability of writing Javanse-Balanese epic poems in Indian metres.

– Literature of Java p. 16.

१६वीं से १९ वीं शती के तीन सौ वर्षों में बाली के **देव अगुंग** के संरक्षण में जावी साहित्य की परम्परा का अद्भुत विकास हुआ। जावा के समस्त प्राचीन ककवीनों की शुद्ध प्रतिलिपियाँ तो तैयार की ही गयीं[२] प्राचीन जावी तथा प्राचीन

१. सविस्तार द्रष्टव्य:-जावा तथा बाली की कविता में छन्दोविधान (डा. राजेन्द्र मिश्र) गंगानाथ झा के.सं. विद्यापीठ पत्रिका, दिसम्बर १९८६ई.

२. The ancient mythological poems are preserved in Bali, in more correct form than in Java, – History of Java by Raffles.

बाली (ओल्ड जावानीज तथा ओल्ड बालीनीज) भाषा में उच्चस्तरीय तथा बहुमुखी अपार नवीन साहित्य भी लिखा गया। बाली का गांग (वाद्य), लेगांग (नृत्य) तथा वायांग (नाट्य) उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। ककवीन (काव्य) तुतुर (तत्त्वशास्त्र अथवा दर्शन) किडुङ्ग एवं गेगुरितान (संस्कृत छन्दों के स्थान पर बाली के अपने *तेगहान तथा मचपत* शीर्षक छन्दों में लिखा गया काव्य-वाङ्मय) का बाली में अम्बार लग गया। **उदयन यूनिवर्सिटी** के *लोन्तार* कक्ष (पाण्डुलिपि) में आज भी नौ हजार पाण्डुलिपियाँ ताडपत्रों में सुरक्षित हैं। हालैण्ड के **लीडेन विश्वविद्यालय** में भी बाली एवं जावा की पाण्डुलिपियों का विशाल संग्रह है। व्यक्तिगत संग्रहालयों की भी संख्या कुछ कम नहीं है।

उधर जावा में सल्तनत स्थापित होने के बाद साहित्य-सर्जना का नया दौर प्रारम्भ हुआ। १६वीं तथा १७वीं. शती में तो अधिकांश वाङ्मय अरबी-फारसी काव्य तथा इस्लामी धर्म एवं दर्शन से प्रभावित लिखा गया। इसे समीक्षकों ने *पसिसिर-साहित्य* कहा है, क्योंकि इस साहित्य के केन्द्र जावा के पूर्वी एवं सागर तटवर्ती उत्तरी नगर थे, जिन्हें पसिसिर कहा जाता था। परन्तु १८वीं १९वीं शती को भारतमूलक प्राचीन जावी-साहित्य का पुनर्जागरण काल माना जाता है। इन दो शतियों में **कर्तासुरा, सुराकर्ता** तथा **योग्यकर्ता** के साहित्यप्रेमी सुल्तानों तथा उनके संरक्षित कवियों —**शास्त्रनगर, सिन्धुशास्त्र कुसुमादिलग** आदि ने अभूतपूर्व उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाएं कीं। **शास्त्रनगर** (अपरनाम यशादिपुर प्रथम) ने *सीरतकाण्ड* नाम से अपनी रामकथा इसी युग में लिखी।

इस प्रकार जावा तथा बाली का सम्पूर्ण साहित्य चार प्रमुख काल-खण्डों में विभक्त है—

१. प्राचीन जावी-साहित्य (१०वीं से १५वी शती ई. तक)

यह साहित्य मध्य एवं पूर्वी जावा के हिन्दू-नरेशों के संरक्षण में, व्रान्तस ओपाक, प्रागा तथा सरयू नदियों की उपत्यका में प्रणीत किया गया। यह साहित्य पूर्ण रूप से *रामायण, महाभारत*, **भट्टि, कालिदास** एवं **बौद्ध**-कृतियों तथा संस्कृत-

छन्दों पर आधारित है । जावा की प्राचीन **कवि** लिपि में निबद्ध यह संस्कृत बहुल वाङ्मय **ककवीन** (काव्य) के नाम से प्रख्यात है ।

२. जावी-बाली-साहित्य (१५वीं से १९वीं शती ई. तक)

जावा के इस्लामीकरण के अनन्तर बाली द्वीप में विकसित भारतीय काव्य-परम्परा प्राचीन जावी (कवि) तथा प्राचीन **बाली** – दोनों ही भाषाओं में समानान्तर रूप से लिखी गयी । बाली भाषा में संस्कृत-छन्दों के स्थान पर तेंगहान तथा मचपत छन्दों का प्रयोग हुआ, जिनसे क्रमशः *किडुङ्ग एवं गेगुरितान* साहित्य की सर्जना हुई ।

३. जावी पसिसिर-साहित्य (१६वी १७वीं. शती ई.)

संस्कृत-रहित नव्य जावी भाषा में लिखा गया अरबी फारसी तथा इस्लामी धर्म-दर्शन से प्रभावित साहित्य, जिसकी रचना *पसिसिर* नाम से विख्यात सुरावाया, ग्रेसिक (पूर्व) सेरबोन, वान्तेन (पश्चिम) तथा मदुरा द्वीप (उत्तर) में हुई ।

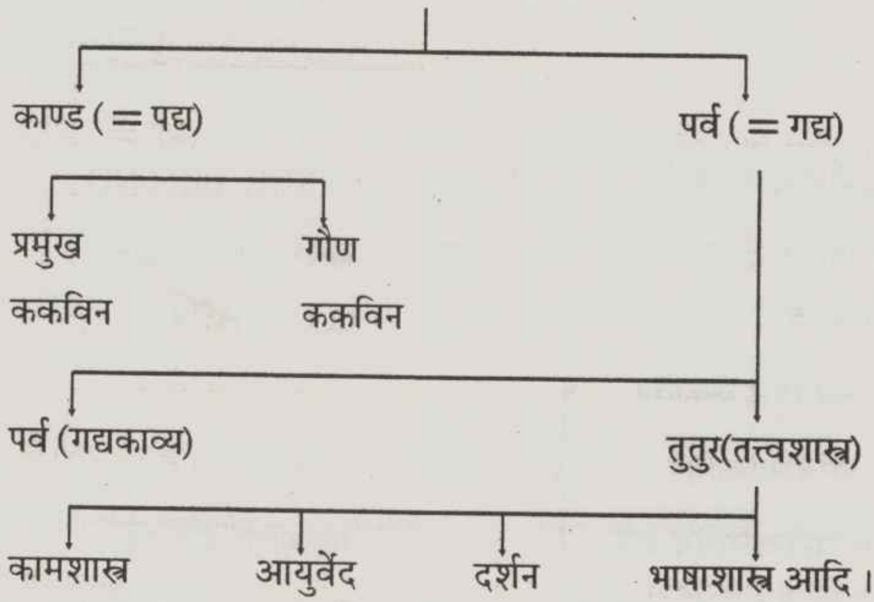
४. पुनर्जागरणकालीन अभिजात जावी-साहित्य (१८वी १९वीं शती ई.)

कर्तासुरा, सुराकर्ता तथा **योग्यकर्ता** शासकों के संरक्षण में भारतमूलक प्राचीन जावी-साहित्य का पुनर्लेखन । **पुजंग** नाम से प्रख्यात इस युग के साहित्यकारों ने उच्चकोटि का साहित्य नव्य जावी-भाषा में लिखा । सम्राट् **जयभय** (११३५-५७ ई.) के संरक्षण में सेडाह द्वारा प्रारब्ध एवं **म्पू पनुलुह** द्वारा पूर्ण *भारतयुद्ध* ककवीन को व्रतयुद नाम से इसी युग में लिखा गया । इसी प्रकार **शिण्डोक** (९१९-४७ ई.) के शासनकाल में **योगीश्वर** द्वारा प्रणीत *रामायण ककवीन* को **यशादिपुर प्रथम** द्वारा इसी युग में *सीरतकाण्ड* नाम से लिखा गया । अन्य अनेक प्राचीन ककवीन इसी प्रकार नव्य जावी भाषा में पुनः लिखे गये ।

इस प्रकार उपर्युक्त इसी एक सहस्राब्दी (सम्राट् शिण्डोक के राज्यकाल से १९वीं शती के अन्तिम चरण तक) में भारतमूलक पुष्कल साहित्य जावा तथा बाली में लिखा गया । इस साहित्य में धर्म और *नीतिशास्त्र* (उशना बाली, जतूर

योग, नीतिशास्त्र कुटारमानव आदि) इतिहास और मिथक (पररतों, बाबद, नागरकृतागम आदि) अभिजात काव्यवाङ्मय तथा विज्ञान, कला, विधि, भैषज्य, तंत्रमंत्र, लोक-परम्परा तथा लोकशिल्प सम्बन्धी हजारों उत्कृष्ट ग्रन्थ सम्मिलित हैं; जिनसे इन द्वीपों के साहित्य के परिवेश तथा गुणवत्ता का सहज आकलन किया जा सकता है । बाली (तथा जावा) की उस महनीय, गौरवपूर्ण तथा पवित्र साहित्यिक विरासत की एक संक्षिप्त परिगणना प्रस्तुत है—

बाली एवं जावा का साहित्य



चूंकि किडुंग, गेगुरितान, पाकिम (नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ) तथा बाबद (इतिहास) —ये सभी जावा आदि के इस्लामीकरण के अनन्तर (१५ शती ई.) नव्यजावीभाषा में लिखे गये, अतः इनकी चर्चा छोड़कर मात्र भारताश्रित प्राचीन जावी-वाङ्मय का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१. प्रमुख ककविन (काण्ड)

ग्रन्थनाम	रचनाकार	समय एवं विषय
१. रामायण ककविन	म्पू योगीश्वर	नवीं शती ई., रामकथा

२. अर्जुनविवाह ककविन	म्पू कण्व	१०३५ A.D.(एरलंग शासन-काल) किरातार्जुनीय-प्रसंग ।
३. कृष्णायन ककविन	म्पू त्रिगुण	बारहवीं शती ई. का पूर्वार्ध रुक्मिणीकृष्ण-विवाह ।
४. सुमनसान्तक ककविन	म्पू मोणगुण	१२ C.A.D. (जयवर्ष शासन) रघुवंश कथानक ।
५. स्मरदहन ककविन	म्पू धर्मज	कामेश्वर का शासनकाल (११०६-३५) कुमारसम्भव-कथानक ।
६. भौमकाव्यककविन	अज्ञात	कामेश्वर-शासनकाल
७. भारतयुद्ध ककविन (अपूर्ण)	म्पू सेडाह	जयभय-शासनकाल (११५७ A.D.)
८. भारतयुद्ध ककविन		
९. हरिवंशककविन	म्पू पनुलुह	बारहवीं शती ई.
१०. घटोत्कचाश्रय कक०		महाभारत-कथानक
११. चक्रवाकदूत अथवा (वृत्तसंचय कक०)		विरहिणी द्वारा चक्रवाक से सन्देश-प्रेषण ।
१२. पतिव्रताककविन (उद्दालक ककविन)	म्पू तनकुङ्ग	राजस शासनकाल (१२२२-२७A.D.) व्याध द्वारा शिवाराधन का वृत्त ।
१३. लुब्धकककविन		
१४. अर्जुनविजय ककविन		कार्तवीर्य सहस्रार्जुन-परशुराम वृत्त ।
१५. सुतसोम अथवा पुरुषादशान्त ककविन	म्पू तन्तुलर	सुतसोमजातक-कथानक । राजस नगर शासन काल (१३५०-८९ A.D.)

१६. नागरकृतागम	म्पू प्रपंच	१३६५ A.D. राजस (१२२२ A.D.) से राजस नगर (१३८९ A.D.) के कालखण्ड का इतिहास।
१७. ब्रह्माण्डपुराण कक० (पृथिवीजय ककविन)	अज्ञात	—
१८. कुंजरकर्ण ककविन	अज्ञात	—
१९. अर्जुनसहस्रबाहु ककविन	अज्ञात	१२th C.A.D.

२. गौण (लघु) ककविन (काण्ड)

१. पार्थयज्ञ ककविन	अज्ञात	अर्जुन की पाशुपतास्त्रप्राप्ति।
२. कालयवनान्तक ककविन	अज्ञात	कृष्ण द्वारा कालयवन का विनाश।
३. हरिश्रय ककविन	अज्ञात	विष्णुकर्तृक माली-सुमाली पराजय। (रामायण उत्तरकाण्ड)
४. हरिविजय ककविन	अज्ञात	क्षीरसागर-मन्थनकथानक।
५. कृष्णान्तक ककविन	अज्ञात	कृष्ण का परमधाम-गमनवृत्त।
६. रत्नविजयककविन	अज्ञात	सुन्दोपसुन्द-तिलोत्तमा इतिवृत्त।
७. विघ्नोत्सव ककविन	अज्ञात	सुप्रसेन (जिनविक्रम) एवं यक्षराज विघ्नोत्सव का संघर्ष।
८. व्रतश्रय ककविन	अज्ञात	उपर्युक्त कथानक।
९. सिंहलङ्गल ककविन	अज्ञात	सिंहल राजकन्या कामरूपिणी का परिणय।
१०. सुभद्राविवाह कक०/ (पार्थायन ककविन)	अज्ञात	सुभद्रा-अर्जुन परिणय वृत्त।
११. अभिमन्युविवाह ककविन	अज्ञात	अभिमन्यु-उत्तरा विवाहप्रसंग।

३. पर्व (गद्य) साहित्य

१. आदिपर्व २. विराटपर्व	गद्य में अनूदित	धर्मवंश (९९०-१००६ A.D.)
३. उद्योग पर्व ४. भीष्म पर्व	अज्ञात कर्तृक	तथा एरलं ग (१०१०-४९ A.D.)
५. स्त्री पर्व		के शासनकाल में ।
६. आश्रमवास पर्व		
७. मुसलपर्व ८. प्रास्थानिक पर्व		
९.स्वर्गारोहण पर्व		
१०. तत्त्व उत्तरकाण्ड (पर्व)	अज्ञातकर्तृक	अज्ञात समय । वाल्मीकि रामायण का उत्तरकाण्ड ।
११. अगस्त्यपर्व	अज्ञातकर्तृक	रामायणवर्णित अगस्त्यवृत्त ।
१२. विबुधपर्व	अज्ञातकर्तृक	परशुरामचरित, समय अज्ञात ।
१३. आदिपुराणपर्व	अज्ञातकर्तृक	महाभारत की विविध कथाओं का
१४. कौरवाश्रमपर्व	अज्ञातकर्तृक	गद्यान्तर । समय अज्ञात ।

४. तुतुर (= तत्त्व) अथवा शास्त्रग्रंथ

(क) देवशास्त्र (Mythology)

प्रतस्ति (= प्रशस्ति) भुवन, तन्तुपंगिलनम्, उसना जावा, उसना बाली, राजपुराण, बाबद गुमि (= मुनि) पर्यागिम्, बाबद जम्बूद्वीप, केवो युवा, प्रकिर्ति (= प्रकृति) शासन, काण्डदेव, काण्डचतुर्भूमि ।

(ख) शैवतन्त्र (५५०-९० A.D. डॉ. आर. गोरिस का मन्तव्य)

भुवनकोश, भुवनसंक्षेप, बिर्हस्पति (= बृहस्पति) तत्त्व, सप्तभुवन, चतुर्युगविधिशास्त्र, तत्त्वज्ञान, शब्दप्रलीन, अमिर्त (= अमृत) कुण्डलिनी, स्वच्छन्दमरण,निर्मलज्ञान, कुमारतत्त्व, स्मरतन्त्र, परम के (= कै) वल्यपद,

पंचमहाभूत, पयोगन भटारगुरु, तुतुर परमार्थ, शरीरवेद, शशाङ्कशरण, सपनितत्त्व, कालेपसन, संगह्यंग शिव, तुतुर कमोक्षान्, ईश्वर उवाच, चतुर्पक्षोपदेशमहारत्न, तुतुर भटारब्रह्मा; मूलधारा, अज्ञानसन्धि, अजि आध्यात्मिक, अजि सरस्वती, धर्मतिरुस आत्मा, सप्तप्रणव, अष्टलोम, जीवकस्मरन, सेवकधर्म, अष्टलिङ्ग; मूलधर्म, तुतुर शिवमूर्ति, अष्टविपरीतज्ञान, दशाक्षर, सप्त ओङ्कारतत्त्व-विशेष, दशप्रकाश, आत्म-प्रशंसा, अर्धस्मर, भीमस्वर्ग, पूर्वभूमि ।

(ग) संस्कारोपासना (Ritual & worship)

आगम तीर्थ, सूर्यसेवन, शिवबुद्ध, अर्ग (अर्घ्य) पात्र, पूजापरिक्रम (= परिकर्म) अनुष्ठानव्रत-सोर (= सूर्य) अष्टिवेदना, शिवतत्त्वपुराण, पूजा ममुकुर, पितृपूजा, रोगसंगर, भूमि दीपमल, पूजा पंचबलिक्रम (कर्म) ससि (= सहस्र) विष्णुनाम, तत्त्वकाल, क्रम(= कर्म) निङ् होमाध्यात्मिक, चण्डीधर्म, जन्मप्रवृत्ति, चतुर्पातक, कार्ययज्ञ, चक्रनगर, सूर्यमण्डल, स्वमण्डल, यमतत्त्व, शववेदना ।

(घ) योगशास्त्र

योगसन्धि, योगनिद्रा, शरीरतत्त्व, योग चतुर्देवता, जन्मरहस्य, तत्त्वसमाधि, समाधिलक्षण ।

(ङ) नीतिशास्त्र

सारसमुच्चय, तंत्री कामन्दक, कामन्दक राजनीति, श्लोकान्तर, रणयज्ञ, विविधशास्त्र कामन्दक, छन्द पिंगल (पंचतंत्र)

(च) राजशास्त्र (= अर्थशास्त्र)

इन्द्रलोक, नवनाट्यक्रमनगर, मंत्रिशासन, क्रमनगर, नवशासन, निंग रतु, भुवनपुराण, चतुर्पक्षोपदेश, धर्मशिष्य, जगत्कारण, प्रभुविभुह ।

(छ) भैषज्यशास्त्र (Medical Sciences)

विशद उसद (= औषध) अण्डा कलिमोसद (= कलि महौषध), उसद (= औषध) रे, पगलिंग विशद कचचर (शीतलाप्रकोप), प्रमेदस्मर (गुह्याङ्ग-रोग), उसद निंग उपस् (विषापहार), उसद बुदह् (प्रमत्तता), पनिंगिरन कुष्ट (कुष्ठरोग), कलिमोसद (सर्वरोग), उसद शिव सम्पूर्ण, अण्डा भुवन, उसद वतुर कहरिपन, धर्म उसद ।

(ज) कामशास्त्र (Sexology)

स्मरतंत्र, स्मरक्रीडालक्षण, अंगुलि-प्रवेश, अनंगशास्त्र, रहस्यसंगम, इन्द्राणी, अनंगोपदेश, रुक्मिणी, कपुतुसान, अनिरुचपति ।

(झ) अन्यान्यशास्त्र

कतुरंगान, अश्वशिक्षा, अश्वलक्षण (अश्वशास्त्र-ग्रंथ), भगवान् गर्ग (शकुनापशकुन-भूकम्पविषयक), परिवेश (महामारीलक्षण) मुहूर्तलक्षण, पूर्नम-तिलिम (= दश पौर्णमास), वसुन्दरी (= वसुन्धरा), तुतुर, विर्ह-स्पतिकल्प, सुन्दरीतेरुस, पंचकाण्ड (ज्यौतिषशास्त्र), प्रतिथिसमुत्पाप (= प्रतीत्यसमुत्पाद), सन्दि (= सन्धि) सूत्र (वर्तनीविषयक), क्रीडाक्षर (अक्षरलेखनविषयक), काव्यजानकी, किर्तबास (= भाषाकृत्य), आदि-स्वर, रशनाम, बहुशास्त्र, अमर: त्रिदश: प्रोक्त: (भाषा एवं कोशशास्त्रवि-षयक)

बाली तथा जावा द्वीप की साहित्यिक विरासत का यह एक अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है । इस उच्चकोटिक काव्य एवं शास्त्रवाङ्मय का समीक्षात्मक परिचय देने के लिए एक स्वतंत्र पृथुलकलेवर ग्रंथ की आवश्यकता है । बहरहाल, यह सांकेतिक परिचय भी बाली तथा जावा की साहित्यिक महिमा-गरिमा एवं पुष्कलता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त प्रतीत होता है ।

षष्ठ अध्याय

राममय सुवर्णद्वीप (जावा तथा बाली)

रामायण यदि भारत की मूर्तिमान् संस्कृति है तो महाभारत उसका जीवंत इतिहास। वस्तुतः दोनों ग्रंथ सामान्य-ग्रन्थ ही नहीं, हिंदुत्व के पर्याय भी हैं। इतिहास साक्षी है कि समस्त आक्रामक जातियों तथा धर्मों ने खड्ग एवं रक्तपात से दिग्विजय संपन्न की। परंतु हिंदुओं के प्रचार प्रसार में धर्म ही मूल हेतु था। प्रेम, शांति, सद्भावना, मैत्री एवं आर्जव का संदेश और हाथ में रामायण-महाभारत, वेद-पुराण की पोथियां लिये उच्च राजवंशों के साहसी राजकुमार एवं धर्माचार्य जब ईसा की प्रथम शती में ही चंपा, कंबुज, थाईदेश, सुवर्णभूमि (बर्मा), कटाह द्वीप (मलेशिया) तथा सुवर्णद्वीपीय भूखण्डों में पहुंचे तो उन्हें कोई युद्ध नहीं करना पड़ा। कंबुज की राजपुत्री सोमा धर्माचार्य कौण्डिन्य की वैदुषी एवं देशना पर स्वतः अर्पित हो उठी। दोनों दांपत्य-बंधन में बंध गये और कंबुज में हिंदू-साम्राज्य की नींव पड़ गयी।

प्रांयः सर्वत्र यही हुआ। चंपा में श्रीमार ने, यवद्वीप में शैलेंद्रवंशी सन्नाह ने, बोर्नियो (तंजुंगपुर) में मूलवर्मा ने भी युद्ध से नहीं, प्रेम और सहयोग से ही साम्राज्य-स्थापना की।

एच. कर्न, सी. हुयकास, जुइनबॉल, पिगॉड आदि विद्वानों और स्थानीय शोधकर्ताओं-डॉ. आर. गोरिस और डॉ. पर्बतजरक ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सुवर्णद्वीप (जावा-बाली) में लेखनकला भारत से ही आयी। शैलेंद्र वंशी सन्नाह द्वारा सातवीं शती के अंत में पश्चिमी जावा में हिंदू-साम्राज्य स्थापित करने से पूर्व, जावा का अपना कोई लिखित वाङ्मय नहीं था। फलतः भारत से

आयी देववाणी संस्कृत एवं स्थानीय जावीभाषा के समन्वय से एक नवीन साहित्यिक भाषा विकसित हुई, जिसे प्राचीन जावी, जावा-कुनो अथवा **कवि** कहा गया । इसी भाषा में आठवीं शती के प्रारंभ से १५वीं शती के अंतिम चरण तक उच्चस्तरीय विपुल साहित्य-संरचना हुई । संस्कृत का सारा वाङ्मय प्राचीन जावी में रूपांतरित हो उठा ।

चूंकि जावा का अपना तो कोई देवशास्त्र (माइथोलॉजी) अथवा पुरावृत्त, पुराण था नहीं, फलत- वैदिक देवता ही उनके भी देवता हो गये । राम, परशुराम, वसिष्ठ, विश्वामित्र, कौरव, पांडव तथा अन्य पौराणिक नरेश ही उनके भी पूर्वपुरुष बन गये । भारत का सारा इतिहास, भूगोल, भुवनकोश, धर्म, आचार-संहिता, लोकपरंपरा तथा विश्वास ज्यों-का-त्यों जावा तथा बाली में समा गया । जावा में सरयू नदी, सुमेरु तथा ब्रह्मा पर्वत, बाली में अमरावती क्षेत्र, मयदानव तथा इंद्र की संघर्षस्थली (बेदौलु कस्बा), अमृततोया गंगा (पकेरिसान) तथा महामेरु (गुनुंग-अगुंग) उसी तथ्य के जीवंत प्रतीक हैं ।

बाली : पृथ्वी का केंद्र

जावा तथा बाली की सामान्य जनता आज भी रामायण-महाभारत संस्कृति को **आयातित** नहीं मानती । विशेषकर बाली-वासी अपने सुमेरु को ही संपूर्ण पृथ्वी का केंद्र (पुसेह) मानते हैं । उनकी धारणा यही है कि मयदानव, इंद्र, रुद्र-विष्णु-ब्रह्मा, राम-रावण सब यहीं थे ।

गुनुंग-अगुंग के पूर्वी भाग में एक विशाल चिकनी शिला मैंने देखी । बालीवासी उसे हनुमान् का आसन मानते हैं । अधिकांश बालीद्वीपीय विद्वान् द्वीप का नामकरण वानरराज बाली पर आश्रित मानते हैं । सांगेह, केडाटोन, उलुवाटु तथा सिंगराजा के घने वनों में मूंछवाले हजारों भयावह वानर आज भी रामायण युगीन वानर संस्कृति का विश्वासकराते हैं । बाली वासी वानरों के प्रति अत्यंत श्रद्धालु एवं सदय भी हैं ।

रामकथा तो संभवतः सुवर्णद्वीपीय भूखंडों में चौथी शती में प्रविष्ट हुई, क्योंकि सम्राट् मूलवर्मा (बोर्नियो द्वीप, ई. चतुर्थ शती) का शिलालेख इस क्षेत्र में प्राचीनतम है । परंतु रामकथा के पात्र तो इस धरती पर हजारों वर्ष पूर्व, भगवान् राम के जीवनकाल में ही आये ।

वाल्मीकीय रामायण (किष्किंधा, सर्ग ४०) में वानरराज सुग्रीव द्वारा देवी सीता के अन्वेषणार्थ कपि-यूथप विनत को सुवर्णद्वीप की ओर भेजे जाने का सुस्पष्ट निर्देश है । क्रांतदर्शी कवि जिस सुवर्णद्वीप को जानता है, वह सात राज्यों से उपशोभित, सोने और चांदी का अक्षय स्रोत तथा यव (जौ) के आकार का था–

यत्नवंतो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् ।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्ण करमंडितम् ॥

सुवर्णद्वीप के ये सात राज्य कौन थे ? कुछ ज्ञात नहीं । परंतु मेरी दृष्टि में अंडमान, निकोबार, सुमांत्रा, जावा, मदुरा, बाली तथा लोंबोक–ये सात भूखंड रामायणकालीन सुवर्णद्वीप के संघटक थे । संभव है कि अकेले जावा में ही सात राज्य रहें हों ।

वाल्मीकि की क्रांतदृष्टि यहीं नहीं रुकती । वह पृथ्वी के उस छोर तक पहुंचती है, जहां बस अंधकार ही अंधकार है । सूर्य-चंद्रमा वहां नहीं प्रकाशित होते । वह क्षेत्र सर्वथा अगम्य है । स्पष्टतः यह वर्णन प्रशांत महासागरीय अंतिम पूर्वी द्वीपों (ईरियंजय, न्यूगिनी) तथा अमरीका के मध्यवर्ती गहन समुद्र का है–

ततः परमगम्या स्याद्दिक्पूर्वा त्रिदशावृता ।
रहिता सूर्यचंद्राभ्यामदृश्या तमसाऽऽवृता ।

जावा तथा ईरियंजय (सुदर्शनद्वीप) के बीच में स्थित (वर्तमान इंडोनेशिया के) विभिन्न द्वीपों के पर्वतों, नदियों, सरोवरों तथा वनराजियों का जैसा विश्वसनीय वर्णन महर्षि वाल्मीकि ने किया है, उसे पढ़कर मैं विस्मित हूं । अपने एक पृथक् शोधपत्र में मैंने वाल्मीकि रामायण में वर्णित उन स्थानों का प्रामाणिक प्रत्यभिज्ञान (पहचान) प्रस्तुत किया है । बाली द्वीप का अत्यंत शीतल महामेरु (गुनुंग-अगुंग)

मयदानव के रक्त से निकली पेतानू नदी तथा जावा-बाली के बीच विद्यमान मूंगे की चट्टानों के कारण ललछौंह जलराशि से भरा पूरा (गिलिमानुक) समुद्र— सब कुछ महर्षि वाल्मीकि को ज्ञात था—

यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः।
दिवं स्पृशति श्रृंगेण देवदानवसेवितः॥
ततो रक्तजलं प्राप्य शोणाख्यं शीघ्रवाहिनम्।
गत्वा पारं समुद्रस्य सिद्धचारणसेवितम्।
ततो रक्तजलं भीमं लोहितं नाम सागरम्॥

आज भी बाली के किसान पेतानू के जल से **सावाह्** (धान के खेत) की सिंचाई नहीं करते, क्योंकि उनकी दृष्टि में वह बाटुर पर्वत पर भटार इंद्र द्वारा मारे गये आततायी दानव मय का रक्त मात्र है। भला उससे कौन शरीर का पोषण करेगा ! बाली का संपूर्ण इतिहास, भूगोल एवं मिथक सांगोपांग जानने के बाद जब मैंने रामायण का यह संदर्भ पढ़ा तो आश्चर्य हुआ।

परंतु आस्थावान् भारतीय के लिए भी यह संदर्भ नया नहीं है। भारत का संपूर्ण साहित्य दैव एवं मर्त्य, मानवीय, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सत्यों का संगम-बिंदु है। रामकथा-गायन से पूर्व ही वाल्मीकि ने यह समस्या प्रजापति के समक्ष रखी थी कि **मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन की सारी घटनाओं को मैं जानूंगा कैसे ? वे सब तो मेरे परोक्ष में घटी हैं।**

ब्रह्मा ने आदिकवि को सांत्वना देते हुए कहा था कि **ढेर सारी बातें तो कल प्रातःकाल आपको देवर्षि नारद से ज्ञात हो जायेंगी और शेष मेरी कृपा एवं वर-प्रभाव से स्वतः स्फूर्ति हो उठेंगी। यहां तक कि राम-सीता के मन की भी एक-एक बात आपको ज्ञात हो जायेंगी। सारा अनदेखा आप स्वतः देख लेंगे।** और सचमुच गंगा-तमसा के संगम पर बैठे-बैठे क्रांतदर्शी कवि ने समूचे दक्षिण-पूर्व एशिया को अपनी प्रज्ञा के आलोक से **हस्तामलकवत्** देख लिया।

रामस्य सहसौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः।
वैदेह्याश्चैव यद् वृतं प्रकाशं यदि वा रहः॥

तच्चाऽप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।
न ते वागंनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति॥

—बालकांड (सर्ग २, ३४-३५)

गीत गाया पत्थरों ने

कपियूथप विनत की सीतान्वेषण-यात्रा के बाद ही संपूर्ण रामकथा सुवर्ण द्वीप में आयी, प्रायः ईसा की ८वीं शती में। श्रीविजय क्षेत्र (सुमात्रा), कटाह द्वीप (केडाह प्रांत, मलयेशिया) तथा बोर्नियों में तो ईस्वी शती के प्रारंभिक चरण में ही आयी। जावा का प्रारंभिक इतिहास आज भी अंधकार में है, अतः सन्नाह के साम्राज्य में ही रामकथा का अवतरण हम युक्तियुक्त समझते हैं।

रामकथा का लेखन जावा में दो प्रकार से प्रारंभ हुआ। एक तो छेनी (टंकिका) की कलम से, चित्राक्षरों द्वारा देवालय-भित्तियों के कागज पर और दूसरा सामान्य लेखनी से, कविलिपि में ताड़पत्रों पर। परंतु कालक्रम की दृष्टि से रामकथा का प्रस्तर-चित्रांकन उसके ग्रंथप्रणयन से पूर्व हुआ।

रामकथा के प्रथम गायक हैं, वनवासिनी वैदेही के पुत्र तथा महर्षि वाल्मीकि के शिष्य—कुमार लव एवं कुश। वीणा की तंत्रियों पर मधुर झंकार बिखेरते दोनों बालगंधर्व जब नैमिषारण्य की वीथियों में वाल्मीकि रामायण का गान करने लगे तो समाधि एवं मनोनिग्रह के धनी ऋषियों-मुनियों का भी मन अनियंत्रित हो उठा। देवी सीता की व्यथा की कथा सुन, अश्वमेध-यज्ञवाट में एकत्र लाखों नेत्र वेदना और पीड़ा की अविरल अश्रुधार से भर उठे।

वह रामकथा का प्रथम गायन था। तब से जाने कितने अनुवर्ती गायन हुए पूरे विश्व में, परंतु यवद्वीप के सहृदय स्थपतियों एवं शिल्पकारों ने अपनी अमृतगर्भा टंकिकाओं से रामकथा को मंदिर-भित्तियों पर उत्कीर्ण कर, जड़ पाषाण को जैसी उदात्त चेतना और संवेदना दी, वह किसी कविकर्म अथवा गंधर्वकर्म से कम नहीं।

जैसे सीता और राम की दुस्सह वियोगव्यथा से दंडकारण्य की शिलाएं तक रोती हैं, वज्र का भी हृदय विदीर्ण हो उठता है (अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्- भवभूति, उत्तररामचरित), ठीक उसी प्रकार यवद्वीपीय मंदिरों के पत्थर भी रामकथा का गायन-सा करते प्रतीत होते हैं।

कई सौ वर्षों तक श्रीविजय (सुमात्रा) के शैलेन्द्र तथा जावा के मतराम (मूलत: शैलेंद्रों की ही शाखा) शासक जावा में साथ-साथ शासन करते रहे । उत्तरी जावा पर श्रीविजय का अधिकार था तो दक्षिणी जावा पर मतराम शासक का । श्रीविजय के शैलेंद्र बौद्धधर्म के पोषक थे, तो जावा के स्थानीय शैलेंद्र विशुद्ध शैव । दोनों राजवंश दो समानांतर धर्मचेतना का प्रचार-प्रसार करते रहे ।

जावा की प्रचलित परंपरा के अनुसार चंडी बोरोबुडुर सन् ७८० ई. में स्थापित हुआ, इसका प्रमुख शिल्पी था गुणधर्म । नौ मंजिलों, चौतरफा विशाल तोरणों एवं ७२ स्तूपों से श्रीमंडित इस बौद्ध मंदिर की भित्तियों पर पहली बार दशरथ जातक के आधार पर रामकथा का अंकन हुआ । महर्षि वाल्मीकि की आकल्पजीवी कविता की यह प्रथम अभिव्यक्ति थी जावा में ।

शैलेंद्रों का रामकथानुराग भगवान् तथागत के **रामत्व** के कारण था । परंतु मतराम-शासक तो स्वभावत: विष्णु एवं शिव के उपासक थे । इन राजाओं द्वारा निर्मित मध्य जावा में ही योग्यकर्ता नगर से सात किलोमीटर पूर्व में, राजमार्ग के उत्तरी पार्श्व में प्रांबनान के त्रिदेव मंदिर हैं । इस तीर्थ-परिधि में कभी मुख्य मंदिर-प्रांगण में आठ तथा प्रांगण के बाहर १५६ लघु मंदिर विद्यमान थे । परंतु अब मात्र दो-तीन मंदिर ही अवशेष हैं ।

विदेशी विद्वान् इन्हें दक्षोत्तम (९१५ ई.) द्वारा निर्मित मानते हैं, पर जावा की परंपरा के अनुसार ये मंदिर रकाई पिकातन् द्वारा नवीं शती ई० के पूर्वार्द्ध में बनवाये गये । पिकातन् की पत्नी रानी प्रमोदवर्धिनी श्रीविजय-सम्राट् समरतुंग की कन्या थी । उसने स्वयं प्लओसन का भव्य बौद्ध मंदिर बनवाया था ।

सौभाग्यवश प्रांबनान का वह प्रमुखतम शिव-मंदिर अब भी अक्षतशेष है, जिसके ४२ शिलाफलकों पर संपूर्ण रामायण अंकित है ।

सीता की व्यथा सुन राम करुणा एवं रोष से भर उठते हैं । रोष में उठी भुजा, अश्रुबोझिल करुणनेत्र दोनों भावों को बड़ी सहजता से व्यक्त कर देते हैं । हनुमान् के मुंह से प्राणवल्लभ राघव की व्यथा सुनती, नतानना वैदेही का अंकन तो दर्शक को अश्रुविगलित ही कर देता है । यदि मैंने स्वयं प्रांबनान-मंदिर न देखा होता तो शायद विश्वास न कर पाता ।

सेतुबंध से आगे की कथा का शिल्प ब्रह्मा मंदिर की दीवारों पर अंकित है । पंतरण अथवा पलह का शिवमंदिर सम्राट् हयम वुरुक् राजसनगर (१३५०-८९ ई.) के समय में बना । इसकी नींव १३४७ ई. में पड़ी थी । इसकी भित्तियों पर भी म्पू योगीश्वर-प्रणीत रामायणककवीन तथा म्पूत्रिगुण-प्रणीत कृष्णायनककवीन की कथाएँ अंकित हैं । दुर्भाग्यवश यह मंदिर ध्वस्त हो चुका है । कुछ दीवारें तथा भग्नावशेष ही इसके प्राचीन गौरव के साक्षी हैं ।

सुवर्णद्वीप का वाल्मीकि

जावी रामकथा का आदिगायक है महाकवि म्पू योगीश्वर; जिसे जावा की विद्वत्परंपरा मतराम-सम्राट् वतुकुर बलितुंग का राजकवि मानती है । मध्य तथा पूर्वी जावा में बलितुंग के अनेक शिलालेख ८९८-९१० ई. की मध्यवर्ती तिथियों से अंकित मिले हैं । अत: योगीश्वर का समय नवीं शती का उत्तराद्‌र्ध होना सुनिश्चित है ।

म्पू योगीश्वर ने वाल्मीकि, भट्टि, कालिदास, मनु तथा कामंदक का गहन अध्ययन किया था । अपने एक पृथक् शोधलेख में मैंने इस तथ्य की सोदाहरण समीक्षा करते हुए, पूर्व समीक्षकों (डॉ. कर्न, हुयकास, पर्वतजरक आदि) के भ्रांति-संदेह का निवारण किया है, जो इस विवाद में उलझे रहे कि योगीश्वर ने स्वयं वाल्मीकि-रामायण पढ़ी थी अथवा नहीं ?

योगीश्वर की रामकथा रामायणककवीन प्राचीन जावी अर्थात् कवि भाषा की विशालतम एवं श्रेष्ठतम कृति है । उस जैसे काव्योत्कर्ष लालित्य एवं रसोद्रेक की कोई अन्य समकक्ष रचना जावा तथा बाली में आज तक नहीं लिखी जा सकी ।

रामायणककवीन में २६ सर्ग तथा २७७८ कविभाषा के श्लोक हैं । ये श्लोक संस्कृतवृत्तों (उपजाति, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदि) में प्रणीत हैं । काव्यप्रतिभा के धनी कवि ने वाल्मीकि की मूलकथा में अनेक रोचक परिवर्तन भी किये हैं, जो रसचर्वणा की दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं । क्रुद्ध जटायु द्वारा रावण को घायल कर उसका रक्तपान तक करना, हनुमान् द्वारा राक्षसवेष धारण कर लंका में सीता की खोज करना, चूड़ामणि के साथ सीता का पत्रलेख भी ले आना, त्रिजटा का विभीषण की युवती कन्या होना—ये हैं म्पू योगीश्वर के कुछ अद्‌भुत परिवर्तन ।

अद्‌भुत रामकथा है सुवर्णद्वीप की । कथा-सूत्र भारत का, परंतु उसकी पृष्ठभूमि यवद्वीप की । पक्षियों, पुष्पों, वृक्षों, मछलियों तथा व्यंजन-पकवानों के सारे नाम जावा के ! सब कुछ विचित्र लगता है । सुवर्ण द्वीप की साहित्यिक गरिमा के शिखरभूत इस महान् ग्रंथ को प्रथम बार मैंने देवनागरी लिपि में परिवर्तित कर हिंदी में अनूदित किया है ।

वाल्मीकि, तुलसी, योगीश्वर—तीनों को पढ़ा मैंने । हनुमान् से सीता की व्यथा सुन वाल्मीकि के राम प्रलयरोष से भर-भर उठते हैं । चढ़ी भृकुटियों तथा प्रालेय नेत्रों वाले राम त्रैलोक्य का संहार करने को तुल जाते हैं । अब न सूर्य रहेगा, न चंद्रमा, सारे नक्षत्रमंडल, सारी दिशाएं, सारे पंचतत्त्व—कोई नहीं बचेंगें । मैं कराल सायक की संवर्तकाग्नि से संपूर्ण ब्रह्मांड को जला कर क्षार कर दूंगा । रुद्रावेशी राघव की वह मुद्रा देखकर कुमार लक्ष्मण भी भयभीत हो उठते हैं । वानरवाहिनी कंपित हो उठती है ।

तुलसी के राम बस रोते हैं । जिसका क्षण भर का भी वियोग असह्य था, उसी कुसुम सुकुमार प्रियतमा विदेहनंदिनी के बिना, राम कितने महीनों से जीवित हैं ! उन जैसे दुर्धर्ष धनुर्धर के रहते हुए भी सीता की रक्षा नहीं हो सकी । वह प्राणवल्लभा सीता आज तक आततायी राक्षस की बंदिनी है ? निरंतर निराहार,

नैशजागरणरत, वल्लभ की दर्शनिच्छा-मात्र से जीवित सीता, विरही राम को संतप्त कर देती है । दहकती आग की ऊष्मा से पिघलते लोहे में कठोरता भला कहां संभव है !

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना।
भरि आये जल राजिव नयना ॥

परंतु योगीश्वर के राम की स्थिति कुछ और ही है । हनुमान् ने वैदेही की चूड़ामणि और पत्र उन्हें एक साथ ही दिया । चूड़ामणि हृदय से लगा कर राघव सीता की पाती बांच रहे हैं । प्रेम का सम्मोह अचानक घनीभूत हो उठता है । जब हृदय डूब जाता है, प्रियतमा के शब्दों से सिरजे भावनालोक में तो आंखे स्वयं अक्षर बांचना छोड़ देती है । वे भी हृदय के पीछे लग जाती हैं, और प्रारंभ कर देती हैं सावन-भादों सरीखी सघन-वर्षा ।

अचानक राम की चेतना पुनः लौटती है । हृदय पुनः उत्कंठित होता है । सीता का अवशिष्ट संदेश जानने के लिए । नेत्र पुनः केंद्रित हो उठते हैं पत्र पर । परंतु अब रहे कहां प्रियतमा के संदेश-विहग ? वे तो अविरल अश्रुवर्षा में जाने कब के धुल गये । राघव मन मसोस कर रह जाते हैं । कातरभाव से चहख उठते हैं, **भैया ! लक्ष्मण ! जल्दी आओ ! मेरा दुर्भाग्य तो देखो । अब मैं क्या करूं ? वैदेंही के शब्दों को कहां ढूंढूं ? हाय, प्रिया की पाती को तो मैंने स्वयं ही नष्ट कर दिया ।**

संपूर्ण विश्व-वाङ्मय में ऐसा करुण संदर्भ मिलना कठिन है । मैं इस प्रसंग पर यद्यपि महाकवि कालिदास के काव्यशिल्प की स्पष्ट छाया देखता हूं, फिर भी योगीश्वर ने कालिदास को, लोक-संवेदना में पीछे छोड़ दिया है । कालिदास का यक्ष तो मात्र आंखों में उमड़े वियोगाश्रु के कारण दृष्टिहीन हो जाता है और शिला पर धातुराग (गेरू) से निर्मित प्रिया की आकृति को देख भर नहीं पाता ।

वायांग और रामकथा

म्पू योगीश्वर की यही रामकथा लोकानुरंजन का प्रभावी माध्यम बन कर वायांग-कला में अवतरित हुई। वस्तुत: **वायांग** का अर्थ है **पुत्तलिका**। प्राचीन जावा के हिंदू धार्मिक संस्कारों में मृत पितरों के साथ अदृश्य देवगण भी वायांग के रूप में प्रस्तुत किये जाने लगे। वातावरण-शुद्धि एवं प्रेतात्माओं के विद्रावण हेतु भटार इंद्र, भटार रुद्र तथा सेमार (स्मर) आदि के वायांगों द्वारा किसी मिथकीय कथानक का अभिनय भी प्रारंभ हुआ। यही आभिचारिक-संस्कार जावा की वायांग कला का उद्भव बिंदु है। १५वीं १६वीं सती ई. में उत्तरी जावा के मुस्लिम वली-संतों तथा १८वीं शती ई. में सुराकर्ता-योग्यकर्ता दरबारों के कलाप्रेमी सुल्तानों ने हिंदुयुगीन उसी वायांग कला को बृहत् रूप में पल्लवित एवं प्रतिष्ठित किया।

जावा तथा बाली में नाट्यप्रस्तुति अथवा नाटक के लिए कोई उपयुक्त शब्द ही नहीं है। अत: वायांग ही नाटक का पर्याय हैं, परंतु जावा तथा बाली के वायांग का मात्र एक भेद (वायांग-वांग) ऐसा है, जो भारतीय नाटकों के समान है। वायांग-वांग में पुरुष एवं महिला पात्र मुखौटा लगा कर कथा का अभिनय करते हैं। वायांग के अन्य भेदों में अभिनय मात्र पुतलियों के माध्यम से होता है। पुतलियां यदि चमड़े की हैं तो उसे वायांग कुलित, गोले काठ की हैं तो वायांग-गोलेक, चिपटे काष्ठफलक की हैं तो वायांग-क्लितिक कहा जाता है। यदि कथा का प्रदर्शन मात्र चित्रों के प्रदर्शन (बाईस्कोप जैसी विधि) से हो रहा हो तो उसे वायांग-बेबेर कहते हैं।

वायांग-कुलित के लिए सुवर्ण द्वीप संसार भर में विख्यात है। महिषचर्म से निर्मित, सक्रिय हाथों वाली, वस्त्राभूषण से सुसज्जित एक विशेष आकृति में ढली जावा बाली की ये पुतलियां देखने ही से एक विचित्र आकर्षण पैदा करती हैं। डलंग (सूत्रधार) सफेद परदे के पीछे संवाद-प्रस्तुति के साथ-साथ इन वायांगों का संचालन भी करता है।

वायांग कुलित के भी दो रूप हैं । यदि कथानक रामायण-महाभारत अथवा पुराण का है तो उसे **वायांगपूर्व** और यदि कथानक किसी ऐतिहासिक प्रेमाख्यान (पांजी अथवा मलत कुंग) पर आधारित है तो उसे **वायांग गेडॉग्** कहते हैं । इस प्रकार सुवर्णद्वीपीय वायांग कला बहुआयामी है ।

जावा में तो वायांग अब मात्र लोकानुरंजन का साधन है, परंतु बाली में अब भी वह धार्मिक संस्कारों का अनिवार्य अंग है । कोई भी **ओडोलान** (मंदिर-महोत्सव) कोई भी गृहसंस्कार (मतलूबुलान, मविंतेन आदि) वायांग-प्रदर्शन के बिना संपन्न नहीं होता ।

चूंकि रामायण-महाभारत के वायांग-अभिनय इंडोनेशिया के राष्ट्रिय पर्व हैं, अतः शासकीय-स्तर पर भी इनकी मंच प्रस्तुति पूरे वर्ष भर होती रहती है । जावा में रामलीला का स्थान है योग्यकर्ता एवं सुराकर्ता (सोलो) तथा बाली द्वीप में डेनपसार नगर । योग्यकर्ता की रामलीला प्रायः प्रांगण के खुले रंगमंच पर, हर महीने में चार दिन होती है ।

बाली द्वीप की राजधानी डेनपसार में **क्षीरार्णव संस्कृति केंद्र** के **अर्धचंद्र** नामक खुले रंगमंच पर रामलीला प्रतिवर्ष **अस्ति इंस्टीट्यूट** के कलाकारों द्वारा प्रस्तुत की जाती है । इसे देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ ।

जावा तथा बाली की यह रामलीला तकनीकी दृष्टि से **वायांग-वांग** कही जाती है । पुरुषों तथा महिलाओं द्वारा संपादित यह नाट्यप्रस्तुति पूर्णतः भारतीय रंगमंच-परंपरा के अनुकूल है । यह रामलीला म्पू योगीश्वर के रामायण ककवीन के अनुसार होती है ।

सुवर्णद्वीप की रामलीला चाहे वायांग-कुलित कोटि की हो, चाहे वायांग-वांग कोटि की; सभी में पात्र मूक-अभिनय करते हैं । उनके संवाद डलंग (सूत्रधार) बोलता है । बाली का अर्धचंद्र नाट्यमंच पश्चिमाभिमुख है । मंच के दाहिने पार्श्व में सबसे आगे डलंग बैठा था । उसके आसपास, स्त्री-पात्रों से संबद्ध रामायण

ककवीन के अंशों का गायन करने वाली तीन-चार युवतियां तथा सबसे पीछे थे पेलेगोंगन (आर्केस्ट्रा वादक)।

संपूर्ण रामलीला की सफलता का दायित्व डलंग पर होता है। डलंग विद्यावैदुषी-संपन्न, मविंतेन आदि पवित्र संस्कारों से संस्कृत, तंत्र-मंत्र में पारंगत, दैवी शक्ति संपन्न एक अद्‌भुत कलाकार है, जो कि पालथी मारे, सारी रात, एक आसन में बैठा रहता है। संपूर्ण रामकथा का संवाद उसे कंठस्थ होता है।

अद्‌भुत कला है सुवर्णद्वीपीय डलंग की। क्षण भर में ही बादल जैसा गरजना, क्षण भर में ही रो देना और फिर पात्रों के भावानुसार हुंकार करना, ललकारना, सिसकना, प्राणों की भीख मांगना —सब डलंग के लिए सहज है। उठाना, गिराना, पलटना, घूंसा मारना, घसीटना और प्राणांत कर देना— मल्लयुद्ध की इन सारी गतिविधियों को मात्र अपनी वाणी से डलंग जिस कुशलता एवं सामर्थ्य से अभिव्यक्त कर देता है, वह अभूतपूर्व है।

परंतु नाटक तो अंततः नाटक ही है, जिसका वास्तविक उद्देश्य है मनोरंजन। अतः डलंग ढेर सारे मनमाने प्रयोग भी करता रहता है, जिनका मूल रामकथा से कोई संबंध नहीं। डेनपसार की रामलीला में ऐसे अनेक दृश्य मैनें देखें।

राक्षसियों से घिरी देवी सीता अशोक वन में बैठी हैं। उन्हें अनुकूल बनाने की कामना लिये रावण आता है, परंतु सीता के दो टूक उत्तर एवं तिरस्कार से उसकी आशाएं धूल में मिल जाती हैं। वह बलपूर्वक सीता को पकड़ने की चेष्टा करता है और सीता राक्षसियों के व्यूह में चक्रवात सरीखी भागती, तब तक नहीं रुकती, जब तक कि वह वनमहिष-सा हांफता धराशायी नहीं हो जाता। रावण के गिरते ही लोग हंसने लगते हैं।

एक और दृश्य—अशोक वन में बजरंगबली अकेले जूझ रहे हैं राक्षसों से। दस को मारते हैं, तो बीस और आ जाते हैं। अंततः मैदान साफ हो जाता है। एक राक्षस अब भी नहीं मरा, मूर्च्छित पड़ा है। हनुमान् उसे बड़ी उत्कंठा से देखते हैं, कई कोणों से और फिर साइकिल के टायर में हवा भरने का अभिनय प्रारंभ कर

देते हैं । उधर प्रत्येक पंप की हवा के साथ मूर्च्छित राक्षस अष्टावक्र जैसी मुद्रा में टेढ़ा-मेढ़ा खड़ा होने लगता है । प्राय: बीस पंपों के बाद वह एकदम सीधा खड़ा हो जाता है । तभी हनुमान् उसके नितंब पर ऐसी धौल जमाते हैं कि बेचारा गुलेल सा छिटक कर मंच से बाहर जा गिरता है ।

रामलीला के ये गंवई मनोरंजक नुस्खे हूबहू भारत जैसे ही हैं । हनुमान् के कौतुक का क्या कहना । उनकी तंत्रशक्ति का ऐसा जादू है कि दो राक्षस एक-दूसरे को हनुमान् समझ कर गुंथ जाते हैं और बजरंगबली उनके ऊपर सवार हो कर हंसते रहते हैं ।

योग्यकर्ता की रामलीला के भी अनेक अंश मैंने वीडियो कैसेट के माध्यम से देखे । जावा तथा बाली की रामलीलाओं में महत्वपूर्ण भेद यह है कि जावी रामलीला का डलंग संवाद तथा गेय अंश, दोनों कविभाषा (ओल्ड जावानीज) में ही बोलता है । बाली का डलंग सारे संवाद बोली भाषा (बालीनीज) में बोलता है । तथा श्लोकमात्र कविभाषा में गाता है ।

परंतु दृश्यों की प्रस्तुति में बड़ा साम्य है दोनों लीलाओं में । समुद्र का दृश्य, दोनों लीलाओं में श्वेत परिधान धारण किये, दोनों हाथ लहराती प्राय: पचास-साठ युवतियों द्वारा दिखाया गया । जैसे-जैसे सेतु बंधता जाता है, रमणियां बीच में अवकाश छोड़ती दायें-बायें हटती जाती हैं । अद्भुत दृश्य था । विश्वास ही नहीं होता था कि सागर की दूधिया जलराशि पर कोई सेतुमार्ग नहीं है । बाली के कलाकार, कलाकारों की पारंपारिक वेशभूषा तथा अभिनय सब कुछ अद्वितीय है । उसकी अपनी पृथक् पहचान है ।

सुवर्ण द्वीप की रामकथा एवं रामलीला का यह भव्य एवं उदात्त रूप पढ़ कर एवं देख कर ही मेरी आस्था भगवान् प्रजापति के आशीष में दृढ़तर हो गयी, जो उन्होंने आदिकवि वाल्मीकि को दिया था–

यावत्स्थास्यन्ति गिरय: सरितश्च महीतले ।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

सप्तम अध्याय

बालीद्वीप की रामकथा-रामायणककविन

यद्यपि **डा. उलेन बेक** महोदय जावी काव्यपरम्परा का प्राचीनतम ककविन् (काव्य) ८५६ ई. में प्रणीत एक कृति को मानते हैं। यह लघु-कलेवर कृति धर्मोपदेश का प्रकाशन करती है। परन्तु प्राय: समस्त पाश्चात्त्य एवं पौरस्त्य समीक्षक महाकवि **योगीश्वर** प्रणीत *रामायणककविन्* को ही कविभाषा की प्रथम एवं प्रास्थानिक काव्यकृति स्वीकार करते हैं।

बृहत्तरभारत के समस्त उपनिवेशों में प्राय: रामकथा ही वहां की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की आधारपीठ रही है। सिंहलद्वीप की **रामकेत्ति** (रामकीर्ति), थाईदेश की **रामकियेन,** लाओस की **फॉऽलॉक फॉ लाम** (प्रिय लक्ष्मण प्रिय राम) तथा मलेशिया की **हिकायत महाराजा राम** की ही तरह जावा की रामकथा *रामायणककविन्* भी सम्पूर्ण सुवर्णद्वीप की साहित्यिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आचरणसंहिता सम्बन्धी स्थापनाओं की आधारशिला रही है।

योगीश्वर प्रणीत *रामायण ककविन* जावी रामकथा का गौरव-बिन्दु, जिसे हम उसकी उद्गमभूमि भारत (वाल्मीकि रामायण, भट्टिकाव्य, रघुवंश) थाईलैण्ड (रामकियेन) तथा लाओस (फॉ-लॉक फॉ-लाम अर्थात् प्रिय लक्ष्मण प्रिय राम) आदि की परम्परा का एक महनीय संघटक स्वीकार कर सकते हैं। छब्बीस सर्गों तथा २७७८ संस्कृत छन्दों में लिखा गया प्राचीन जावी भाषा (कवि) का यह महान् ग्रन्थ कलेवर एवं काव्यसौन्दर्य —दोनों ही दृष्टियों से समूचे जावी साहित्य का सुमेरु माना जाता है। इसकी मूलकथा सु निश्चित रूप से **वाल्मीकि** एवं **भट्टि** का अनुसरण करती है। कहीं-कहीं यह अनुसरण **'छायानुवाद'** के स्तर तक भी जा

पहुंचा।[१] परन्तु इस ककविन का सारा सौन्दर्य जावा-द्वीप की उन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक प्रवृत्तियों में केन्द्रित है, जो जावी रामकथा के माध्यम से प्रकाशित हुई हैं। जावा का चराचर वातावरण, लोकपरम्परा (पाञ्जी प्रेमाख्यान) खान-पान (भरत द्वारा अयोध्या में वानरसेना की पहुनाई) तथा भौगोलिक परिस्थितियां बड़ी सहजता के साथ *रामायण ककवीन* में रूपायित हुई हैं।

पाण्डुलिपि एवं प्रकाशन

जावा तथा बाली के साहित्य में सर्वाधिक पाण्डुलिपियां *रामायण ककवीन* की हैं। इसका मूल कारण है जावा-बाली में रामकथा की लोकप्रियता तथा इस ग्रन्थ का काव्यसौष्ठव।[२] प्राचीन जावी-वाङ्मय के मर्मज्ञ आलोचक **श्री सी. हुकास** ने इसे जावा की ककवीन-परम्परा का प्रास्थानिक ग्रन्थ स्वीकार किया है। (दि ओल्ड जावानीज रामायण, ऐन इक्जम्पलरी ककवीन् अम्स्टर्डम् १९५८ ई.) अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण जावा में असंख्य बार इस ककवीन की प्रतियां तैयार की गयीं। इस पौनः पुन्येन लेखन की प्रक्रिया में ही रामायण की जावी पाण्डुलिपियों में वह शुद्धि भी नहीं रह गयी जो बाली द्वीप में सुरक्षित रामायण की पाण्डुलिपियों में है। बाली पाण्डुलिपियों की भाषाशुद्धि के सन्दर्भ में **श्री रैफिल्स** का अभिमत पहले ही उद्धृत किया जा चुका है।

---

१. भट्टिकाव्य का शरद् वर्णनः
न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज य कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥
सक्वेह् निकन्तलग तन्हन तन्पतुञ्जुङ् तुञ्जुङ्न्य तन्हन कुरं पदेमेसि कुम्बङ।
कुम्बङ्न्य कप्व मुनि तन्हन तन्पशब्द शब्दन्य कर्णसुक तन्हन तन मनोज्ञ॥
—रामायण ककवीन् २.१९

२. In whole period of the history of javanese literature the Ramayan was considered a classic —डा. थ्योडोर पिगोड (लिटरेचर आव जावा)

रामायण ककवीन की पाण्डुलिपियां मुख्यत: जावा, बाली तथा नीदरलैण्डस् के लीडन यूनिवर्सिटी -ग्रन्थागारों तथा विद्वज्जनों के व्यक्तिगत पुस्तक-संग्रहों में विद्यमान हैं । संस्कृत-ग्रन्थों के संकलन का जो श्रेय *इण्डिया आफिस लाइब्रेरी* (इग्लैंड) को है, ठीक वही श्रेय जावा तथा बाली ग्रन्थों के संकलन के लिये **लीडन विश्वविद्यालय लाइब्रेरी** (नीदरलैण्डस्) को है । इन द्वीपों पर प्राय: डेढ़ सौ वर्षों तक शासन करने के कारण, डच विद्वानों को प्राचीन जावी एवं बाली साहित्य के परिशीलन का अवसर प्राप्त हुआ । *रामायण ककवीन* के नवीनतम अंग्रेजी संस्करण के सम्पादक तथा अनूदक **डा. सुवितो सन्तोसो** ने ग्रन्थ की भूमिका में **प्रो० एच० कर्न**, जो लीडन वि० वि० में प्राच्यभाषाओं के यशस्वी प्रोफेसर थे, और जिन्हें प्राचीन जावी भाषा एवं साहित्य के अध्ययन का जनक स्वीकार किया गया है, की प्रशंसा की है । (पृ. ५ रामायणककवीन, प्रथम खण्ड, इण्टरनेशनल अकादमी आव इण्डियन कल्चर, नई दिल्ली संस्करण) ।

बाली परम्परा के *रामायण ककवीन* की पाण्डुलिपियों में एक और वैशिष्ट्य है । वह यह कि इन पाण्डुलिपियों में मूल जावी पंक्तियों के बीच-बीच में बालीभाषा अथवा मिश्रित जावी-बाली भाषा में टिप्पणी भी दी गयी है । वस्तुत: ऐतिहासिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि ककवीन के एक एक छन्द इन व्याख्याओं के साथ ही गाये जाते थे । इस प्रकार मूल जावी के साथ जुड़ी बाली भाषा की पंक्तियां श्लोक की भाषा-टीका जैसी हैं । जावी पाण्डुलिपियों में यह विशेषता नहीं है ।

डा. थ्योडोर पिगाड ने लीडन वि. वि. लाइब्रेरी में संग्रहीत निम्न पाण्डुलिपियों की सूचना प्रस्तुत की है—

(क) रामायण ककवीन (बाली परम्परा सम्पूर्ण) कोड संख्या २२०१, २२०२, ४४३६ एवं. ४४३८ (टीका सहित)

(ख) रामायण ककवीन (बाली-परम्परा, संग्रह एवं खण्डित अंश) कोड संख्या १८७८, २०५९, २२१७, २३०१, ३८७१, ४४३७, ५२६२, ५३८४ ।

(ग) रामायण ककवीन (बाली-परम्परा संग्रह एवं खण्डित अंश, टीका सहित) कोड. ४४४०, ४४४३, ४४४४, ५०९४ ।

(घ) रामायण ककवीन (जावी परम्परा रामकवि के रूप में प्रख्यात) कोड १७९०, एन. बी. एस् १२१ ।

बाली परम्परा की रामायण-पाण्डुलिपियां द्वीप के एकमात्र राजकीय विश्व-विद्यालय *यूनिवर्सितास् उदयन* के लोन्तार (ताडपत्र) कक्ष में भी प्रभूत मात्रा में संकलित है । ऐसे ही संग्रह जकार्ता, योग्यकर्ता, सेमरांग, सुरावाया तथा अन्य केन्द्रों में भी है । !१

रामायणककवीन का प्रथम प्रकाशन सन् १९०० ई. में प्रो. एच. कर्न द्वारा किया गया, मूल जावी (कवि) लिपि में । कालान्तर में **डा. कर्ण** एवं **जूईनवाल** ने समवेत रूप से ग्रन्थ का डच भाषान्तर भी प्रस्तुत किया । **डा. कर्न** का अनुवाद मात्र ६ सर्गों तक सीमित रहा । शेष सर्गों का अनुवाद **जुईनवाल** ने किया, परन्तु उन अंशों को छोड़कर जिन्हें वे **क्षेपक** (इन्टरपोलेशन्स) की संज्ञा देते हैं । **एच. सी. हुकास** ने कुछ बिखरे अंशों का ही रूपान्तर किया । **डब्ल्यू ऐकेल, डा. पर्वतजरक** तथा **के. वुल्फ** ने भी अपने रामकथापरक शोधनिबन्धों में *रामायण ककवीन* के कुछ अंश रूपान्तरित किये हैं ।

रामायण ककवीन का अंग्रेजी भाषा में आद्यन्त रूपान्तर जावी भाषा के सहृदय विद्वान् तथा आंग्लभाषा के उत्कृष्ट अधीती **डा. सुविंतो सन्तोसो** ने सम्पन्न किया, जिसे तीन खण्डों में *शतपिटक ग्रन्थमाला* (इण्डोएशियन लिटरेचर) के

---

१. सविस्तर द्रष्टव्यः– लिटरेटर आर्वे जावा प्रथम खण्ड पृ. १७७ इन पाण्डुलिपियों का अपेक्षित विवरण डा. सुवितो सन्तोषो ने अपने संस्करण की भूमिका में पृ. ६,७८ पर प्रस्तुत किया है ।

२. द्रष्टव्यः– बी.के.आई.वाल्यूम्स ७३-९४ सन् १९१८-३६ ई. तक । १९१७ से २१ तक डा.कर्न ने तथा १९२२ से ३६ ई. तक जूईनवाल ने वह उच्च भाषान्तर सम्पन्न किया

२५१वें पुष्प के रूप में १९८० ई. में प्रकाशित किया गया है ।!१इससंस्करणमेंमूल जावी छन्दों को रोमन लिपि में प्रस्तुत किया गया है । एक विद्वान् द्वारा किसी अन्य भाषा में सातत्येन किया जाने वाला यह प्रथम सांगोपांग अनुवाद है । !२

ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं ग्रन्थरचना:—

रामायणककवीन के रचनाकार एवं रचनाकाल के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों की विभिन्न व्यक्तिगत धारणाएं पिछले प्राय: सौ वर्षों में यथावसर उत्पन्न एवं विकसित होती रहीं हैं। रामकथा के पाठकों की विज्ञप्ति के लिये उन समस्त धारणाओं का संकलन एवं समालोचन किया जा रहा है ।

१. जावा तथा बाली की स्थानीय परम्परा के अनुसार *रामायणककवीन* की रचना **म्पू योगीश्वर** द्वारा मध्य जावा के मतराम शासक **बलितुंग** के शासनकाल (नवीं शती ई. का अन्तिम चरण एवं दसवीं का प्रथम चतुर्थांश) में की गयी । !३

२. फ्रांसीसी विद्वान् **जार्ज सिडो** ने बौद्ध-ग्रन्थ *सुभूतितंत्र* के सम्पादक तथा *संग ह्याग कमहायानिकन्* के लेखक सम्भरसूर्यावरण एवं *रामायण ककवीन* के लेखक को सम्राट् **शिण्डोक** के शासनकाल (९१९-९४७ ई.) में माना, जो कि बलितुंग की परम्परा में पांचवां नरेश था । !४

३. जावी इतिहास ग्रन्थ *वावद* में **म्पू योगीश्वर** प्रणीत *रामायणकक़वीन* की रचनातिथि **शकाब्द १०१६ (= १०९४ ई.)** दी गयी है । !५

---

१. इन्स्टीट्यूट आव साउदईस्ट ऐशियन स्टडीज, सिंगापुर एवं इण्टरनेशनल अकादमी आफ इण्डियन कल्चर, नई दिल्ली के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित ।

२. रामायण ककवीन के श्लोकों का नागरी लिप्यन्तरण तथा हिन्दी अनुवाद प्रथम बार मैंने स्वयं किया रहा है ।

३. द्रष्टव्य:– डा. सुवितो सन्तोसो के रामा. कक. संस्करण की भूमिका पृ.१७ ।

४. द्रष्टव्य:– डा. वैजनाथ पुरी कृत सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास पृ. ३६५ ।

५. द्रष्टव्य:– डा. रमेशचन्द्र मजूमदार कृत सुवर्णद्वीप, द्वितीय खण्ड पृ. ६५

४. प्रसिद्ध जावी विद्वान् **डॉ. पर्वतजरक** *रामायण ककवीन* को निश्चित रूप से मध्य जावा के मतराम शासन की उपलब्धि मानते हैं । इस शासन की अवधि **सन्नाह** (८वीं शती का पूर्वार्ध) से **बवा** (९२४-२७ ई.) तक व्याप्त है । **बवा** के उत्तराधिकारी **शिण्डोक** ने पूर्वी जावा का मतराम -साम्राज्य संस्थापित किया ।[१]

५. **डॉ. ब्राण्डेस** एवं **डॉ. स्टुटरहीम** भी **डॉ. कर्न** की धारणा के विरोध में *रामायण ककवीन* को प्रभूत प्राचीन (इट बिलांग्स टू ए मच अर्लियर पीरियड) कृति स्वीकार करते हैं ।[२]

६. **डॉ. थ्योडोर पिगाड** ने आठवीं, नवी तथा दसवीं शती के मध्यजावी राजकीय व्यवहारों की चरितार्थता देखते हुए, *रामायण ककवीन* को मतराम शासकों के ही युग की कृति स्वीकार की है ।[३]

७. *रामायण ककवीन* के प्रथम सम्पादक एवं प्रकाशक डच विद्वान **डा. एच. कर्न** ने इसे १३वीं शती के प्रारम्भिक चरण की कृति स्वीकार किया है ।[४]

८. पूर्वी जावायुग (अर्थात् १०वीं शती के प्रारम्भ से) के प्राचीन जावी ककवीनों में लंङ्ङ लगेड सरीखे शब्दों का तथा ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण का प्रचुर प्रयोग हुआ है । परन्तु *रामायण ककवीन* में इन शब्दों तथा मंगल का सर्वथा अभाव देखते हुए **जोएटमुल्डर** ने भी (कलगवन पृ. २३१-३२) रामायण को पूर्वजावी साम्राज्य से पूर्व की कृति मानने का संकेत किया है ।

---

१. द्रष्टव्य– वही पृ.६५

२. द्रष्टव्य– वही, पृ.६५

३. द्रष्टव्यः– दि ओल्डेस्ट ककवीन ह्विच हैज कम डाउन टु अस इज दि रामायण, ह्विच वाज प्राबेवली रीटेन इन दि पीरियड ऑव दि सुजरेन्टी आव सेण्ट्रल जावा, दीज़ किंग्स रिजाइडिंग इन दि ओल्ट डिस्ट्रिक्ट आव मतराम । इन वाकेबुलरी दि रामायन रिजेम्बुल्स सम आव दि ओल्डेस्ट रायल चार्टस् ह्विच वेयर इशूज इन दि एट्थ नाइन्थ एण्ड टेन्थ सेञ्चुरीज । – लिटरेटर आव जावा, प्रथम खण्ड पृ. १७६

४. द्रष्टव्य– डा. मजूमदार कृत सुवर्णद्वीप, द्वितीय खण्ड पृ. ६५

९. और अन्ततः संस्करण की भूमिका में डा. सन्तोसो ने पारम्परिक मत (बलितुंग-युगीन कृति) प्रस्तुत करते अपना अभिमत इन शब्दों में प्रकट किया है— **दि रामायण ककवीन इज ए प्रोडक्ट आव काण्टीन्यूअस रिशेपिंग एण्ड रिमाडेलिंग** (भूमिका पृ. १७)।

इन मतों की समीक्षा करने से पूर्व मैं अपने व्यक्तिगत अध्यवसाय एवं चिन्तन की ओर विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा और वह है *रामायण ककवीन* की पूर्ववर्ती-परवर्ती सीमा।

यद्यपि **डा. कर्न** का मत है कि रामायण का कर्ता संस्कृतज्ञ नहीं था। अपने ग्रन्थ का प्रतिपाद्य उसे किन्हीं ओर स्रोतों से प्राप्त हुआ। परन्तु **डा. पर्वतजरक** ने **कर्न** के मत का खण्डन करते हुए कहा कि **ककवीनकार** *वाल्मीकिरामायण* से सुपरिचित था। (टी. बी. जी., १९३२ ई. पृ. ११३) **श्री एम. घोष** ने ककवीनकार को *भट्टिकाव्य* से परिचित बताते हुए उसकी कृति को भट्टिकाव्य का आंशिक अनुवाद तथा आंशिक आहरण (पार्शियली ए ट्रांसलेशन एण्ड पार्शियली एन अडाप्टेशन) बताया है।[१] परन्तु ककवीन के गहन अध्ययन से इन विद्वानों के मत एकांगी तथा अपूर्ण प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः **ककवीनकार** वाल्मीकि एवं भट्टि-दोनों से भलीभांति परिचित था। और वह निश्चय ही संस्कृत भाषा का गहन अध्येता था। *रामायण ककवीन* का प्रारम्भ (दशरथ वर्णन) ही, किसी भी संस्कृत काव्यमर्मज्ञ को यह विश्वास कराने में समर्थ है कि कवि **भट्टिकाव्य** को **निदर्शन** मानकर ग्रन्थ रचना कर रहा है। ग्रन्थ के द्वितीय सर्ग में, राम-लक्ष्मण की विश्वामित्र के साथ की गई यात्रा के सन्दर्भ में ककवीनकार प्रकृतिवर्णन के संदर्भ में पूर्णतया भट्टि पर आश्रित प्रतीत होता है। इसका एक विलक्षण प्रमाण मुझे ककवीन के निम्नलिखित वसन्ततिलका छन्द में देखने को मिला।[२]

---

१. द्रष्टव्यः– जर्नल आव दि ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी, खण्ड-३, पृ. ११३।

२. नन तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम्।

सक्वेह् निकन् तलग तन्हन. तन् पतुङ्गुङ्
तुङ्गुङ्न्य तन्हन कुरङ् पदमेसि कुम्बङ्।
कुम्बङ् न्य कप्व मुनि तन्हन तन् पशब्द
शब्दन्य कर्णसुक तन्हनतन् मनोज्ञ ॥२.१९।

रामायणककवीन का यह शरद् वर्णन परक छन्द *भट्टिकाव्य* के ही **न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजम्** आदि का अविकल भाषान्तर है। कवि ने न केवल **भट्टि** के श्लोक का अभिप्राय, बल्कि उसकी आलंकारिक सुन्दरता को भी अक्षत रखा है। अत: **म्पू योगीश्वर** का भट्टि-अनुवर्तित्व सन्देह से परे है। यदि ककवीनकार संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित न होता तो छन्द, अलंकार एवं अभिप्राय का इतना विश्वसनीय एवं नाटकीय रूपांकन अपनी कविता में कर ही न पाता। अत: इस श्लोक के आधार पर *रामायणककवीन* के रचनाकाल की पूर्वसीमा, भट्टिकाव्य के अनन्तर ही स्वीकार की जानी चाहिये। **भट्टि** ने अपनी कृति **वलभी नरेश श्रीधरसेन** के शासनकाल में लिखी। यदि *भट्टिकाव्य* को भारत से जावा आने एवं सुप्रचलित होने में पचास वर्ष का भी समय लगा हो तो निश्चय ही ककवीन की पूर्वसीमा ईसा की नवीं शती सिद्ध होती है।

परन्तु **म्पू योगीश्वर** को मात्र **भट्टि** से ही परिचित मानना उचित नहीं है। वानरवाहिनी[१] तथा राक्षसवाहिनी[२] के वीरों की नामगणना तथा दैनिक युद्ध का क्रम इस तथ्य का प्रबल प्रमाण है कि कवि ने *वाल्मीकि रामायण* को अच्छी तरह आत्मसात् किया था। एक और स्पष्ट संकेत मिलता है, वह यह कि ककवीनकार को सम्भवत: *वाल्मीकिरामायण* का मूलरूप (बालकाण्ड से युद्धकाण्ड तक) ही प्राप्त हुआ था, क्योंकि अपने ग्रन्थ की समाप्ति योगीश्वर राम के राज्याभिषेक से ही

न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥ भट्टि.

१. गज, गवय, गवाक्ष कुमुद, सुरभि, सुषेण, अर्क, अनंग, जम्भ, बृहद्बल, दरीमुख, प्रजंघ, गन्धमादन, शतबलि, द्विविद, मैन्द, नील, नल, अंगद, सुग्रीव आदि।

२. धूम्राक्ष, विद्युज्जिह्व, शुक, सारण, कुम्भ, निकुम्भ, अतिकाय, अकम्पन, नरान्तक, महोदर, प्रहस्त, मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि।

करता है । क्षेपकभूत तथा रामकथा की मूल धारा से सर्वथा विच्छिन्न 'उत्तरकाण्ड' के अन्तर्विरोधी वृत्तों से **म्पू योगीश्वर** का परिचय नहीं है । इतना ही नहीं, कवि कालिदासीय कविता का भी मर्मज्ञ प्रतीत होता है ।

रामायणककवीन की परवर्ती सीमा क्या है ? **डॉ. सुवितो सन्तोसो** ने *नीतिशास्त्र*[१], **नागरकृतागम**[२], **पाञ्जो प्रेमाख्यान**[३], **कुटारमानव** एवं **कृतवास** आदि ग्रन्थों के उद्धरणों की रामायण ककवीन के समानाभिप्रायी श्लोकों के साथ अत्यन्त रोचक समीक्षा की है जो स्वयं में पर्याप्त है । मैं केवल इतना कहना चाहता हूं इस संदर्भ में कि इन ग्रन्थों में एकमात्र *कुटार-मानव* ही ऐसा है जिसका ककवीन में 'नाम्ना' उल्लेख हुआ है । अन्य ग्रन्थों के प्रतिपाद्य साम्य की सम्भावना भर की जा सकती है । जैसा कि **डॉ. संतोसो** ने प्रयास किया है ।

लंकाविजय के अनन्तर पति द्वारा तिरस्कृत सीता, अपने अपमान दैन्य से सन्तप्त विभीषण की पुत्री त्रिजटा को सान्त्वना देती हुई कहती है– 'विभीषण को यह समाचार बता देना उचित है, क्योंकि वह *कुटारमानव* की देशनाओं के मर्मज्ञ हैं ।'

कुटारमानव एक विधिशास्त्रीय ग्रन्थ है । भारत में इस नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है । परन्तु इस ग्रन्थ की प्रकृति के सैकड़ों स्मृति ग्रन्थ एवं सूत्रग्रन्थ (मानव धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र आदि) विद्यमान हैं । सम्भव है *कुटारमानव* की सर्जना उन्हीं भारतीय विधिशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर हुई हो । *कुटारमानव* के कर्तृत्व का श्रेय सम्राट् **राजसनगर** (हयमवुरुक १३५०-८९) के प्रख्यात महामात्य **गज-हमद**[४] को दिया जाता है जिसकी मृत्यु १३६४ ई. में हुई ।

---

१. नीतिशास्त्र ३.२ तथा १.१० के प्रतिपाद्य का साम्य रामायण के २४.७१,७२ एवं ३.७७ संख्यक पद्य से है ।

२. नागर: ६९.२, तथा ७८.२ का प्रतिपाद्य-साम्य -रामायण के ३.७७ एवं. ३.७० संख्यक पद्य से ।

३. रामायण कक. के २५वें सर्ग के तीसरे श्लोक में 'पाञ्जी-कथा' का उल्लेख ।

४. द्रष्टव्य: सुवर्णद्वीप - डॉ. आर.सी. मजूमदार पृ-. ३३८ । 'गजहमद' एसल् सूर्यादिनाथ,

रामायण ककवीन में नाम्ना उल्लिखित होने के कारण *कुटारमानव* (१४वीं शती का पूर्वार्ध) को हम उसकी परवर्ती सीमा स्वीकार कर सकते हैं। यदि **डॉ. संतोसो** द्वारा प्रदर्शित *नागरकृतागम* का भी प्रभाव ककवीन के कुछ अंशों पर मान लिया जाये तो भी परवर्ती सीमा यही होगी। क्योंकि राजसनगर शासनकाल में ही १३६५ ई. में प्रपञ्च ने इस ग्रन्थ की रचना की थी।

इस प्रकार **डा. संतोसो** के ही निर्णय **बलितुग** के शासन काल से लेकर राजस-नगर के शासनकाल तक को मैं और सुनिश्चित प्रमाणित शब्दों में कहना चाहूंगा कि *रामायण ककवीन* की पूर्वसीमा *भट्टिकाव्य* (का जावा में आगमन काल तथा परवर्ती सीमा *कुटारमानव* (१३६४ ई. गजहमद की मृत्युतिथि) है। इस तरह नवीं से १४वीं शती के मध्यवर्ती ५०० वर्षों में इस महान् ककवीन का अंकुरण पल्लवन तथा प्रतिफलन सम्पन हुआ।

उपर्युक्त विवरण में मात्र **डा. कर्न** को छोड़कर शेष समस्त विद्वानों ने *रामायण ककवीन* के लेखक को या तो **बलितुंग** एवं **शिण्डोक** का समसामयिक माना है या फिर उन्हीं के आस-पास। **मध्यजावी-शासन** में रामायण की रचना का सीधा अर्थ है—सम्राट् सञ्जय से **शिण्डोक** तक के शासन के २०० वर्ष। **शिण्डोक** (९२९-४७ ई.) ही पूर्वी जावा के मतराम साम्राज्य का भी संस्थापक है।

इस प्रकार रामायण की रचना निश्चित रूप से **बलितुंग** अथवा उसके चतुर्थ उत्तराधिकारी **प्रतापी शिण्डोक** के शासनकाल में या फिर उन्हीं २०० वर्षों में कभी हुई होगी। परन्तु उसका संस्करण-परिवर्धन **मजपहित साम्राज्य** (१२९४-१४७८ई.) के मध्यकाल अर्थात् **सम्राट राजसनगर** के शासनकाल तक होता रहा। *पाञ्जी-प्रेमाख्यान,* जिसका मूल नायक कडिरी नरेश **कामेश्वर प्रथम** (११०६-३५ ई.) माना जाता है, १२वीं शती के पूर्वार्ध का साहित्य है। इस प्रकार रामायण में *पाञ्जी कथा* (पुत्री मपाञ्जि) का उल्लेख भी उसे ११३५ ई. के पूर्व की ही कृति सिद्ध करता है। पाञ्जी के सन्दर्भ में कुछ नये तथ्य प्रस्तुत करना चाहूंगा।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका १५वां संस्करण १९७४ ई. पृ. ८२६।

म्पू धर्मज ने अपने *स्मरदहन ककवीन* में **सम्राट् कामेश्वर** (स्मर) तथा उसकी राजधानी दह अथवा कडिरी (दहन) का स्मरण मुद्रालंकार के माध्यम से किया है। कामेश्वर की पत्नी श्रीकिरण जंगल राज्य की अद्वितीय सुन्दरी थी। **कामेश्वर** तथा **श्री किरण** को जावी परम्परा में काम एवं रति का अवतार माना गया है। इन्हीं दोनों की प्रणयगाथा जावा के लोक मानस में *पाञ्जी प्रेमाख्यान* के रूप में प्रतिष्ठित हुई। थाई एवं कम्बुज तक पाञ्जीकथाओं की कीर्ति व्याप्त हो गयी और थाई सम्राट् ने तो १९वीं शती में पाञ्जी कथानक पर एक स्वतंत्र नाटक भी लिखा।

डा. संतोसो ने *पाञ्जीकथा* के सन्दर्भ में **श्री सी.सी. वर्ग** तथा **डा. पवर्तजरक** के मतों का हवाला दिया है, जो उन्हें क्रमश: १२७७-१४०० ई. के बीच तथा १४वीं शती में रखते हैं। **वर्ग** *पाञ्जीकथा* में उल्लिखित इनु कोरिपन अर्थात् पाञ्जी का समीकरण **मजपहित सम्राट हयम् वुरुक** (१३५०-८९ ई.) के साथ करते हैं। इससे **डॉ. संतोसो** का निष्कर्ष यह है कि *रामायण ककवीन* का परिवर्तन-परिवर्धन १४वीं शती के अन्त तक होता रहा।

परन्तु **वर्ग** या **परवर्तजरक** की धारणा के आधार पर *पाञ्जीकथा* का तिथि निर्णय और फिर उसके भी आधार पर *रामायण ककवीन* को १४वीं शती[१] तक 'घसीटना' एकपक्षीय प्रयास मात्र है। मैंने अभी बाली के मचपत छन्दों में लिखे गये एक पाञ्जी प्रेमाख्यान गेगुरितान पांकग ररास का अध्ययन किया, जिसमें कहुरिपन (जंगल राज्य की राजधानी जिसे सिंहसारि कहा गया कलान्तर में) के राजकुमार पाञ्जी रदेन मंत्री तथा दह (पंजलु राज्य की राजधानी दह, दहन अथवा कडीरी) की राजकुमारी रदेन गलुह की प्रेमकथा वर्णित है। कुमार रदेन मंत्री एक तूफान में उड़कर दह के अन्त: पुर उद्यान में जा गिरता है। स्वयं को राजकुमार न बताकर पाकंग ररास नामक एक अन्त्यज बताता है और इसी कारण राजकन्या से प्रेम करने के दण्ड-स्वरूप राजाज्ञा-वश महामात्य द्वारा मारा भी जाता है। परन्तु

---

१. यद्यपि डा. कर्न, जुइनबॉल, सी.सी. बर्ग एवं डा. पर्वतजरक ने मूल रामायण ककवीन में मिलावट (इण्डरपोलेशन) मानी है। परन्तु श्री हुकास इसके सर्वथा विपरीत हैं। वह संम्पूर्ण ग्रन्थ को एक ही सातत्य में लिखी गयी मौलिक कृति मानते हैं।

शिव की कृपा से पुन: उसे प्राणदान मिलता है और अन्तत: ज्ञात होता है कि रदेन गलुह उसकी अपनी ही बहन है । दोनों ही प्रेमियों का विवाह सम्पन्न हो जाता है ।

ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि मजपहित नगर एवं साम्राज्य के संस्थापक **कृतराजस जयवर्धन**(१२९४-१३०९ ई.) की दो पत्नियां थीं । राजमहिषी गायत्री से उसको दो पुत्रियां और मलय राजकन्या से जयनगर नामक पुत्र प्राप्त हुआ । पिता की मृत्यु के बाद यही जयनगर **श्री सुन्दर पाण्ड्यदेवाधीश्वर विक्रमोत्तुंगदेव** के नाम से मजपहित साम्राज्य का शासक बना । अपनी दोनों सौतेली बहनों को सम्राट् ने 'कहुरिपन की राजकुमारी तथा दह की राजकुमारी' सरीखी उपाधियां दीं । अर्धपुष्ट प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सम्राट् जयनगर अपनी इसी सौतेली बहन (दह की राजकुमारी) से विवाह करना चाहता था (ताकि कोई अन्य सामन्त उससे विवाह करके सिंहासन का दावेदार न बन सके) ।

परन्तु सम्राट् के अधर्म प्रस्ताव का राजसभा में घोर विरोध हुआ । दह की राजकुमारी सम्राट् की सगी बहन थी । इस घटना के बाद ही राजवैद्य तञ्ज ने सम्राट् के फोड़े की शल्यक्रिया करते समय, उसका वध कर डाला और स्वयं भी महामात्य गजमद के हाथों मारा गया ।[१] ये सारी घटनाएं जावी इतिहास द्वारा प्रमाणित हैं ।

अब इस इतिहास के परिप्रेक्ष्य में *गेगुरितान पाकंग ररास* को देखें । निश्चित रूप से यह पाञ्ज़ी प्रेमाख्यान सम्राट् जयनगर और उसकी सौतेली बहन के प्रेम-सम्बन्ध पर आधारित है । दह के महामात्य द्वारा अन्त्यज पाकंग ररास का वध निश्चय ही सगी बहन से विवाहेच्छुक अतएव संस्कारहीन अन्त्यज सरीखे **सम्राट् जयनगर** के तञ्च द्वारा किये गये वध का रूपक मात्र है । सम्राट् जो स्वयं नहीं कर सका अपने जीवन में, गेगुरितान लेखक ने उसे काव्य में पूर्ण करा दिया है, कुछ

१. इस सन्दर्भ में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं । कहा जाता है कि अपनी पत्नी के साथ अभद्र आचरण करने के कारण राजवैद्य ने अवसर पाकर सम्राट् का वध कर डाला । बाली की परम्परा के अनुसार सम्राट् ने तञ्च नहीं बल्कि महामात्य गजहमद की पत्नी के साथ ऐसा आचरण किया था । उसकी मृत्यु के बाद उसकी सौतेली बहन त्रिभुवनोत्तुंगदेवी विष्णुवर्धिनी (१३२८-५० ई.) नाम से सिंहासन पर बैठी ।

दैवी चमत्कारों का कथा में प्रवेश दिखाकर । यह मेरा अपना अन्वेषण है । इतिहास और कल्पना के बीच में **पाकंग ररास** की मृत्यु भेदक रेखा है ।

अब प्रश्न यह है कि पाञ्जीनायक **सम्राट् कामेश्वर** (११०६-३५ ई.) को मानें (जिसे स्मरदहनकार ने अमरत्व दिया है) या फिर बाली द्वीप के गेगुरितान पाकंग ररास के संकेतित नायक **सम्राट् जयनगर** (१३०९-२८ ई.) को या फिर वर्गाभिमत एवं **डा. संतोसो** द्वारा दृढ़तापूर्वक स्वीकृत **सम्राट् राजसनगर हयम् वुरुक** (१३५०-८९ई.) को ? इसलिये मेरा अनुरोध यह है कि विभिन्न पाञ्जी ग्रन्थों के नायकों को महत्व न देकर पाञ्जी शब्द से मूल पाञ्जीनायक कामेश्वर को ही ग्रहण करना चाहिये । अत: रामायण में पाञ्जी का उल्लेख उसे हयमवुरुक तक नहीं, कामेश्वर तक ही अर्वाचीन सिद्ध करता है । रही बात *कुटारमानव* के नाम्ना उल्लेख की तो उस सन्दर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त है कि महामात्यगजहमद द्वारा उसका लेखन एक सम्भावना मात्र है, उसका कोई ठोस साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता । नीतिशास्त्र एवं नागर कृतागम का भावसाम्य भी निश्चित रूप से इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि ये अंश *रामायण ककवीन* के प्रभाव में लिखे गये हैं, न कि ककवीन के वे अंश इन ग्रन्थों के प्रवाह में !

इस प्रकार *रामायणककवीन* की विश्वसनीय तिथि **सम्राट् बलितुंग** का शासन काल तथा उसके विकास की तिथि ११वीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध होती है ।

सन्दर्भ के प्रारम्भ में बताया जा चुका है कि *रामायणककवीन* के लेखन का श्रेय जावी-इतिहास ने **म्पू योगीश्वर** को दिया है । **डा. संतोसो** ने इस सन्दर्भ में भी प्रभूत सामग्री एकत्र की है और अन्तत: यह निष्कर्ष निकालने का यत्न किया है । योगीश्वर कोई व्यक्तिगत नाम नहीं है, बल्कि वाल्मीकि का पर्याय है । उनके अनुसार यह शब्द मुस्लिम सूफी संत सुनान काली जग (आदिवली) को संकेतित करता है जो कि जावा की मुस्लिम परम्परा के अनुसार रामायण का रचनाकार है । **श्री हुकास** भी योगीश्वर को व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं मानते है। परन्तु **डा. पर्वतजरक** इस धारणा के घोर विरोधी हैं और वह योगीश्वर को ही रामायण का लेखक मानते हैं, जो किसी की उपाधि नहीं बल्कि स्वयं एक व्यक्तिविशेष था ।

यद्यपि योगीश्वर विषयक दोनों ही पक्ष **डा. संतोसो** ने स्वयं प्रस्तुत कर दिये हैं । कुछ अवान्तर तर्क-वितर्क की आवश्यकता नहीं । परन्तु यह रहस्य समझ में नहीं आता कि वाल्मीकि को योगीश्वर मानना तथा अपने मत के समर्थन में मुस्लिम सूफी संत **आदिवली** (योगीश्वर) को ले आना और फिर एक ऐसे आकाशकुसुम व्यक्तित्व वाले योगीश्वर को ककवीन का लेखक मानना कहां तक तर्क सम्भव है ? वाल्मीकि संस्कृत रामायण के लेखक हैं न कि रामायण ककवीन के ! रामायण-ककवीन का तो कोई न कोई स्थानीय लेखक होगा ही ! और यदि यह लेखक जावी बाबद तथा बाली परम्परा से समर्थित **म्पू योगीश्वर** है, तो इसमें अविश्वास करने की गुंजाइश ही कहां है ? यदि जावा की मुस्लिम परंपरा (जो निश्चय ही पंद्रहवीं शती के बाद की है । उसके पूर्व तो जावा विशुद्ध हिन्दु राज्य था) आदिवली सूनान कालिजग जैसे सूफी संत को रामायण रचना का श्रेय दे सकते हैं तो मुस्लिम पूर्व बाली एवं जावा की ठोस हिन्दू परम्पराओं की उपेक्षा का क्या औचित्य है जो म्पू योगीश्वर को रामायणककवीन का सर्जक मानती है ? और फिर ककवीन की रचना से पांच सौ वर्ष बाद जावा में आने वाला कोई मुस्लिम संत उसका लेखक होगा ?

कथा-विन्यास एवं कलेवर : रामायणककवीन कलेवर तथा साहित्य सौन्दर्य दोनों ही दृष्टियों से जावा की एक महनीय कृति है । इसमें कुल २६ सर्ग तथा २७७८ छन्द हैं । आर्या, मालिनी, वसन्ततिलका, वंशस्थ, पृथ्वी स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीडित के साथ ही साथ कवि ने २६ वें सर्ग में 'दण्डक' जैसे विशिष्ट छन्द का भी प्रयोग किया है । जिससे उसका छन्दः शास्त्रीय प्रागल्भ्य मुखर हो उठता है । ग्रन्थ का सर्गानुसारी प्रतिपाद्य क्रम इस प्रकार है —

१. दशरथ प्रतापवर्णन, पुत्रेष्टियज्ञ, रामजन्म, विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण-याचना ।

२. राम-लक्ष्मण द्वारा विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा, ताड़कावध, मारीच-उत्सादन, मिथिला में धनुर्भंग तथा परशुराम-पराभव ।

३. राज्याभिषेक, कैकयी द्वारा व्याघात, राम वनगमन, दशरथ-मरण, भरत द्वारा रामानुनय, राम द्वारा भरत को सान्त्वना एवं राजधर्मोपदेश ।

४. दण्डकप्रवेश, विराधवध, सुतीक्ष्णाश्रम-निवास, शूर्पणखा का लक्ष्मण से प्रेम एवं वैरूप्य, खरदूषण-त्रिशिरा-वध,

५. शूर्पणखा द्वारा रावण प्रबोध, मारीच की सहायता से रावण द्वारा सीता हरण ।

६. रावण द्वारा जटायु-वध, राम-लक्ष्मण का सीतान्वेषण, जटायु से सीता-हरण-वृत्त का ज्ञान, दीर्घबाहु (योजनबाहु) वध, शबरी से भेंट, राम-सुग्रीव मैत्री, सप्ततालोच्छेदन, वालिवध, वर्षागमन ।

७. सीतावियोग में राम का सन्ताप, वानरों का सीतान्वेषणाभियान, स्वयंप्रभा का छल, सम्पाति द्वारा दिशा-निर्देश ।

८. हनूमान् का आकाशमार्ग से लंकागमन, अशोकवन में सीतादर्शन, रावण द्वारा सीता का उत्पीड़न, हनुमान्-सीता-वार्तालाप, सीता से पत्र एवं चूड़ामणि की प्राप्ति, अशोक वन-विध्वंस ।

९. अक्षय सहित अनेक राक्षससैनिकों का वध, इन्द्रजित् द्वारा हनूमान् का बन्धन, रावण द्वारा मृत्युदण्ड, विभीषण द्वारा दूत के अवध्यत्व की मंत्रणा ।

१०. हनूमान्-रावण-संवाद, हनूमान् के औद्धत्य से क्रुद्ध रावण का पूंछ जला देने का आदेश ।

११. लंकादहन, सीता से विदा, राम को पत्र एवं चूड़ामणि समर्पण, राम की प्रणयवेदना, वानर-सैन्य का प्रस्थान ।

१२. लंका में पौर-जीवन-चर्या, उन्मुक्त कामकेलियों का वर्णन, राक्षस-प्रमुखों की मंत्रणा ।

१३. रावण द्वारा परामर्श, प्रहस्त द्वारा युद्ध की मंत्रणा, विभीषण द्वारा न्याय, षड्गुण तथा जनानुराग द्वारा शान्तिस्थापना की मंत्रणा ।

१४. सुमाली एवं कुम्भकर्ण द्वारा विभीषण का समर्थन, रावण द्वारा विभीषण का अपमान ।

१५. विभीषण की राम के प्रति शरणागति, सागर के प्रति राम का रोष, वरुण द्वारा सेतुनिर्माण की मंत्रणा ।

१६. नाल (नल) द्वारा सेतु-निर्माण, वानरसेना का सागर-अतिक्रमण, सुवेलपर्वत विहार ।

१७. रावण द्वारा राम-लक्ष्मण के मायावी कटे शीश का प्रदर्शन, सीता का चितारोहण, त्रिजटा का अपने पिता विभीषण के पास गमन, सीता को सत्यनिवेदन ।

१८. रावण द्वारा शुक-सारण सम्प्रेषण, शुक-सारण द्वारा रावण को सन्धि की मंत्रणा, अंगद-दौत्य ।

१९. युद्ध के लिये उभयपक्ष की तैयारी, युद्धारम्भ, युद्धवर्णन ।

२०. राक्षससेना का विनाश, इन्द्रजित् का अलक्ष्य होकर रात्रि में कूटयुद्ध, राम लक्ष्मण का नागपाश-बन्धन, विभीषण द्वारा इन्द्रजित् का उपद्रवण, राक्षस पक्ष का विजय महोत्सव ।

२१. नागपाश में जकड़े राम-लक्ष्मण का सीता को प्रदर्शन, सीता का विलाप एवं मूर्च्छा, विभीषण द्वारा त्रिजटाप्रबोध, देवों तथा ऋषियों द्वारा राम की स्तुति, राम को अपने देवत्व की अनुभूति, गरुड द्वारा नागपाश मुक्ति, धूम्राक्ष-प्रकम्पन एवं प्रहस्त-वध ।

२२. कुम्भकरणजागरण, कुम्भकर्ण द्वारा रावण-तिरस्कार, सुग्रीव की कुम्भकरण से मुक्ति, कुम्भकर्ण का वैरूप्य ।

२३. राम-लक्ष्मण द्वारा कुम्भकर्ण-वध, इन्द्रजित् द्वारा जृम्भकास्त्र से समस्त वानर-सेना का विनाश, हनूमान् द्वारा हिमालय से औषधि-आनयन तथा वानरसेना का पुनर्जीवन, लक्ष्मण द्वारा इन्द्रजित्-वध ।

२४. रावण का युद्धार्थ-निष्क्रमण, लक्ष्मण-शक्ति एवं विभीषण द्वारा उपचार, राम द्वारा ऐन्द्ररथ की प्राप्ति, रावणवध, विभीषण-विलाप, राम द्वारा विभीषण प्रबोध तथा लंका-प्रशासनार्थ आदेश, राम द्वारा अष्टव्रतोपदेश, रावण का और्ध्वदेहिक, हनूमान् द्वारा सीता को विजय का समाचार, सीता की अग्निपरीक्षा, शिवादि देवों द्वारा सीता की पवित्रता का अनुमोदन, हनूमान् का अयोध्या-प्रस्थान, विभीषण-सुग्रीव की अयोध्या-यात्रा ।

२५. राम द्वारा सीता के प्रति यात्रापथ-वर्णन, भरद्वाज-आश्रम में आगमन ।

२६. राम-भरत-पुनर्मिलन, अयोध्या-महोत्सव एवं भोज का वर्णन, रामायण-माहात्म्य तथा रचनाकार की विनम्र प्रणति ।

प्रमुख नवीनताएँ एवं परिवर्तन :

वाल्मीकि एवं **भट्टि** पर आश्रित होते हुए भी **म्पू योगीश्वर** ने प्रायः निरपेक्ष-भाव से कथा को विकसित किया है । कवि ने मूल वाल्मीकि-कथा को सपाट ढंग से लिखने का प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न में निश्चय ही मूलकथा का अनपेक्षित विस्तार कम हो गया है, अनेक पात्र कम हो गये हैं, अनेक प्रकरी-वृत्त कम हो गये हैं, अनेक नाम परिवर्तित हो गये हैं और ढेर सारे नये कथांशजुड़ भी गये हैं । इसके अतिरिक्त कवि ने भारतीय मूलकथा पर जावा द्वीप का रंग चढ़ा दिया है । यदि यज्ञ हो रहा है तो हविष्य-सामग्री, भारत की नहीं जावा की वर्णित की गयी है । यदि प्रकृति-वर्णन का सन्दर्भ है तो सारी प्रकृति—पशु-पक्षियों, फूलों-लताओं के नाम तक जावा द्वीप के हैं । यदि भोज का वर्णन है तो सारे पकवान जावा के हैं । इस सन्दर्भ में संक्षिप्त चर्चा अगले अनुच्छेदों में की जायेगी ।

इस प्रकार **म्पू योगीश्वर** ने अपनी कविता में एक अद्भुत स्वाद भर दिया है । जब हम महेन्द्र और विन्ध्य पर जावा की प्रकृति के दर्शन करते हैं तो एक अद्भुत सहज आह्लाद की स्वतः सृष्टि होती है । वस्तुतः *रामायण ककवीन* भारत एवं यवद्वीप की समन्वित संस्कृति का आकर-ग्रन्थ प्रतीत होता है । कुछ प्रमुख नवीनताएं हमारा ध्यान आकृष्ट करती है—

१. विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण की याचना के सन्दर्भ में कहीं भी वसिष्ठ का नामोल्लेख नहीं है ।

२. ताड़कावध-प्रसंग से मारीच को वायव्यास्त्र से दूर फेंकने का वर्णन तो है; परन्तु कवि ने सुबाहु का कोई उल्लेख नहीं किया ।

३. कवि परमेश्वर (शिव) के धनुष को पिनाक न कहकर दिव्य-गाण्डीव (२-५७) कहता हैं ।

४. राम-सीता के अतिरिक्त लक्ष्मण आदि के विवाह का सन्दर्भ भी कवि ने छोड़ दिया है ।

५. रामवनगमन सन्दर्भ में मंथरा का कोई उल्लेख नहीं । कैकयी स्वयं ईर्ष्याग्रस्त होकर भरत का राज्याभिषेक, राम का वनवास मांगती हैं ।

६. तमसातट पर राम नागरिकों के साथ ही साथ सुमंत्री (सुमंत्र) को भी रात में ही छोड़ कर चले जाते हैं । मूल कथा में सुमंत्र गंगा तट तक उन्हें पहुंचाते हैं ।

७. भरत द्वारा तमसातटवर्ती भयानक जंगलों एवं बीहड़ो में राम का अन्वेषण करना **म्पू योगीश्वर** की नई कल्पना है । तमसा का भीषण वर्णन अपरिचयमूलक है ।

८. चित्रकूट यात्रा में **वाल्मीकि** का कोई उल्लेख नहीं जबकि **अत्रि**-आश्रम में राम के जाने का वर्णन है ।

९. शूर्पणखा सर्वप्रथम लक्ष्मण से ही विवाह का प्रस्ताव रखती है । लक्ष्मण उसे राम के पास तथा राम उन्हें लक्ष्मण के पास भेजते हैं । लक्ष्मण केवल नाक काटते हैं जबकि मूल कथा में 'नाक-कान' दोनों ।

१०. मूलकथा में शरविद्ध मारीच स्पष्टत: सीता और लक्ष्मण का नाम लेता है । ककवीन में यह **क्रन्दनमात्र** करता है । जिससे सीता को राम के संकटापन्न होने का भ्रम हो जाता है ।

११. कबन्ध को **म्पू योगीश्वर** ने दीर्घबाहु (दीर्घबाहु) तथा देवी श्री का पुत्र कहा है ।

१२. शबरी के सन्दर्भ में कवि की कल्पना अद्‌भुत कल्पना है जिसका कोई सूत्र **वाल्मीकि** अथवा **भट्टि** में नहीं प्राप्त होता ।[१]

१३. पम्पा को कवि कम्प अथवा कम्पा के रूप में वर्णित करता है ।

१४. मरते हुए बाली की स्वापराधानुभूति एवं सुग्रीव के प्रति उसका असीम भ्रातृत्व स्नेह निश्चय ही **म्पू योगीश्वर** की मौलिक उपलब्धि है । ऐसी मार्मिक अभिव्यक्ति *वाल्मीकि रामायण* में भी नहीं है ।

१५. सीतान्वेषण-सन्दर्भ मे वानर वीरों का ऋच्छबिल में प्रवेश एवं स्वयं प्रभा से मिलने के वृत्त को **म्पू योगीश्वर** ने **वाल्मीकि** के सर्वथा विपरीत प्रस्तुत किया है ।

१६. सागर-सन्तरण के प्रसंग में ककवीनकार ने नागमाता सुरसा द्वारा हनूमान् की शक्ति परीक्षण का वृत्त उपेक्षित कर दिया है । सिंहिका-प्रसंग में कवि ने सिंहिका को डाकिनी (तुलसीदास 'निशिचरि एक सिन्धु महँ रहई' कहते हैं) नाम दिया है ।

१७. कवि त्रिजटा को विभीषण की पुत्री एवं रूप-सौन्दर्य सम्पन्न एक सहृदय युवती के रूप में (८-१४०) चित्रित करता है । सम्भवत: यह कवि का स्वाभिलक्षित परिवर्तन है । अन्यथा मूल कथा की त्रिजटा तो वृद्धा राक्षसी है-

---

१. राम के पूछने पर शबरी अपने तप का कारण बताती है— शंकर के शाप के कारण विष्णु को वराह रूप में उत्पन्न होना पड़ा । वराह रूपधारी विष्णु ने एक पर्वत-गुफा में निवास किया और शबरी का भोजन खा लिया । फलतः वराह विष्णु की मृत्यु हो गई । उस वराह का मांस शबरी ने खाया जिससे कि उसकी त्वचा अतिशय काले रंग की हो गयी । इस विवरण के बाद ही शबरी राम से **स्वयं को छूकर पवित्र कर देने का** अनुरोध करती है । राम शबरी को छूते हैं जिससे तत्काल उसे दिव्य वर्णप्राप्त हो जाता है । (ककवीन ६.१०६-११२)

सीतां ताभिरनार्याभिर्दृष्ट्वा सन्तर्जितां तथा।
राक्षसी त्रिजटा वृद्धा प्रबुद्धा वाक्यमब्रवीत्॥ सुन्दरकाण्ड

१८. ककवीन के हनूमान् अकेली सीता के समक्ष नहीं प्रकट होते। वह तब सामने आते हैं जब सीता और त्रिजटा एक साथ होती है (८-१७८)

१९. सीता द्वारा त्रिजटा से अपनी वियोग-व्यथा के निवेदन में (८-१४९) पर्व (महाभारत) एवं काण्ड (रामायण) धर्म ग्रन्थों का उल्लेख। **म्पू योगीश्वर** की यह भ्रान्ति निश्चय ही भारतीय वाङ्मय के पौर्वापर्य के प्रति उनकी अनिभिज्ञता को संकेतित करती है।

२०. लक्ष्मण युद्ध में मेघनाद को उसकी सात पत्नियों के साथ ही साथ मारते हैं।

२१. लंका विजय के अनंतर भरत को सूचना देने के लिये हनुमान् लंका से ही प्रस्थान करते हैं (वायुमार्ग से) जबकि मूल कथा में वह भरद्वाज आश्रम से जाते हैं।

२२. राम द्वारा विभीषण को दिया गया अष्टव्रत्तोपदेश कवि का स्वयं चिन्तन है मूल कथा में यह प्रसंग में नहीं है। इसी प्रकार वानर सेना के सम्मान में भरत द्वारा दिये गये भोजोत्सव का वर्णन भी **म्पू योगीश्वर** का विशुद्ध मौलिक योगदान है जो कि कवियुगीन यवद्वीपीय भोज परम्परा का सूक्ष्म चित्रांकन प्रस्तुत करता है।

२३. *रामायण ककवीन* का समापन **वाल्मीकि** की शैली में हुआ है। **भट्टि** का ग्रन्थ जहां **व्याकरण शिक्षा** को ग्रन्थ-रचना का लक्ष्य बताता है, **म्पू योगीश्वर** मोक्षप्राप्ति को ग्रन्थ की फलश्रुति घोषित करते हैं।

रामायण ककवीन का साहित्य-सौन्दर्य एवं कालिदास

वाल्मीकि एवं **भट्टि** की राम कथा के आधारपीठ पर स्थापित होने के बावजूद भी *रामायण ककवीन* की कथा-विन्यास-शैली अत्यन्त मौलिक एवं सहज प्रतीत होती है। ऊपर प्रस्तुत किये प्रमाणों से भी कवि की मौलिक सूझ-बूझ एवं

क्रान्तिकारी निर्णयों (जैसे त्रिजटा को एक नये रूप में प्रस्तुत करना, बाली का भ्रातृस्नेह आदि) का मूल्यांकन किया जा सकता है ।[१]

ककवीन के अन्तरंग परिशीलन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि **म्पू योगीश्वर** न केवल **वाल्मीकि** एवं **भट्टि** से बल्कि कविकुलगुरु **कालिदास** की कृतियों से भी परिचित था । प्रवर्षण-गिरि पर सीता की स्मृति में खोए हुए राम की व्यथाएं सर्वथा मेघदूत के विरही यक्ष की अभिव्यक्तियों के अनुरूप हैं । अपने मंतव्य को प्रमाणित करने हेतु ग्रन्थ का साक्ष्य दे रहा हूं ।

व्यथित राम कहते हैं— हे प्रिये ! हरिण को देखकर तुम्हारी चञ्चल चितवन की, गजमराज को देखकर विलसित गति की, चन्द्रमा को देखकर तुम्हारी मुखछवि की, नदी की चंचल तरगंमाला को देखकर तुम्हारे कटाक्ष की तथा नृत्यरत मयूर के कलाप को देखकर तुम्हारे केश-कुन्तल की कल्पना मैं करता हूं ।[२]

रिङ् किडङ् कतुतुरिङ वुलत् मरूम्
रिङ् लिमन् कुतुतुरिङ्डलङ् वजेद् ।
रिङ् वुलन् कतुतुरिङ् मुकाबुङ्ह
हाह् ! हयुन्त मङ्वेश रि डहुलुन् ॥
व्वय निकङ् ल्वहदलेम य चञ्चल
र्याक् न्य तुल्य हलिसन्त यञ्चल ।

---

१. डा. थ्योडोर पिगोड की यह टिप्पणी इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है – दि पोएम फालोज दि वाल्मीकि ट्रेडीशन इन इट्स डेवलपमेण्ट आफ दि प्लॉट बट इट इज नाट ऐन अडाप्टेशन ऑफ वाल्मीकि रामायण । (लिटरेचर आफ जावा प्रथम पृ.१७६)

२. तुलना करें:—
श्यामास्वङ्गंकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिसु भूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि ! सादृश्यमस्ति ॥ ४६ (उत्तरमेघ)

रम्बुतिङ् प्रक अडिगेल्य ताकिरिस
व्यक्त लिडकु गेलुडन्त या किल ॥

— रामायण ककवीन् सर्ग - ७, २४-२५

हे प्रिये !देवदारु वृक्षों का स्पर्श करता हुआ कोमल पवन मलय-पर्वत से प्रवाहित होता है । मेरे नासारन्ध्रों को आप्यायित करता हुआ सौरभ चतुर्दिक् बिखर जाता है ! निश्चय ही यह सौरभ तुम्हारे कपोलमण्डल का है, मैं यही गुनता हूं ।[१]

कोमलाङ् मलय मारुतो मिरिर् देवदारु इनरस्न्य रिङ्डलस ।
कम्न्य सुप्रकुमरेडिरूङ् सुमार् तुल्यगन्ध नि पिपिन्त यक् हिडेप् ॥२७ ॥

हे प्रिये ! दिन के समय तो मैं बहुत व्यथित नहीं होता, वन के अनेक दृश्य मनोविनोद के साधन होते हैं, परन्तु रात्रिवेला में तुम्हारे वियोग में डूब जाता हूं— एकदम निर्लक्ष्य दिशाहीन एवं असहाय । मैं चाहता हूं कि रात छोटी हो, अथवा सदैव दिन ही बना रहे ! तुम्हारे वियोग में कितना दीन एवं असहाय हो गया हूं ![२]

काल निङ् रहिन तन् मकुङ् दहत
क्वेह् तिनोङ्क रिडलस्य लालन ।
काल निङ् वेङि अतह् मकुङ् तेमेन्
ततिंनोकुं त परन्निकङ मनह् ॥ २८

प्रार्यकुनं वेङि येक मेङ्गल
नित्यकाल रहिना कुलेङ् लना ।

१. तुलना करें: — भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं किल यदि भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ ५० (उत्तमेघ)

२. इन दो छन्दों का समानान्तर भाव मेघदूत के दो छन्दों में द्रष्टव्य है—
सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः आदि तथा संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा आदि ॥५१

हाह्! लुकन्वित गेलान नि ङहुलुन्
कनोनडेन् अतह् कितेङ् कुलेम्॥२९

—रामायण ककवीन, सर्ग -७

इस प्रकार मेघदूत एवं ककवीन में अद्भुत भावसाम्य है, जो यह सिद्ध करता है कि इन छन्दों की रचना के समय **कालिदास** के यक्ष की वियोगानुभूति **म्पू योगीश्वर** के अवचेतनमन में अवश्य थी। **भट्टि** के **न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजम्** **अविकल उपादान पहले प्रदर्शित किया जा चुका है।**

परन्तु कवि सर्वत्र संस्कृत-कवियों का अनुगामी ही नहीं है। वह विविध सन्दर्भों में अपने स्वतंत्र चिन्तन एवं क्रान्त-प्रतिभा-प्रकल्पन का भी आकर्षक प्रयोग करता है। उसका अमूर्त औपम्य कहीं-कहीं औचित्य एवं सौन्दर्य की पराकाष्ठा का स्पर्श करता है। दशरथ एवं तीनों राजमहिषियों की उपमा कवि अनूचान विद्वान् एवं वेदत्रयी से प्रस्तुत करता है—

कदि हर्ष सङ् महर्षि सक्तेन ऋक् साम लेन यजुर्वेद।
मङ्क न सङ् दशरथ वेह् हर्ष सिर त दे महादेवी॥ १.९१

सीता के रूप-सौन्दर्य से व्यामोहित रावण प्रशंसा के स्वर में कहता है— 'हे दिव्यरूपे! कौन हो तुम? तुम्हारा सौन्दर्य अप्रतिम है। चन्द्रमा भी तुमसे सौन्दर्य में हीन है क्योंकि वह दिन में म्लान हो जाता है। कमल भी, रात्रि में सम्पुटित हो उठने के कारण, तुम्हारी तुलना में सर्वथा असुन्दर है।'

अप कित दिव्यरूप मनुसुप मङ्लप् त सेकर
अतिशय ता पडन्त रिकनङ् ह्यपूर्ण तेमेन्॥ ५.६९

कुसुम सरोज रिङ् तलग कप्व सेडेङ् मुमेकर
रहयु सुगन्ध वर्ण य सवङ् मपुतिह् सवने ह।
तुवि तमतन् पडेकन हयुन्य मसोर्जुग य
अपन् उमलुय् कुचुप्य रिकनङ् वे नि तण्डहयु॥ ५.७०

सीताहरण से संक्षुब्ध राम सारी त्रिलोकी को नष्ट कर देने का संकल्प करते हैं । वह यक्ष, गन्धर्व, राक्षस यहां तक कि **काल** को भी नष्ट कर देना चाहते हैं । **म्पू योगीश्वर** के शब्दों में—

दिनकर तुविं तोह्यङ् सूर्य देडिक्व प्रभाव
गिरिवरशतशीर्ण सागरासात् देङ्कु ।
सहन-हन् निकङ्रात् हेन्त्य तातन् पशेष
उरगपति उलागौडङ्कारि पाताल शीर्णा ॥

ङुनि-ङुनि इकनङ् विल् हेन्त्य तातन् पशेष
धनपति नुवि दुःका यक्ष, य स्यूह मात्य ।
अकुत मलिह् कालोमात्यनङ् कालमृत्यु
सकलभुवनचूर्णा भूमि देङ्कन् पुसुस्य ॥[1]

— रामायण कक. सर्ग .६-५७, ५८

मानवीय संवेदनाओं के चित्रण में कवि ने अपनी वैयक्तिक सहृदयता का परिचय दिया है । श्रीराम की भर्त्सना से अपने पापों की प्रत्यक्ष अनुभूति करते हुए, वानरराज बाली का मृत्यु की अन्तिम घड़ी में उमड़ा हुआ भ्रातृ स्नेह इसका सर्वोत्तम प्रमाण है ।

सुग्रीव ! मेरे भाई ! मेरे पास आओ ! मुझे विदा दो । ईश्वर करे अगले जन्म में हम दोनों पुनः **सहोदर** के रूप में पैदा हों । हमारा यही निवासस्थान हो, यहां यही ऋष्यमूक पर्वत हो, पके फलों वाले वृक्ष हों और मधु का अक्षय कोश हो ।इन

---

१. तुलना करें –
त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालकर्मणा ।
न ते कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति ममेश्वराः ॥
नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
किन्नरा च मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति नक्षणम् ॥
नाशयामि जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
यावद्दर्शनमस्या वै तापयामि च सायकैः ॥ – वाल्मीकिरामायण, अरण्य. सर्ग. ६

वचनों के साथ बाली ने अश्रुपूरित नेत्रों से अपना सुवर्ण-मुकुट सुग्रीव के हाथों में रखा और कहा – **अचिन्त्य परमेश्वर ने पृथ्वी पर हम दोनों को प्रसन्नता से नहीं जीने दिया। इसलिये मैं (पार्थिव खुशियां तुम्हें सौंप कर) स्वर्गसुख के लिये ऊपर जा रहा हूं।**

समङ्क्नारिङ्क्तसौ पराङ्क्

सुग्रीव! मंवीत ककन्त मत्य।
कुनङ् त रिङ् जन्म देलाह् सोवाह्
धर्मा भटारे कित सानकाततह्॥१९२

म्वङ् तुङ्गलातह् कहनन्त कालीह्
अनुङ् मुनुङ कोनिङ्क्निङ् कयुन्य।
फलन्य मद्यन्य मधुन्य वृद्धि राद्
हेन्त्य यद् भुक्त्य यरिङ देहाल॥१९३

लावङ् इकङ् देव अचिन्त्यशक्ति
तन्वेह् कितान्तेन् परिङन् पमुक्त्य।
स्या कुक् रुहुन् मंगुकेह् विभूति
पङ्दे निकङ् देव अतह्य तूति॥ १८०५

—रामायण ककवीन, सर्ग ६

यह सन्दर्भ सायाम है जिस पर एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखा जा सकता है। अन्त में एक तथ्य की ओर विद्वज्जनों का ध्यान और आकृष्ट करना चाहूंगा और वह है – **म्पू योगीश्वर** का संस्कृत छन्दोविचिति का तलस्पर्शी ज्ञान एवं अभ्यास! उपर्युक्त उदाहरण श्लोकों में ही कवि का उपजाति मालिनी, आर्या एवं रथोद्धता विषयक नैपुण्य स्पष्ट है। परन्तु लंका-दाह-प्रसंग में कवि ने प्रसंग के ही अनुकूल **दण्डक** का प्रयोग करके अपने छन्दोनैपुण्य को शिखर पर पहुंचा दिया है। कुछ पंक्तियां उद्धृत कर रहा हूँ। उस भीषण अग्निज्वाला में तड़ाग के विहगों की स्थिति का वर्णन है—

तलग तलग रिङ् कडत्वन् विन्त्वन्य
देनिङ् मणिक् चन्द्रकान्ते दङ्न्तन्।
मिने शुष्क यासात् य केसिप् मिकर
निङ् अशोकाङ्सुत्यन् कसूबन् पनस्।
रुक्ष नक्वेहन्य याकिङ् मकिङ्किङ् मनुक्
न्यानडिस् मोनि कोलाहलान्।
बला चक्रवाका गिलानङ् पिलुङ्
हंस भाषा सशोकाम्वरासू इकङ् सारसा.. आदि।

— रामायण ककवीन, सर्ग ११.२

अलंकृतशैली के सर्वश्रेष्ठ कवि **महापण्डित माघ** ने भी सुवदना, नर्दटक, वंशपत्रपतितं तथा अन्यान्य अल्पप्रयुक्त वार्णिक वृत्तों में, मात्र अपनी छन्दोविचिति-चातुरी को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से मात्र दो-चार श्लोक लिखे हैं। परन्तु ऐसे ही दुर्घट एवं दुष्प्रयोज्य वृत्तों में **महाकवि योगीश्वर** ने सर्ग के सर्ग लिख डाले हैं। (उदाहरणार्थ -पन्द्रहवें सर्ग में अश्वललित छन्द, उन्नीसवें में स्रग्धरा तथा तेईसवें में चञ्चललीला का भरपूर उपयोग) इस छन्द : प्रयोग से **महाकवि योगीश्वर** की कवित्वप्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है।

यवद्वीप की रामायण में चित्रित रूप-सौन्दर्य विविध है। एक ओर कवि जड़ जगत् की सहजात एवं ऋतुपरिवर्तनजन्य सुषमा को अभिव्यक्त करता है तो दूसरी ओर चेतन जगत् की रमणीयताओं को। ये रमणीयताएं भी मुख्यतः द्विविध हैं, आन्तर एवं बाह्य। यद्यपि रामकथा की **भट्टि-कालिदास** अनुगतता के कारण **योगीश्वर** का रूप-सौन्दर्य-वर्णन बहुत कुछ परप्रत्ययाश्रित एवं अधमर्ण प्रतीत होता है। परन्तु एतावन्मात्र ही वास्तविक सत्य नहीं है। इन वर्णनों में यवद्वीपीय माटी की भी गन्ध पर्याप्त मात्रा में मिली-जुली है—जिसका और अधिक परिष्कृत रूप परवर्ती *पाञ्जी* (प्रेमाख्यान) साहित्य में देखने को मिलता है।

योगीश्वरप्रणीत *रामायण ककवीन* में उपलब्ध सौन्दर्य-वर्णन वस्तुतः भारतीय सौन्दर्य-चेतना एवं अवधारणा का अनुगामी है। फिर भी उसमें प्रतिपद नवीनताएं दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका सम्बन्ध यवद्वीपीय सामाजिक सङ्केतनाओं की नैसर्गिक विशेषताओं से हैं। नवम शताब्दी ई. के यवद्वीप में जो सामाजिक परिस्थितियां थी, जैसा कौटुम्बिक परिवेष था और जैसा सहज चिन्तन था, वह सभी रामायण के सौन्दर्य-वर्णनों में रूपायित हुआ है। यह सौन्दर्यवर्णन दो प्रकार का है—बाह्य एवं आंतरिक। बाह्य सौन्दर्य-वर्णन में प्रकृति की परिवर्तनशील सुषमा के मादक चित्र तथा स्त्री पुरुष के अंगसौष्ठव जन्य वैशिष्ट्य हैं तो आन्तरिक सौन्दर्य में वाग्यव्यहार के अनुभूतिप्रवण मर्मस्पर्शी संवेदन हैं। जिन्हें **महाकवि भवभूति** अत्यन्त वैयक्तिक तथा अनिवर्चनीय मानते हैं – **हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्।**

राम एवं लक्ष्मण की मिथिला-यात्रा का संदर्भ प्रकृति-सौन्दर्य के अनूठे चित्र प्रस्तुत करता है। सरोवर में कुमद पुष्प अपनी लालिमा के कारण आग की लपटों जैसे प्रतीत हो रहे थे और उन पर बैठे भ्रमर-गण धूम-बिम्ब के समान ।

उत्फुल्ल तङ् कुमुद कप्व मिकर्पदाबङ्
र्याक् र्याक् निकङः तलग येक दुमिह्य चाल।
व्यक्तन् कतोन् किद दिलह् निङपुय्य मोलह्
कुम्बङ् भ्रमन्त इ रुहुर्न्य अकिन कुकुस्य॥ २.४

चेतन-जगत् के व्यवहारों को जड़-प्रकृति पर आरोपित करने से प्राकृतिक सौन्दर्य में विलक्षणता-सी आ गयी है। वस्तुतः ऐसे सन्दर्भों में कवि ने समासोक्ति अलङ्कार एवं बिम्बविधान का सहारा लिया है। वायु से प्रकम्पित नीलकमलिनियां इतनी चचंल हो उठीं थी कि भौंरे उन पर बैठ नहीं पा रहे थे। ऐसा लगता था मानों कुमुदिनियों द्वारा पूर्वोपभुक्त अपने लम्पट नायकों का वे तिरस्कार कर रहीं थीं-सपत्नीजनित ईर्ष्या के कारण ।

तुञ्जुङ् प्रकम्पित तिनूब्रिडडीन्य मोलह्
तुल्यानुलक्कदि महारि लकिन्य मेलिक्।

कुम्बङ् मरिङ् कुमुद ङानि दुमिह्य मेवा
ईर्ष्या स्वभाव निकनङ् विनि घार कासीह् ॥२.८

राम के साथ मैथिली को देख कर शूर्पणखा अपने संकल्प (राम को पतिरूप मे वरण करना) पर लज्जित हो उठी और लक्ष्मण के पास जा पहुंची । उसके मांसल सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उसका मुख चन्द्रमा के समान था । उसकी कटि मात्र दो बीते व्यास की तथा लचीली थी । आंखें मधुर एवं शान्त थीं । जघन सुघटित था तथा दीप्त नखों से युक्त उँगलियां साही के कांटों जैसी थीं । उसके नितम्ब विशाल तथा पयोधर उन्नत थे दन्तपंक्तियां धवल तथा संसक्त थीं । नासिका सुन्दर थी ।

'रत्नजटित उसके कर्णाभूषण मनोज्ञ एवं आकर्षक थे । पुष्पालंकरणों से ओत-प्रोत थी उसकी दृष्टि एवं मुस्कान मधुर थी । अपनी अदम्य कामवासना के कारण वह लज्जाभाव को मानों तिलाञ्जलि दे चुकी थी ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि शूपर्णखा का रूप-सौन्दर्य अमर्यादित तथा उद्दीपक था । वस्तुतः यह सौन्दर्य सहज एवं नैसर्गिक कम था, आरोपित अधिक । क्योंकि शूर्पणखा का उद्देश्य था कुमार लक्ष्मण को अपने प्रेमपाश में बाँधना ।

जघनन्य मगौड् सुसुन्य बुन्तिर,
मपुतिह् हुन्त्वलरिस इरुङन्य शोभा।

सिसिरन्य मणिक् मनोज्ञ सश्री
मसिकर, राम्य मरुप्रकन् मसुम्पिङ्॥

ममनिस्त वुलत्य लेन् गुयुन्य
इकन ल्विन्र्य मकिन् सराग मह्युन्।

रि सवेलि हियुन्यता इरङ्न्य रि
सिरङ् लक्ष्मण यन्मसौत मोंजर् ॥

— रामायण कक. ४.३२, ३३

परन्तु उसके ठीक विपरीत है विदेहनन्दिनी की सहजात सुन्दरता । जिसके विषय में **योगीश्वर** कहते हैं **वे आंखें निर्थक हैं, जिन्होंने वह लावण्य नहीं देखा, वे नासारन्ध्र निष्फल हैं, जिन्हें सीता के अंगों की गन्धानुभूति नहीं, वे श्रवणयुगल निर्गुण हैं, जिन्होंने उनकी मिठासपगी वाणी नहीं सुनी ।**

त्रिभुवन का साम्राज्य यदि सीता की प्राप्ति के लिये शुल्क रूप में चुकाना पड़े तो कम ही हैं !

विष्णुपत्नी लक्ष्मी और शची इन्द्राणी सीता के रूप-लावण्य के समक्ष कुछ नहीं है। गिरिसुता (पार्वती) , चन्द्रप्रिया रोहिणी और रति अपूर्व रूप-सौन्दर्य सम्पन्न हैं। यह बात भी मूढ ही कह सकता है।

यद्यपि सीता का यह वर्णन शूपर्णखा द्वारा किया गया है, परन्तु इसमें कृत्रिमता नहीं है । इस वर्णन में अप्रस्तुत विधानों का स्वारस्य बड़ा ही मार्मिक है । लक्ष्मी, गौरी, शची, रोहिणी तथा रति के भी रूप-लावण्य की अवमानना कर कवि ने मानों सीता के सौन्दर्य की अनिर्वचनीयता को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है ।

विविध सांसारिक उपमानों द्वारा सौन्दर्य का वर्णन करना, मात्र उसकी स्थूलता को रूपायित करना, जैसे— शुक जैसी नासिका, हिरनी जैसी आंखें, कम्बु जैसी ग्रीवा आदि । परन्तु साभिप्राय एवं अनुभवसापेक्ष असाक्षात् प्रतिमानों द्वारा सौन्दर्य-वर्णन करने की बात ही कुछ और है। **कालिदास** भी शकुन्तला के रूप-लावण्य का स्थूल वर्णन करते-करते ऐसी ही स्थिति में आ जाते हैं ।

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघम्,
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

अनाघ्रात पुष्प, अनाविद्ध रत्न, अनास्वादित मधु, कररुहालून किसलय तो सांसारिक उपमान हैं । इन्हें भला कौन नहीं समझ लेगा ! परन्तु किसी रमणी के सौन्दर्य को **पुण्यों का अखण्ड फल** कहना तो गागर में सागर भरना है । इसकी अर्थवत्ता का विस्तार ही असीम है । जितनी सहृदयता होगी इस विशेषण का अभिप्राय भी उतना ही होगा ।

महाकवि योगीश्वर भी यही कहते हैं। शूर्पणखा का रूप वर्णन तो वह आद्यन्त मात्र पार्थिव प्रतीकों से करते हैं परन्तु सीता का लावण्य वर्णन अप्रस्तुत-विधानों से—

अतह तहन्यतन्त अप तप्वननोण्डहयु
इकन इरूडत्त तन्सफल यन्तनिकाक्रकन्।
तुवि तलिडन्त निर्गुण य तन्पडुजर्न्य क्रडौन्
सुक परिपूर्ण रिड्ह्यु असिड्कहनन् रसिका॥

हरिदयिता शची तुवि तमन् पमडान हयु
गिरिसुत रोहिणी रती अपूर्व तमन् पमडे।
हयु रसिका कवेह् रहयु लिड् निडपुङ्डिक
अनकिबि सड् रघूत्तम जुगाह्यु लिङ्क पुतुस्॥

—रामायण ककविन् ५.१४, १६

योगीश्वर मतरामवंशी नरेश **बलितुंग** के राजकवि थे। नवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जावा का यह हिन्दु साम्राज्य वैदिक संस्कृति के परिपालन में निष्ठापूर्वक लगा हुआ था। यवद्वीप में भी भारत की ही तरह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था विद्यमान थी। समाज में कर्मकाण्ड प्रवीण धर्माचार्यों तथा संन्यस्त साधु-सन्तों का अपूर्व सम्मान था।

योगीश्वर के सारे रूप-बिम्ब प्रभावित तो हैं **आदि कवि वाल्मीकि** से, परन्तु अधिकांश वर्णनों में यवद्वीपीय संस्पर्श एवं संस्कार भी सम्मिलित हैं। जब वह रावण के यति वेष का वर्णन करते हैं तो निश्चय ही कर्मकाण्डी पुरोहित का चित्र साकार हो उठता है। एक परम सात्त्विक शुद्ध शैव संन्यासी! देदीप्यमान केशकुन्तल, बाहर निकली शिखा, निर्मल-धवल दन्तपंक्तियां, रुद्राक्ष की मालायें, कंधे पर लटकता जलपात्र, लाक्षारस के समान लाल बल्कल वस्त्र। वह पर्यटन करता हुआ मंत्र-पाठ कर रहा था!

अतिशय शुद्ध हुन्तु मपुतिह् स्फटिकोपम् वै
तुवि मगणित्रिकुण्डल वलुह्य सिनण्डङिरि।
लितु हयु वर्ण लाक दलवङ् निरराम्य मबाङ्
लुमकु मनस्य येक दलिहनिरन् कतिङिर्॥

मजप महुन्यकिन् त सिर मंत्र तिहिर लुमकु॥ ५.६६

इस प्रकार **योगीश्वर** नारी तथा पुरुष दोनों के ही अवसरोचित सौन्दर्य-निरूपण में दक्ष हैं। अवसरोचित से मेरा तात्पर्य है जीवन की विविध परिस्थितियों (मनोभावों) के अनुरूप सौन्दर्य का वर्णन होना।

स्थूल अंगों का सौन्दर्य-वर्णन अत्यन्त सरल कार्य है, परन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म अगोचर निगूढ अंगों (मन,हृदय, आत्मा) की सुन्दरता को रूपायित करना किसी भी कवि के लिये कठिन काम है। संस्कृत कवियों में **महाकवि भवभूति** इस कला में पारंगत हैं।

अपहृता वैदेही के लिये विलाप करते राघव के हृदय को अभिव्यक्त करने में **योगीश्वर** को भी अभूतपूर्व सफलता मिली है। राम कहते हैं—**हे प्रिये! तुम्हारे वियोग में सूखे मुरझाये से पुष्प भी मुझ शठ की तुलना में श्रेष्ठ हैं क्योंकि मैं तुम जैसी भार्या को खोकर भी मृत्यु का वरण नहीं कर पा रहा हूं।**

कुसुम सफल दिव्यसिंह्न्य तीव्रे कितान्तिन्
अतिशय किर किङिक्ङ् न्यार्कसह् देन्त मोनिङ्।
अकु क़लनत कासिह् पुष्प तातन् पडे य।
तय कित तुवि देवी तन् पिजह् दे न्युनिङ्कु॥ ६.४१

प्रिये! मेरे प्रेम की परीक्षा लेने के लिये तुम कहीं छिप तो नहीं गयी हो? तुम परिहास तो नहीं कर रही हो? तुम्हारे अभाव में मेरा जीवन संशयापन्न हो उठा है और मैं मरकर भी आना चाहता हूं।

अप कित ममरीक्षा दोन्त मिङ्गिप् उमिङ्गित्
प्रहसनत् त कुनड्दोनिङ हुमौत गुय्व गुय्वन्।

वितु तटटि हुवसु हे तन्ब्रुहिङ् शोक मोनिङ
विषमतिकि हुरिप्कुन तूत मिङ्गत् प्व् देन्त॥ ६.४२

इन पद्यों में सीता के प्रति राम के हृदय का विलक्षण अनुराग कवि ने प्रकट किया है। यह भी गूढ़-सौन्दर्य का प्रकाशन है।

परन्तु सीता के वियोग में जर्जर वही राम क्रोध एवं अमर्ष के आवेग में **महाकाल** का रूप धारण कर लेते हैं। वह श्रेष्ठ पर्वतों को धराशायी कर देने तथा सागर को भी सुखा देने की प्रतिज्ञा करते हैं। आज सारा संसार विशीर्ण हो उठेगा। पृथ्वी पिस जायेगी। कुबेर अवसन्न होंगे और यक्षगण कालग्रास बन जायेंगे। देवगण अब नहीं रहेंगे। अन्तरिक्ष चूर-चूर हो जायेगा।

सीतावियोगी राम ने यह कहते-कहते ही सृष्टि के विनाशार्थ धनुष पर कराल शरसन्धानित कर लिया।

महाकालवेषी राम का यह रूपाङ्कन योगीश्वर ने विलक्षण रीति से किया है। इस वर्णन में सर्वसमर्थ राघव के आहङ्कारिक एवं सर्वक्षयी रूप की भयावह अभिव्यक्ति हुई है। सीता-अपहरण और वह भी राम सरीखे महाधनुर्धर समरविजयी नायक की आंखों के सामने? यह असह्य अपमान ही राघव को काल-भैरव बनने के लिये बाध्य कर देता है।

दिनकर तुवि साह्येङ् सूर्य दडिक्व प्रभाव
गिरिवर शत शीर्णा सागरासात् देङ्कु।
सहन हन निकङ्रात् हिन्त्य तातन्पशेष
उरगपति उलागौड़ क्ङारि पाताल शीर्णा।
ङुनि ङुनि इकनङ् व्विल हिन्त्य तातन्पशेष
धनपति तुवि द्रह्का यक्ष यस्यूह मात्य।

अकु त मलिह कालोमात्यनङ् कालमृत्यु
सकलभुवनचूर्णा भूमि देङ्कुन् प्रसुस्य॥

नहनिकन वुवुस्सङ राघवासिहनाद
तिहङकिनिकनङ् ह्व देव सक्रोध रिङ्रात्।
प्ररूदित मनङ्स्सिङ् लक्ष्मणासिह् मनिम्बह्
मुहुतकिनिनङ्रात् मात्य तातन्यदोष।।-रामा. कक. ६.५६,५८,६०

कुमार भरत द्वारा लंकाजयी वानरसेना को भोज पर आमंत्रित करने के संदर्भ में परिहास पेशल विदूषक भाण्डीर द्वारा व्यञ्जनों पकवानों का जैसा परिचय दिया जाता है तथा जिस वाक्कौशल से मेहमानों-की अगवानी की जाती है, इससे तद्युगीन यवद्वीपीय वाङ्माधुरी एवं वाचिक सौन्दर्य का परिचय मिलता है । कुछ सन्दर्भों द्वारा उपर्युक्त मन्तव्यों की पुष्टि की जा रही है ।

सर्वाधिक आकर्षक स्थल वे हैं, जहां कवि ने अत्यन्त मौलिक विचार व्यक्त किये हैं । कवि कहता है सचमुच दुःख हृदय हीन है । बिना किसी पूर्वसूचना के वह आ धमकता है और सुख को ढँक लेता है परन्तु यही तो वास्तविक जीवन है । सुख एवं दुःख की आवाजाही ।

दुःख का रंग काला और सुख का लाल । फिर भी वे दोनों समन्वित हैं । यह समन्वय वाद्यवृन्द जैसा है जिसमें तन्त्र (वीणा) एवं सुषिर (बांसुरी) एक ही साथ बजते हैं । यह शरीर भी एक वाद्य है जिसे हम बजाते हैं । यह आह्लाद एवं अवसादभरी ध्वनियाँ इस प्रकार हैं—

ललु तनेरङिक्कङ् लर यर् सिलत्
तन तिलिङ् लिनिप्रत् निकनङ् सुक।
मरहकिन् सुक-दुःक निकङ् सिरात्
हन रिकेङ् ददि तन्ददि यापसह्।।
लर हऋङ् सुक लाक सकण्ड य
कदि त मंसि धिनाष मसङ्धनि।
न्यसि शरीर य मंश पमस्यन
य हिबिकन् सुक दुःक लना पिसन्।।

—रामा. कक. २६. १२, १३

अष्टम अध्याय

बालीद्वीपीय रामकथा में हनुमान्

बृहत्तर भारत के राष्ट्रों में भारतीय राजसत्ता एवं वाङ्मय की प्रतिष्ठा प्राय: ईसा की प्रथम शती में हुई। चम्पा (वियतनाम), कम्बुज (कम्बोडिया), श्रीविजय (सुमात्रा), कटाहद्वीप (मलेशिया), सुवर्णद्वीप (जावा तथा बाली) एवं सुखोदय-द्वारावती (थाईलैण्ड) सरीखे प्राचीन भारतीय उपनिवेशों में रामकथा की प्रतिष्ठा भी उसी समय हुई। आज भी इन राष्ट्रों की साहित्य-समृद्धि का मूल स्रोत **रामायण** ही माना जाता है। परन्तु इन रामकथाओं में भी सुवर्णद्वीपीय रामकथा अपनी सुमधुर अलंकृत पदशय्या एवं भावगाम्भीर्य आदि गुणों के कारण शिरोरत्न मानी जाती है। थाई रामकथा **रामकियेन** लाओस-रामकथा **फॉ लॉक फॉ लाम** और मलेशियाई रामकथा **हिकायत महाराजा राम** की तुलना में यवद्वीपीय रामकथा **रामायणककविन्** निश्चय ही भारतीय रामकथा-परम्परा के अत्यन्त समीप है—राम के प्रति अपनी परब्रह्मात्मक दृष्टि के कारण। रामयणककविन् के कालजयी कवि म्पू योगीश्वर स्वयं ग्रंथान्त-निवेदन में कहते हैं—

साक्षात् मन्मथशील सङ् रघुसुता मिनुहि विषयधर्मरिङ् सरात्
ङ्कन् रामयण भद्रवाद निरमोघ मवङि रुमिसिप् तिके हति।
सङ् योगीश्वर शिष्ट सङ् सुजन शुद्ध मनहिर हुवुस मचे सिर
व्यक्तावासुचपन्त रिङ् जुलुङदोमुक पिनकनिमित्त निङ् लिपस्॥

—रामा० कक० २६.५०

अर्थात् सम्पूर्णजगत् के प्रति अपना धार्मिक कर्तव्य पूर्ण करने में राघवेन्द्र श्रीराम का स्वभाव साक्षात् मन्मथ के समान है, जो कि विषयधर्म (इन्द्रियजन्य

भोग) की पूर्ति में अपना कर्तव्य पूर्ण करता है। इसलिये, ईश्वर करे यह रामकथा जो कि भद्रवाद अर्थात् उत्तमवचनों से संवलित है, उस सुरभि के समान हो जो कि सत्पुरुषों के हृदय तक धंस कर पहुंच जाती है। इस कथा का पारायण कर श्रेष्ठ योगी जन वेद ज्ञान में परंगत होंगे तथा सज्जन शुद्धचित्त का वरण करेंगे। यदि यह कथा हतभाग्यों को भी सुनने को मिलती है तो निस्सन्देह वे भी इसे समझेंगे, चाहे वे पद-प्रतिष्ठा में ऊंचे हों अथवा सामान्य! अन्ततः इस कथा के श्रवणमात्र से वे मुक्तिसुख प्राप्त करेंगे।

रामायणककविन् की रचना मध्यजावा के मतरामवंशीय नरपति वतुकुर बलितुङ्ग के राजकवि म्पू योगीश्वर ने नवीं शती ई० के अन्तिम चरण में की। वाल्मीकीय रामायण, भट्टिप्रणीत रावणवध महाकाव्य एवं कविकुलगुरु कालिदास प्रणीत मेघदूत से प्रभावित इस कालजयी कृति में कविभाषा (Old Javanese) में लिखित २७७८ छन्द हैं, जो कि छब्बीस सर्गों में विभक्त हैं। योगीश्वर ने सम्पूर्ण काव्य में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वंशस्थ आदि संस्कृत-छन्दों का ही प्रयोग किया है। परन्तु क्लिष्ट, कठिन एवं दुष्प्रयोज्य छन्दों का भी भूयस्त्वेन प्रयोग कर कवि ने अपने प्रकाण्डपाण्डित्य एवं शक्ति-सामर्थ्य को प्रमाणित कर दिया है। सुवदना, नर्दटक, वंशपत्रपतित एवं दण्डक के प्रयोगों में महाकवि योगीश्वर की चातुरी देखते ही बनती है।

आञ्जनेय हनूमान् यवद्वीपीय रामकथा के भी मेरुदण्ड प्रतीत होते हैं। रामयणककविन् में उनके उदात्त एवं दुर्लभ सद्गुणों का, राम एवं सीता के प्रति उनकी अनन्यनिष्ठा एवं भक्ति-भावना का तथा असुरसंहार-सन्दर्भ में उनके विलक्षण तथा अतिमानवीय शौर्यपराक्रम का भव्य शब्दाङ्कन प्राप्त होता है।

भारतीय रामकथा की ही भांति सुवर्णद्वीपीय रामकथा में भी राम एवं हनूमान् की भेंट ऋष्यमूक पर्वत के तटवर्ती वन में होती है। वानरराज सुग्रीव का आदेश पाते ही वह विद्युत् गति से आकाशमण्डल में उड़ते हैं तथा प्रलयझंझा के समान, शरीर के आघात से वायु को निनादित करते हुए तीव्र एवं दुर्वार गति से आगे बढ़ते हैं। मार्ग के वृक्ष समूल उन्मूलित होकर दूर जा गिरते हैं और खण्ड-खण्ड विशीर्ण

हो उठते हैं। हनूमान् सिद्धि की पराकाष्ठा पर पहुंचे महात्मा की वेषभूषा धारण करते हैं और राम से पूछते हैं—

हे साधु दिव्य कित धीर विनङ् मराङ्के
अत्यन्त दुर्गम निकिङ् गिरि ऋष्यमूक।
सङ् ह्यङ् महेश्वर तुविन् मलिमिह् मराङ्के
न्यानुङ् प्रयोजन इके पनुसुप्त कालिह्॥ ६.१३५

ल्विर्निङ् भयातिशय रोद्र अनुङ् हनङ्के
मुङ्ग्विङ् गुहा हन त राक्षस लेन् पिशाच।
लावन् परन् कदि हवन्त सुकित्तगम्य
व्वङ् लेन् सके कित तमह्नन वेह् मरङ्के॥ ६.१३६

—रामायण ककविन्

हनूमान् ऋष्यमूक पर्वत-परिवेष की भयावहता का लोमहर्षक वर्णन कर, राम के वनवासी होने का कारण जानना चाहते हैं और तब राम अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए, रावण द्वारा सीता के अपहरण की बात उन्हें बताते हैं। राम अपने भाइयों को दिव्यशक्ति-सम्पन्न तथा एकमात्र स्वयं को मन्दभाग्य बताते हैं—

अक्वेह् अनक् निर अरिङ्कु य दिव्यशक्ति
अंहिङ् ङ्हुलुञ्जुग अनक् निर मन्दभाग्य॥

सब कुछ जान लेने के बाद हनूमान् विनम्रतापूर्वक राम को समझाते हैं, सुग्रीव को कृपान्वित करने के लिये। वह वाली तथा सुग्रीव के वैमनस्य तथा वाली के अपार बल-पौरुष की कथा राम को सुनाते हैं तथा अपने अभियान में पूर्ण सफल भी होते हैं—

मित्रन्त योग्य सिर लिङ्कु अनुग्रहान
आपन् महाबल महाधिक साधुबुद्धि।

तूतूह मासिह मितुह्व असिङ् पकोन्त
मिल्वोमती दशमुख प्रमुका सिरेंङ् प्रङ्॥ ६.१४७

राम द्वारा वाली का वध किये जाने के बाद पवनात्मज सीतान्वेषणार्थ दक्षिण दिशा में प्रस्थान करते हैं। उनके सागर-लंघन का अद्भुत वर्णन योगीश्वर करते हैं। वह आकाशमार्ग से चले विद्युल्लेखा की तरह। गरुड, सूर्य तथा पवन से भी कहीं अधिक था उनका वेग। वह सूर्य के समान तेजस्वी दीख रहे थे। कपिलवर्ण चमरी गाय के रोमसमूह के समान उनके भी रोम-समूह लम्बे, सुन्दर, तेजोमय तथा देदीप्यमान थे।

कदि दिवाकर तेकन यर्कतोन् वुलु निरोज्वल तेजमयान् कतोन्।
तुवि मलित् मदवा कदि चामर कपिलवर्ण अपूर्व्व रि भास्वर॥
अथ मिसत्त सिरङ् पवनात्मज गगन येक हवन् निर् मङ्लयङ्।
गरूड सूर्य ङडिन् तमतर् पडे लकु निरादभुत शीघ्र मनोजव॥

—रामा० कक० ८.१;२.

हनूमान् ने अपना शरीर विशाल बना लिया तथा उड़ते हुए पर्वत के समान भीषण दीखने लगे। उन्होने सवेग झम्पापात किया तथा सूर्य-चन्द्रादि ग्रहगणों से भी ऊपर पहुंच गये।

इस वर्णन से हनूमान् के अतिशय शौर्य-पराक्रम एवं दैवी शक्तिमत्ता का परिचय मिलता है। अपनी इस यात्रावधि में हनूमान् नृशंस भीषण, कुख्यात तथा रौद्र प्रकृति वाली डाकिनी नामक राक्षसी का कौशलपूर्वक वध करते हैं। वह उसके पेट में घुस कर, तीक्ष्ण नखों से उसका उदर विदीर्ण कर देते हैं। योगीश्वर पवनात्मज को **विदग्ध** कहते हैं—**पवनपुत्र विदग्ध सिराङ् दुदुक्**।

मेनाक के आतिथ्य को विनम्रतापूर्वक उपेक्षित कर हनूमान् **विकटाक्षिणी** नामक राक्षसी का वध करते हैं और सुवेल पर्वत पर पहुंचते हैं। रात्रिवेला में उन्होंने लंकापुरी में प्रवेश किया, खरगोश के समान लघु रूप धारण कर।

नानाविध प्रणयकेलियों में डूबे तरुण राक्षस-मिथुनों को देख पवनपुत्र विषण्ण हो उठे, क्यों कि उन्हें विरहविधुर राघव की स्मृति हो आई । राम के प्रति उनकी करुणा जागृत हो उठी और वह अतिशय शोकार्त हो उठे । विहार-क्रीडा एवं भोजन-पान में डूबे राक्षसों को वह क्षण भर भी देख सकने को अनिच्छुक थे । उनका गीत-गायन तक नहीं सुन सकते थे । उनके नेत्रों से निरन्तर अश्रुपात होने लगा-

उमुलत्त सङ् पवनपुत्र रिकङ् मसिवो सराग य सिडिङ् पड सिह्।
कलरन् सिराङ्डिनकिन् मतुतुर् रि लरा निरङ् रघुसुतार पपसह्॥
करुणा मनह् निर सशोक तिमिन् मरि यर्वुलत् रिङ्डिनुम् मसिवो।
मरि मडक्रूडौ किदुङ्लह् मलर हुमिलीत लुह् निर निरन्तर य॥

-रामा० कक० ८.३९,४०

हनूमान् के चरित्र का यह उदात्त पक्ष तो भारतीय रामकथाकारों की भी लेखनी से अनंकित ही रह गया है । अपने उपास्य स्वामी राघव का सीताविरही रूप, दास्यासक्ति के अप्रतिम शलाकापुरुष हनूमान् को भीतर तक बींध देता है । वह लंकावासी तरुण-मिथुनों के सुख-चैन, हास-परिहास तथा भोगविलास देख तक नहीं पाते । हनूमान् की परदु:खकातरता, सहृदयता एवं सहानुभूतिप्रवणता का परतर प्रमाण भला और क्या हो सकता है ?

योगीश्वर हनुमान् को **नयवित् विदग्ध सिर सङ् मरुत्सुत** कहते हैं, क्योंकि वह दुर्विज्ञेय कपटवेष धारण करने में दक्ष हैं । वह बड़ी तत्परता से लंकापुरी के घर-घर में देवी सीता की खोज करते हैं । उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होती है, जब वह ब्रह्मवेला तक भी जनकात्मजा को नहीं ढूंढ पाते । उन्हें अपना जीवन एकदम निरर्थक प्रतीत होने लगता है । वह मन ही मन सोचते हैं कि यदि मैं देवी सीता को पा जांऊ तो श्रीराम तृप्त हो उठेंगे । जानकी को भी विश्राम प्राप्त हो जायेगा । परन्तु आह ! यदि न पा सका तो मैं कितना गुणहीन, तुच्छ दूत सिद्ध होऊंगा ? दायित्व पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ !

तुष्टा सङ् श्रीराम यर्तिम्व देङ्कु म्वङ् तृप्ति श्री जानकी नावनेहन्।
तन् सिद्धेका देङ्कु तिप्वन् कपंगुह् दूतापेकिन् हीन तन् सिद्धकार्य॥

-रामा० ८.८३

कर्तव्यबोध का यह अद्भुत रूप है। हनूमान् की दूतोचित मानसिकता का यह प्रशस्त चित्राङ्कन है।

अन्ततः पवनपुत्र देवी सीता के समक्ष आ ही जाते हैं, जब वह विभीषण की पुत्री, नवयौवना कुमारी त्रिजटा के साथ देवाराधन के लिये मन्दिर में जाती हैं। सीता सहसा विश्वास नहीं कर पातीं। उन्हें रावण के छल-छद्म की आशंका होती है, जो कुछ ही समय पूर्व उन्हें, अपने अभद्र व्यवहारों से आतंकित कर चुका था। परन्तु जब वह राघव की दुस्सह वियोगव्यथा का वर्णन कर, उनकी मुद्रिका प्रस्तुत करते हैं तो देवी सीता को हनूमान् के प्रति वात्सल्यभाव उमड़ पड़ता है।

दूत का सर्वोत्तम गुण है प्रभावी शब्दों में स्वामी के मूल अभिप्राय को प्रकट करना। हनूमान् इस कला में परम निष्णात हैं। वह जानते हैं कि देवी सीता को सम्प्रति किन सन्देशों की अपेक्षा है। अतः वह उन्हें मुख्यतः दो ही बातें बताते हैं—राम एवं लक्ष्मण का सीता के लिये अतिशय चिन्ताभाव, विकलता और छटपटाहट तथा वानरवाहिनी की असीम युद्धशक्ति तथा सैन्यप्रण की व्याकुलता।

नरनाथ रघुसुत ग्लानाकिङ्किङ् मडिन् देवी।
वेल्लुङुनिङ् सिराकुरु मतङ् न्याकोन् ङ्हुलुन दूता॥

तुवि रान्तिन् देवि मकूङ् सङ् लक्ष्मण शोक सिर।
मग्या त सिराङ् पराङ्के मात्यनङ् रावणान् मूर्क्क॥

बल वानर उमडङ् महौम् मकोलिहङ् शत्रु।
य मतङ् न्यन् देवि तहिर् हय्व ग्या राक्षन् हुरिप्त॥

—रामा० कक० ८.१९६-९८

इस नपे-तुले समयोचित सन्देश से सीता उत्फुल्ल हो उठती हैं । वह स्वामी राघव के लिये अपनी चूड़ामणि तथा असीम करुणा से ओत-प्रोत एक लम्बा पत्र पवनात्मज को देती हैं । यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि भारतीय रामकथापरम्परा की कई सहस्त्राब्दियों में भी किसी कवि ने **देवी सीता के पत्र** की परिकल्पना नहीं की है । परन्तु मौलिक प्रतिभा के धनी महाकवि योगीश्वर ने आंसुओं की स्याही से लिखे वैदेही के पत्र की सृष्टि कर अपने कवित्व को अमर बना दिया ।

योगीश्वर के हनूमान् पौरुष की प्रतिमूर्ति हैं । यद्यपि देवी सीता को राम के सन्देश से आश्वस्त कर वह कृतकृत्य हो चुके हैं । अब उन्हें किष्किन्धा की ओर प्रस्थान कर देना चाहिये । परन्तु शत्रुपक्ष को क्या लगेगा कि कौन आया था ? जंगल में मोर नाचा किसने देखा ? फलत: उन्हें **अपना यश स्थापित करने का लोभ** पैदा हो जाता है ।

निहन पिनुजि निङ् दूत इकङ् तुमिम्व रि दोन्य।
अमेतपसा यशन्य अनुङ् तङ् अद्‌भुत चिह्ना॥

हुवुस्त याकु उमङ्गृह् रि सिरङ् जनकपुत्री।
न्द तन्हन् ये वनेहन् अनुङ् अयशा यशङ्क्व॥

—रामा० क० ८.२११, १२

हनूमान् जानबूझ कर अशोकवन को नि:श्रीक बनाने का संकल्प लेते हैं । उनका उद्देश्य है राक्षसों को वानरवाहिनी की असीम युद्धक्षमता की बानगी देना । उन्होंने देखते ही देखते सारा उपवन तहस-नहस कर डाला और ललकारा राक्षसों को—

स्यप त राक्षस वान्यमसौ हुवुस्
पपगकिन्त सि मारुति लिङ् निर्॥

अर्थात् है कोई राक्षस, जो आगे बढ़ने की शक्ति रखता है ? वह आकर मारुति से जूझे !

रामकथा चाहे भारत की हो चाहे यवद्वीप की । हनूमान् की भूमिका प्राय: सर्वत्र शौर्य-पराक्रम की ही अधिक है । सागर-सन्तरण,लंकादाह, सपत्नोन्माथी भयावह युद्ध तथा लक्ष्मण-मूर्छा के सन्दर्भ में सञ्जीवनौषधि-सहित समूचे पर्वत का आनयन—ये सारी घटनाएं आञ्जनेय के अथाह बल-पौरुष की साक्षी हैं ।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह मात्र शौर्य-पराक्रम के ही धनी हैं । वस्तुत: हनूमान् करुणा, ममता, वत्सलता, स्वामिभक्ति, इतिकर्तव्यता, शीलसमुदाचार, ज्ञानविज्ञान एवं विवेकादि दुर्लभ गुणों के भी साकार विग्रह हैं ।

अशोकवन-विध्वंस क्रम में कुमार अक्ष सहित असंख्य राक्षसों का वध करने के बाद वीर मारुति मेघनाद के नागपाश में स्वयं बंध जाते हैं । यह उनकी शक्तिहीनता नहीं थी । वह चाहते तो नागपाश के टुकड़े-टुकड़े कर देते । परन्तु यह तो महाबली रावण को देखने का उपायमात्र था जो कि वह भुजंगप्रयात के बन्धन में बंधे रहे । महाकवि योगीश्वर बड़े कौशल के साथ यह भाव उपन्यस्त करते हैं छन्द का लक्षण प्रस्तुत करते हुए !

न्द तन् संकरिङ् हीन शक्तिन् कपास
अवास्येकनङ् पाशशीर्ण्णा यरह्युन ।
उपाया निरार्तोन सङ् रावणेका
मतङ् न्यान् हिनिङ् रिङ् भुजंगप्रयात ॥

—रामा० कक० ९.८४

इस उपायकौशल से पवनपुत्र, रावण को देखते भी हैं । योगीश्वर के हनूमान् की वार्ताकला भी विलक्षण है । वह रावण को अत्यन्त मर्मस्पर्शी सदुपदेश देते हैं । रावण को, उसकी नृशंसता तथा पापवृत्ति से अवगत कराते हुए भगवान् राम के क्षमाशील, साथ ही साथ अवन्ध्यकोप-विग्रह का भी वह प्रकाशन करते हैं । यह सन्दर्भ हनूमान् की अगाध नीति-निपुणता तथा विविधशास्त्रज्ञाननदीष्णता का परिचायक है । हनूमान् भगवान् राम के दिव्यगुणों की चर्चा करते हुए, अहंकारी रावण को अमोघ मूर्ख, सिद्ध करते हैं—

लावनिका सङ् राघव साधु नित्य रुमाक्षेङ् रात्सिर दिव्य।
तर्विजगी रिङ् शत्रु तरेलिक् न्दन् कित मूक्कांमोघ मसंहित॥
स्त्रीकलवन्मासूरत्नविशेष लभनिडग्रङ् यज्ञयशत्रु।
यावनिका साध्या ततनिम्ब वेलि कदुहकङ् सङ् रघुपुत्र॥

—रामा० कक० २०.१३,१४

लंकायुद्ध में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनमें हनूमान् की लोकोत्तर वीरता का चित्रण है। अकम्पन का वध अकेले पवनात्मज ही करते हैं। मेघनाद के यज्ञ का विध्वंस भी मुख्यत: वही करते हैं। उनकी युद्धकला तथा शत्रुसंहारयुक्ति का क्या कहना! परन्तु इन सबकी तुलना में पवनपुत्र हनूमान् राम एवं सीता के अनन्याश्रय भक्त हैं।

जावा, बाली, सुमात्रा तथा अन्यान्य इण्डोनेशियाई द्वीपों में प्रचलित रामकथा में यह तो है हनूमान् का वाङ्मय-स्वरूप। परन्तु काव्य के समानान्तर प्रचलित वायांग (नाट्य) परम्परा में भी हनूमान् अत्यन्त लोकप्रिय पात्र हैं। डलंग (सूत्रधार) प्राय: उन्हें पनकवन् (विदूषक) की भूमिका में प्रस्तुत करता है। तब हनूमान् अत्यन्त परिहास-पेशल शैली में राक्षसों का संहार करते हैं। उनके वानरव्यक्तित्व की नैसर्गिक चेष्टाएं ज्यों ही मुखर होती हैं—उनकी कूद-फांद, उठा-पटक, चंक्रमण, लाङ्गूलचालन, दन्तपंक्ति की किटकिटाहट, गुर्राहट, पञ्जों से प्रहार, नोच-खसोट, धक्का-मुक्की से दर्शक आनन्द-विभोर हो उठते हैं। इस प्रकार मारुति सुवर्णद्वीपीय वायांग के प्राणतत्त्व हैं।

बृहत्तर भारत के विभिन्न भूभागों में रामकथा सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु उसके दो रूप हैं, एक तो है विकृत रामकथा, जो बौद्ध एवं जैन परम्परा से विकसित हुई है। दूसरी है प्रकृत रामकथा, जो वाल्मीकिरामायण की अनुवर्तिनी है।

यवद्वीपीय रामकथा के हनूमान् मेधावी, विद्वान्, वीर, विनयी, वाग्मी, कर्तव्यनिष्ठ, अनहंकार तथा दया-दाक्षिण्य युक्त हैं। परन्तु थाईलैण्ड, मलेशिया एवं लाओस की रामकथाओं के हनूमान् उपहासास्पद बन कर रह गये हैं, कथाकारों

की अप्रशस्त दृष्टि के कारण । लाओस की रामकथा में **हनीमोन** वानररूपधारी राम एवं वानरी अञ्जना से उत्पन्न बताये गये हैं । ये सारी विकृतियां साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण भारत में जनमीं, यहीं से अन्यान्य द्वीपों में भी प्रचलित हुईं । आज इस बात की आवश्यकता है कि पवनपुत्र हनूमान् के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का मूल्यांकन विश्वजनीन स्तर पर किया जाय ।

नवम अध्याय

बालीद्वीपीय रामकथा में प्रयाग-वर्णन

महाकवि योगीश्वर ने मतरामवंशी जावानरेश वतुकुर बलितुङ्ग के संरक्षण में(९वीं शती ई० का अन्तिम चरण) विशाल रामकथा-परक ग्रन्थ लिखा—रामायण ककविन् । कवि भाषा में लिखे गये विपुल यवद्वीपीय वाङ्मय का यह शिखरग्रन्थ अत्यन्त विशाल, मर्मस्पर्शी तथा उत्कृष्ट है । इसमें कुल २६ सर्ग तथा २७७८ श्लोक हैं । इन श्लोकों की भाषा तो **कवि** है, जो कि संस्कृत तथा स्थानीय जावी भाषा के शब्दों के सम्मिश्रण से बनी है, परन्तु छन्द सभी संस्कृत के हैं—उपजाति, मालिनी, शिखरिणी आदि । जावा में ईसा की चतुर्थ शती (महाराज पूर्णवर्मा का शासनकाल) से लेकर १५वीं शती के अन्त तक विद्यमान हिन्दू राजसत्ता की अवधि में अपार काव्य एवं शास्त्र-वाङ्मय लिखा गया जो पूर्णतः संस्कृत-वाङ्मय का अनुवर्ती है । इस विशाल साहित्य का विस्तृत परिचय पञ्चम अध्याय में दिया जा चुका है ।

रामायणककविन् को मैंने प्रथम बार देवनागरी में लिप्यन्तरित कर हिन्दी में अनूदित किया । सौभाग्य से अब यह महान् कृति सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि० द्वारा प्रकाशित की जा चुकी है । भारत से हजारों मील दूर स्थित एक द्वीप में जनमें योगीश्वर ने निश्चय ही यह युगान्तरकारी ग्रन्थ महर्षि वाल्मीकी, भट्टि एवं कालिदास का अध्ययन करने के बाद ही लिखा है, परन्तु उनकी क्रान्त प्रतिभा का परिपाक इस ग्रन्थ में पदे-पदे देखने को मिलता है । घटनाएं भारत की और उनका वर्णन यवद्वीप के परिवेश में, कितनी विचित्र बात है । यही कारण है कि रामायण ककविन् भारत एवं यवद्वीप की संस्कृतियों का संगम प्रतीत होता है । एक ऐसा ही मार्मिक सन्दर्भ है, रामायण कविन् में प्रयाग-वर्णन का ।

ननिहाल से लौटे भरत राम-वनवास तथा पिता की मृत्यु का समाचार सुनते ही हतप्रभ हो जाते हैं। मारे व्यथा और ग्लानि के, उनकी आंखों से झर-झर आंसू बहने लगे। प्रजाजनों, माताओं तथा गुरु वसिष्ठ ने उन्हें ढाढस बधाया। धीरे-धीरे उनकी व्यथा कुछ कम हुई। उनका मन पुनः निर्मल तथा पवित्र हो उठा, क्यों कि यही जीवन की प्रकृति है—

इलङ् लर निरालिलङ् हति महो मलुप् निर्मल।
अपन् प्रकृति जाति निङ् ददि कबेह् मतुन्तुङ् पति॥

कुमार भरत ने सेनापति को भूपति की अन्त्येष्टि-व्यवस्था का आदेश दिया और पिता की श्राद्धविधि सम्पन्न की। और फिर अग्रज के प्रति अविचल भक्ति होने के कारण, राघव के दर्शनार्थ वह चल पड़े। ताकि संसार में एक आदर्श स्थापित हो—

समाप्तमहरिप्तत सङ् भरत मेत सङ् राघव[1]
रि सत्य निरभक्ति मिङ् ककतिरुन् निकङ्कबेह्॥

उन्होंने सर्वप्रथम तमसा के दुर्गम वनों में राम को खोजा। जब वहां उन्हें भाई के दर्शन नहीं हुए, तब वह बिना थकावट के आगे बढ़ चले और निर्दोष एवं पवित्र लोकप्रख्यात सरिता गंगा तक पहुंच गये। गंगा ही जैसा था निर्मल एवं पवित्र कुमार भरत का हृदय।

तमन् कतिमु सङ् पिनेत् लुमकु सङ् ममेत्तर् सडेल्
तिमुङ् ल्वहतिनिर्मलातिशय दिव्य गंगा गहन्।
मणिक् स्फटिक चन्द्रकान्त य पडन्य शुद्धाप्रतिह्
कदिप्व य मनह् निरङ् भरत सत्य भक्तीङ् कक॥

---

१. पृथ्वी छन्द (सर्वत्र)

कुछ और आगे बढ़ने पर उन्हें एक और विशाल नदी मिली—प्रख्यात यमुना। गंगा से मिलकर वह उसी प्रकार बह रही थी जैसे भटार शिव से समन्वित भटार विष्णु।

इ सोर हनत संगम न्य कलवन्त गंगाप्रतिह्।
कदि प्व य भटार विष्णु कलवन् भटारेश्वर॥

कुमार भरत आगे बढ़ते हुए महर्षि भरद्वाज के आश्रम में आये। दिन ढल चुका था, रात घिर आई थी। महर्षि ने शिष्यों के साथ कुमार की गौरवपूर्ण पहुनाई की। अपने योगबल से उत्पादित नाना प्रकार के पकवान महर्षि द्वारा अतिथियों को प्रदान किंये गये। सचमुच, उत्कृष्ट तप सर्वकामप्रद होता है।

अनेक पनमुय महार्षि मितु सङ्क रिङ् योग य
अमोघ मनुरुन् मनोज्ञ कयु पारिजाताद्भुत।
असिङ् सकह् ऋप् समेनक पवेह् निरङ् पण्डित
अहो सफल निङ् तपातिशय सर्वकामप्रद॥

—रामा० कक० ३.३८

अप्सराओं के साथ देवाङ्गनाएं इन्द्रलोक से पृथ्वी पर उतर आईं। उन्होंने पाहुनों की सेवा की। नृत्य-गीत, वीणावादन से उन्हें रिझाया। अतिथिगण इस पहुनाई से आह्लादित हो उठे। वे रात-भर आश्रम में रुके रहे। प्रभात होते ही ये लोग पुनः राम के अन्वेषणार्थ चल पड़े। अपनी सैन्य के साथ भरत दिव्य-सरोवर मन्दाकिनी के पास आ पहुंचे। यहीं उनकी भेंट एक नग्न वनवासी से हुई, जिसने उन्हें उस प्रदेश का परिचय दिया जहां राघव रह रहे थे। वह स्थान था पवित्र गिरि चित्रकूट।

वडुण्डहिन शीघ्र यर्लकु मुवह् उमेत् सङ् कक[१]
लवन् बल डटिङ् सिरेङ् तलगदिव्य मन्दाकिनी।

---

१. पृथ्वी छन्द।

कथञ्चन हन प्व नग्न वनवास पंगुह् निर
सिरोमरहकिन् प्रदेश कहनन् निरङ् राघव ॥

—रामा० कक० ३.४०

दोनों भाई परस्पर मिले । भरत ने आंसुओं में डूब कर, राम से अयोध्या लौट चलने की प्रार्थना की । परन्तु राम ने भाई को कर्तव्य की शिक्षा देते हुए, संयम बरतने को कहा । उन्होंने कहा—प्रिय भैया भरत ! तुम लौट जाओ अयोध्या । यदि तुम्हें सचमुच राजा बनने की इच्छा नहीं तो मेरी चरणपादुकाओं की सेवा करो । यही राजा होंगी ।

नहनिकन वुवुस्सङ् केकयीपुत्र साधु[१]
ददि सुमहुरिका सङ् रामभद्रासि मस्वी ।
मुलिह अत कितान्तिन् ङ्कार्ययोध्या तमोलिह्
यदि न लिमिह सेवन पादुकङ् क्वीकि रत्व ॥

—रामा० कक० ३.५२

भगवान् राम ने तदनन्तर भरत को उत्तम राजनय का उपदेश देते हुए कहा कि **भरत ! सुनीतियों का आचरण करो । अन्तर्दृष्टि रखो तथा गुणों का विकास करो । शत्रुओं का दमन करो ।**

सुनीति प्रिहतान्तिन् गगपि हति गौडिन् गुणगणन्[२]
मुसुहतोपायन् तोह् पिसनि पनसिङ् पाश पहसत् ।
इके शत्रुन्तह्योन् सहन पकिन म्वङ् किर-किर
ततन् वेहिन्तातामवह मिसिडिङ् द्रोहक रटह् ॥

—रामा०कक० ३.८१

---

१. मालिनी छन्द ।

२. शिखरिणी छन्द ।

इस प्रकार अपने साथ भगवान् की पवित्र चरण-पादुकाएं लेकर भरत घर लौट आये। अयोध्या की प्रजा के लिये वे पादुकाएँ पूजा का विषय बन गईं। भरत साम्राज्य की देख-रेख के लिये वहीं (नन्दिग्राम) निवास करते रहे।

अथ लुमकु मुलिह् सङ् केकयीपुत्र लुंहा[१]
तिनवनकिनिरेकङ् पादुकाऽत्यन्त दिव्य।

यत सिनिवि सिनिम्बह् दे निकङ् व्वङ्र्ययोध्या
भरत सिर तमोलह् भक्ति मंत्राक्ष राज्य॥

—रामा- कक० ३.८६

लंकाविजय के अनन्तर, भगवान् राम पवनात्मज हनूमान् से कहते हैं—**भद्र मारुते! तुम आकाशमार्ग से अयोध्या पहुंचो, भरत को मेरे आगमन की सूचना देने के लिये। उन्हें बताओ कि शत्रु का संहार हो चुका है। मैं तुम्हारे पीछे आ ही रहा हूं पुष्पक से।**

'प्रियवर! तुम्हें मार्ग बताता हूं। सघन घनघटाओं को आकाश में चीरते हुए तथा महोदधि को भी पार कर तुम महेन्द्रपर्वत पर पहुंचोगे। उसके अनन्तर उत्तर में बढ़ने पर मलय, विन्ध्य तथा ऋष्यमूक पर्वत मिलेंगे। माल्यवान् तथा दण्डकवन को पार कर तुम क्रमशः सुतीक्ष्ण एवं शरभंग के आश्रमों का दर्शन करोगे। तदनन्तर महर्षि अत्रि को प्रणामाञ्जलि अर्पित करना— चित्रकूट में और पहुंच जाना महर्षि भरद्वाज के आश्रम में।[२] पवनपुत्र! यहां यमुना नदी तुम्हें आह्लादित करेगी, तुम्हारे मन को स्नानमात्र से पवित्र कर देगी। यहीं पर तुम्हें एक और अतिशय निर्मल तथा सरिताओं की अधीश्वरी मिलेगी—जाह्नवी। तुम गंगा

---

१. मालिनी छन्द।

२. योगीश्वर भरद्वाज-आश्रम चित्रकूट में बताते हैं, स्थान से अपरिचित होने के कारण। इसी प्रकार दो तमसा नदियों को भी एक मानने का भ्रम है उन्हें, भारतभूमि में प्रथम तमसा तो अयोध्या के समीप है तथा दूसरी मध्यप्रदेश के रीवा जनपद को पार करती, इलाहाबाद की मेजा तहसील में गंगा से संगत होती है।

में भी स्नान करना। गंगा की धारा पवित्र एवं गंभीर तो है, साथ ही साथ भयावह भी है। गंगा के उत्तर में है नीले जल वाली तमसा, मानो शिलाञ्जन हो! इन्हें पार करते हुए त्वरितगति से तुम उस क्षेत्र में पहुंचना जहां बहती है पवित्र सरयू जिसका जल शीतल, सुवासित तथा पीतवर्ण है। क्योंकि स्नान करती अयोध्या-रमणियों के पयोधर-कुङ्कुमचूर्ण धुलकर जलराशि में मिल गये हैं। यहीं है—मेरी प्राणप्रिय जन्मभूमि, अयोध्या।'

ऋषि अत्रि पवित्र सिम्बहिन्
सिपिरिङ्क्ष पतपन् निरापदौ।
तिम्र तङ् गिरि चित्रकूट लोर्
सुभगेङ् शोभ भरद्वजाश्रम॥
यमुना य विनङ् मवेह् ह्युत-
सिंबू बुद्धि य शुद्धि दे निका।
तिम्र तङ् ल्वहगौङ् सुनिर्मल
रतु निङ् तीर्थ पवित्र जाह्नवी॥
सिलिमिङ् ल्वहहो महाऽद्भुत
शुचि गम्भीर हिली न्य भीषण।
कदि नील लवन् शिलाञ्जन
तमसाक् योमसिहिङ् कतामसन्॥[१]

—रामा० कक० २४.२१३, २१४, २१५

पुष्पकारूढ राम सीता को विविध पर्वतों, नदियों, आश्रमों तथा जनपदों से परिचित कराते हैं। रामायणककविन् का सम्पूर्ण २५वां सर्ग इसी यात्रावर्णन से सम्बद्ध है। इस सर्ग में कवि ने लगभग २६ श्लोकों में (१२ से ३७ तक) भरद्वाज आश्रम तथा प्रयाग-क्षेत्र का अद्भुत रसमय वर्णन किया है। महर्षि भरद्वाज के

१. वियोगिनी छन्द।

आश्रम में पशुओं, पक्षियों की गतिविधियों का वर्णन कवि की अपनी मौलिक सूझ-बूझ है क्योंकि ये सारे पक्षी यवद्वीप के हैं, न कि भारत के। हिंजि, पुडङ्, मनिङ्तिङ्, डडा, परञ्जङ्न्, पुमुह् विंदु, कुतोङ्, किलिक्, सुलुवुग, तथा ददली नामक पक्षियों की चित्र-विचित्र क्रीडाओं का वर्णन योगीश्वर करते हैं, महर्षि भरद्वाज के आश्रम में ! एक बार पुनः उनकी दृष्टि केन्द्रित हो उठती है गंगा और यमुना के पवित्र संगम पर। कालिदास का ही वाक्य दुहराते हुए कवि कहता है कि **गंगा में स्नान कर लेने से मानव मुक्त हो जाता है।**

> **गङ्गाङ्ग निकनङ् गभीर गुमुरुह् माहस् हिली न्याप्रतिह्।**
> **मुत्यात्यन्त पड न्य मुक्त्यसिङगौङ् श्रद्धा न्य यन्तोनिका॥**[१]
>
> —रामा० कक० २५.३५

---

१. शार्दूल० छन्द।

दशम अध्याय

बालीद्वीपीय कविता में सौन्दर्य-चित्रण

बालीद्वीपीय कविता का तात्पर्य है— बाली तथा जावा की समन्वित कविता। पूर्व अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है कि यवद्वीप तथा बालीद्वीप की समस्त साहित्यिक सर्जना समान रही है। इस साहित्यसर्जना का प्रारंभ हुआ **रामायणककविन्** से नवीं शती ई० के अन्तिमचरण में। इसी क्रम में इन दोनों द्वीपों में, संस्कृत एवं स्थानीय मलय भाषाओं के मिश्रण से उपजी **कवि** भाषा में उत्कृष्ट कोटि का महिमामय साहित्य आठवीं से १५वीं शती ई० के मध्य लिखा गया। रामायण-महाभारत एवं पुराणों के अतिरिक्त, कालिदास, भारवि तथा माघ प्रभृति प्रतिभाधुरीण भारतीय कवियों के युगान्तरकारी महाकाव्यों को आधार बना कर यवद्वीप में समरूप भव्य महाकाव्य (ककविन) लिखे गये।

म्पू योगीश्वर, म्पू कण्व, म्पू त्रिगुण, म्पू मोणगुण, म्पू धर्मज, म्पू सेडाह, म्पू पनुलुह, म्पू तनकुंग, म्पू तन्तुलर तथा म्पू प्रपञ्च सरीखे यवद्वीपीय महाकवियों ने विलक्षण काव्यरचनाएं प्रस्तुत कीं। इन कृतियों में प्रकृति के उदात्त चित्रणों तथा मनोमुग्धकारी बिम्बविधानों की अद्‌भुत छटा विद्यमान है। मांसल शरीर तथा अंगसौष्ठव-जनित मादक रूपसौन्दर्य का प्रशस्त वर्णन इन काव्यों में मिलता है जो कि भारतीय कवियों के वर्णनों से कथमपि **अवरकोटिक** नहीं कहा जा सकता।

रामायण-ककविन् यवद्वीपीय साहित्यपरम्परा का आदिग्रन्थ है और इसके आदर्श हैं वाल्मीकिरामायण, भट्टिकाव्य तथा महाकवि कालिदास के काव्यग्रन्थ। परन्तु प्रतिभापटिष्ठ योगीश्वर ने, यथावसर अपनी कवित्व-प्रतिभा का भी भरपूर

प्रदर्शन किया है । फलतः इस अमरकृति में नवमशती की यवद्वीपीय सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं वैयक्तिक गतिविधियां सविस्तर निरूपित हुई हैं ।

कथानक भारत का और उसकी परिणति यवद्वीपीय वसुन्धरा में । भारत की मिथिलायात्रा यवद्वीप में ? कितना विलक्षण संयोग है ! परन्तु इसी संयोग के कारण रामायणककविन् में दो राष्ट्रों की प्रकृतियों एवं समाजों का मणिकाञ्चन सामञ्जस्य संभव हो सका है ।

यवद्वीपीय रामायण में चित्रित रूप-सौन्दर्य विविध है । एक ओर कवि जड़-जगत् के सहजात एवं ऋतुपरिवर्तनजन्य सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है तो दूसरी और चेतन-जगत् की रमणीयताओं को । ये रमणीयताएं भी मुख्यतः द्विविध हैं- आन्तर एवं बाह्य । यद्यपि रामकथा की वाल्मीकि-भट्टि-कालिदास-अनुगतता के कारण योगीश्वर का रूप-सौन्दर्य-वर्णन बहुत कुछ परप्रत्ययाश्रित एवं अधमर्ण प्रतीत होता है । परन्तु एतावन्मात्र ही वास्तविक सत्य नहीं है । इन वर्णनों में यवद्वीपीय माटी की भी गन्ध पर्याप्त मात्रा में मिली-जुली है; जिसका और अधिक परिष्कृत रूप परवर्ती **पाञ्जी** (प्रेमाख्यान) साहित्य में देखने को मिलता है ।

संस्कृतमिश्रित यवद्वीपीय भाषा (कविभाषा) में प्रणीत पाञ्जी कथायें तो **ककविन्** (काव्य) साहित्य में आती हैं, परन्तु परवर्ती बाली भाषा में, तेंगहान तथा मचपत छन्दों में प्रणीत, स्थानीय प्रेमाख्यान **गेगुरितान्** के नाम से विख्यात हैं । ऐसा ही एक प्रसिद्ध पाञ्जीकाव्य है- **गेगुरितान् पाकंग ररास** जिसमें कहुरिपन (जंगल-साम्राज्य की राजधानी जिसे बाद में **सिंहसारि** कहा गया) के राजकुमार रदेन मंत्री तथा **दह** (पंजलु-साम्राज्य की राजधानी दहन अथवा कडिरी) की राजकुमारी रदेन गलुह की प्रणयगाथा वर्णित की गई है । आखेट के लिये आया राजकुमार एक भयावह तूफान में सहचरों से बिछुड़ जाता है और अचेतावस्था में ही बवण्डर के जोर से जा पहुंचता है राजकुमारी गलुह के बगीचे में ।

चेतना लौटने पर उसे जब वस्तुस्थिति का ज्ञात होता है तो वह दोनों राज्यों की भयावह शत्रुता को दृष्टि में रख कर अपना वास्तविक परिचय न देकर स्वयं को **पाकंग ररास** नामक एक सामान्य व्यक्ति बताता है । फिर भी, राजकुमारी गलुह

उस पर निछावर हो उठती है तथा विश्वस्त सखियों की सहायता से उसे अन्तःपुर में सुरक्षित रखती है । इसी अन्तराल में उन दोनों का प्रणय प्रगाढ़ हो उठता है ।

अन्ततः भेद खुल जाता है । पाकंग ररास पकड़ा जाता है, परन्तु मृत्युदण्ड से पूर्व ही, उसके सेवक रक्षार्थ आ जाते हैं । तुमुल संग्राम छिड़ जाता है— जंगल एवं पंजलु के सैनिकों में और इस युद्ध से ही दहनरेश को यह भी ज्ञात हो जाता है कि राजकुमारी का प्रणयी कोई सामान्य व्यक्ति (पाकंग ररास) नहीं, बल्कि राजकुमार रदेन मंत्री है । इसी प्रत्यभिज्ञान के साथ रदेनमंत्री तथा गलुह का विवाह हो जाता है तथा दोनों साम्राज्यों का वैर भी समाप्त हो जाता है ।

इस प्रेमाख्यान में यवद्वीप की मध्यकालीन सौन्दर्यात्मक अवधारणा के दर्शन होते हैं । इस गेगुरितान् के कुछ उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है-

१. रहदेन मंत्री करगन्/ मन्यिङ्क रहदेन देवी / कदि गोन्दिम मदु मव्योक/ रहद्यना इदा अमुवुस/ रतु मास मनिकिंग पम्रेमन्/ ल्विर पिनातिन/ मनाह् तित्यांग रिंग ई देव ! !

अर्थात् असंहत मधु के समान राजकन्या को देख रदेन मंत्री को करुणा (प्रेम) हो आई । वह राजकन्या से बोला— शय्या पर आसीन हे सुन्दरि ! तुमने मेरा हृदय काम के बाणों से क्षत-विक्षत कर दिया है !

२. रदेन देवी सेमू मोरंग/ तुमुङ्खुल ररीस मनंगिस् । ङ्गेपेतेल बाष्प मरिंग दादा/ रहद्यान् गेलिस ङ्ग्राङ्गकुल/ ङ्गेम्बन तुर् मंगरासरास/ दुह् मास मानिक्/ लीलयाग कमुने देव ! !

कुमार की बात सुन लज्जा से आरक्त मुखमण्डल वाली रदेन गलुह सन्तप्त हो उठी तथा क्रन्दन करने लगी । बाष्प (आंसू) उसके पयोधरों पर टपकने लगे। रदेन मंत्री ने तब उसे बाहुपाश में समेट लिया । पुनः उसे आलिंगित कर, चुम्बन लेकर बोला -**हे प्रेयसि ! अपने हृदय को शान्त करो !**

३. सपुनिक् अतुर तित्यांग/ बोया तित्यांग तृष्णेंग उरिप्/ वक्तिन तित्यांग मन्योकोर्/ रहद्यान मंगिनंग सम्पुन् । ररीस मंगतुरंग सेपाह/ दुह् मास मानिक्/ पुनिक रतु अर्जेगाङ्ग ॥

मैं भी तुमसे अतिशय प्रेम करता हूं। मैं मृत्यु से भयभीत नहीं। हे प्रेयसि ! मेरा प्रेम तुम्हारे लिये अर्पित है। ऐसा कह कर कुमार ने (गलुह के हाथों) पान का बीड़ा चबाया और कुछ अंश रदेन गलुह को देते हुए बोला- हे प्रिय ! तुम भी इसका आनन्द लो !

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रेमासक्त-हृदय गलुह एवं रदेन मंत्री के भावनात्मक सौन्दर्य का एक मधुर-संस्पर्श अनुभूत होता है। राजकुमारी के प्रेम में डूबी रदेन मंत्री की आंखें उसे असंहत **मधु** अर्थात् बिखरी हुई मधु के रूप में देखती है। यह मधु तो **संहत** (एकत्र) तभी होगी जब वह किसी के भोग का विषय बन जाय ! इस अभिव्यक्ति में महाकवि कालिदास के **मधु नवमनास्वादितरसम्** (अभिज्ञान शाकुन्तलम्) की गन्ध प्राप्त होती है। गलुह के पयोधरों पर टपकते आंसू भी विरहिणी यक्षिणी अथवा तपोरता उमा का चित्र उपस्थित करते हैं।[१] आलिंगन, चुम्बन तथा प्रियतमा के हाथों पान का बीड़ा चबाना तथा चर्बितांश प्रणयिनी को भी देना - ये सब रूप-लावण्य तथा प्रेम की ही अभिव्यक्तियां हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि १३वीं, १४वीं शती ई० के यवद्वीपीय-साहित्य में सौन्दर्यात्मक चेतना परिपाक के शिखर पर विद्यमान थी।

वस्तुतः इस सौन्दर्य-चेतना का मूल निस्पन्द हमें महाकवि योगीश्वर-प्रणीत रामायणककविन् में मिलता है, जिसका प्रणयन व्यास-वाल्मीकि, कालिदास एवं भट्टि-सरीखे महामहिम भारतीय कवियों की काव्यप्रतिभा के आलोक में संभव हो सका।

---

१. तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चित् (उत्तरमेघ) तथा पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः (कुमार० ५.२४)

योगीश्वरप्रणीत रामायणककविन् में उपलब्ध सौन्दर्य-वर्णन वस्तुतः भारतीय सौन्दर्य-चेतना एवं अवधारणा का अनुगामी है। फिर भी उसमें प्रतिपद नवीनताएं दृष्टिगोचर होती हैं। जिनका सम्बन्ध यवद्वीपीय सामाजिक सङ्केतनाओं तथा नैसर्गिक विशेषताओं से है नवम शताब्दी ई० के यवद्वीप में जो सामाजिक परिस्थितियाँ थीं, जैसा कौटुम्बिक परिवेष था और जैसा सहज चिन्तन था— वह सब भी रामायण के सौन्दर्यवर्णनों मे रूपायित हुआ है। यह सौन्दर्यवर्णन दो प्रकार का है- बाह्य एवं आन्तरिक। बाह्य सौन्दर्य-वर्णन में प्रकृति की परिवर्तनशील सुषमा के मादक चित्र हैं तथा स्त्री-पुरुष के अंगसौष्ठवजन्य वैशिष्ट्य हैं तो आन्तरिक सौन्दर्य में वाग्व्यवहार के अनुभूति-प्रवण मर्मस्पर्शी संवेदन हैं जिन्हें महाकवि भवभूति अत्यन्त वैयक्तिक तथा अनिर्वचनीय मानते हैं - **हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्।**

राम एवं लक्ष्मण की मिथिला-यात्रा का सन्दर्भ प्रकृति-सौन्दर्य के अनूठे चित्र प्रस्तुत करता है। सरोवर में कुमुद पुष्प अपनी लालिमा के कारण आग की लपटों जैसे प्रतीत हो रहे थे और उन पर बैठे भ्रमर-गण धूम-बिम्ब के समान !

उत्फुल्ल तङ् कुमुद कप्व मिकर्पदाबङ्
र्याक् र्याक् निकङ् तलगयेक दुमिह्य चाल।
व्यक्तन् कतोन् कदि दिलह् निङ्पुय्य मोलह्
कुम्बङ् भ्रमन्त इ रुहुर्न्य अकिन् कुकुस्न्य॥ २.४

चेतन-जगत् के व्यवहारों को जड-प्रकृति पर आरोपित करने से प्राकृतिक-सौन्दर्य में विलक्षणता-सी आ गई है। वस्तुतः ऐसे सन्दर्भों में कवि ने समासोक्ति अलङ्कार एवं बिम्बविधान का सहारा लिया है। वायु से प्रकम्पित नीलकमलिनियां इतनी चंचल हो उठी थीं कि भौरें उन पर बैठ नहीं पा रहे थे। ऐसा लगता था मानों कुमुदिनियों द्वारा पूर्वोपभुक्त अपने लम्पट नायकों का वे तिरस्कार कर रहीं थीं - सपत्नी जनित ईर्ष्या के कारण।

तुञ्जुङ् प्रकम्पित तिनूब्रिडङीन्य मोलह्
तुल्यानुलक्कदि महारि लकिन्य मेलिक्।

कुम्बङ् मरिङ् कुमुद ङनि दुमिह्य मेवा
ईर्ष्या स्वभाव निकनङ् विनि धार कासीह्॥ २.८

राम के साथ मैथिली को देख कर शूर्पणखा अपने संकल्प (राम को पतिरूप में वरण करना) पर लज्जित हो उठी और लक्ष्मण के पास जा पहुंची। उसके मांसल सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि **उसका मुख चन्द्रमा के समान था। उसकी कटि मात्र दो बीते व्यास की तथा लचीली थी। ऑखें मधुर एवं शान्त थीं। जघन सुघटित था तथा दीप्त नखों से युक्त उंगलियाँ साही के काँटों जैसी थीं। उसके नितम्ब विशाल तथा पयोधर उन्नत थे। दन्तपंक्तियाँ धवल तथा संसक्त थीं। नासिका सुन्दर थी। रत्नजटित उसके कर्णाभूषण मनोज्ञ एवं आकर्षक थे। वह पुष्पालंकरणों से ओतप्रोत थी। उसकी दृष्टि एवं मुस्कान मधुर थी। अपनी अदम्य कामवासना के कारण वह लज्जाभाव को मानों तिलाञ्जलि दे चुकी थी।**

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि शूर्पणखा का रूप-सौन्दर्य अमर्यादित तथा उद्दीपक था। वस्तुतः यह सौन्दर्य सहज एवं नैसर्गिक कम था, आरोपित अधिक। क्योंकि शूर्पणखा का उद्देश्य था कुमार लक्ष्मण को अपने प्रेमपाश में बाँधना।

जघनन्य मगौङ् सुसुन्य बुन्तिर् मपुतिह् हुन्त्वलरिस् इरुङ्न्य शोभा।
सिसिरन्य मणिक् मनोज्ञ सश्री मसकिर्राम्य मरुम्पुकंन् मसुम्पिङ्॥
ममनिस्त वुलत्य लेन् गुयुन्य इकन ल्विर्न्य मकिन् सराग मह्युन्।
रि सवेत्लि हियुन्यता इरङ्न्य रि सिरङ् लक्ष्मण यन्मसौत मोजर्॥

-रामायण कक० ४. ३२,३३

परन्तु इसके ठीक विपरीत है विदेहनन्दिनी की सहजात सुन्दरता जिसके विषय में योगीश्वर कहते हैं - वे आँखें निरर्थक हैं जिन्होंने वह लावण्य नहीं देखा,

वे नासारन्ध्र निष्फल हैं, जिन्हें सीता के अंगों की गन्धानुभूति नहीं, वे श्रवणयुगल निर्गुण हैं, जिन्होंने उनकी मिठासपगी वाणी नहीं सुनी ।

त्रिभुवन का साम्राज्य भी यदि सीता की प्राप्ति के लिये शुल्क रूप में चुकाना पड़े तो कम ही है ।

विष्णुपत्नी लक्ष्मी और शची इन्द्राणी भी सीता के रूप-लावण्य के समक्ष कुछ नहीं हैं । गिरिसुता (पार्वती) चन्द्रप्रिया रोहिणी और रति अपूर्व रूपसौन्दर्य-सम्पन्न हैं' यह बात भी मूढ ही कह सकता है ।

यद्यपि सीता का यह वर्णन शूर्पणखा द्वारा किया गया है, परन्तु इसमें कृत्रिमता नहीं है । इस वर्णन में अप्रस्तुतविधानों का स्वारस्य बड़ा ही मार्मिक है । लक्ष्मी, गौरी, शची, रोहिणी तथा रति के भी रूप-लावण्य की अवमानना कर कवि ने मानों सीता के सौन्दर्य की अनिर्वचनीयता को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है ।

विविध सांसारिक उपमानों द्वारा सौन्दर्य का वर्णन करना, मात्र उसकी स्थूलता को रूपायित करना है, जैसे-शुक जैसी नासिका, हिरनी जैसी आँखें, कम्बु जैसी ग्रीवा आदि । परन्तु साभिप्राय एवं अनुभवसापेक्ष असाक्षात् प्रतिमानों द्वारा सौन्दर्य-वर्णन करने की बात ही कुछ और है । कालिदास भी शकुन्तला के रूप-लावण्य का स्थूल-वर्णन करते-करते ऐसी ही स्थिति में आ जाते हैं—

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

अनाघ्रात पुष्प, अनाविद्ध रत्न, अनास्वादित मधु, कररुहालून किसलय तो सांसारिक उपमान हैं, उन्हें भला कौन नहीं समझ लेगा ? परन्तु किसी रमणी के सौन्दर्य को **पुण्यों का अखण्ड फल** कहना तो गागर में सागर भरना है । इसकी अर्थवत्ता का विस्तार ही असीम है । जितनी सहृदयता होगी, इस विशेषण का अभिप्राय भी उतना ही होगा ।

महाकवि योगीश्वर भी यही करते हैं। शूर्पणखा का रूप वर्णन तो वह आद्यन्त मात्र पार्थिव प्रतीकों से करते हैं, परन्तु सीता का लावण्यवर्णन अप्रस्तुतविधानों से।

अतह तहन्यतन्त अप तप्वननोण्डहयु
इकन इरुडत्त तन्सफल यन्तनिकाऋकन्।

तुवि तलिङ्न्त निर्गुण यतन्यङुजर्न्य ऋङौन्
सुक परिपूर्ण रिङ्ह्यु असिङ् कहनन् रसिका॥

हरिदयिता शची तुवि तमन् पमडान हयु
गिरिसुत रोहिणी रती अपूर्व तमन् पमडे।
हयु रसिका कबेह् रहयु लिङ्निडपुङ्गडिक
अनकिबि सङ् रघूत्तम जुगाहयु लिङ्कु पुतुस्॥

—रामा० कक० ५.१४,१६.

योगीश्वर मतरामवंशी नरेश बलितुंग के राजकवि थे। नवीं शताब्दी ई० के अन्तिम चरण में जावा का यह हिन्दूसाम्राज्य वैदिक संस्कृति के परिपालन में निष्ठापूर्वक लगा हुआ था। यवद्वीप में भी भारत की ही तरह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था विद्यमान थी। समाज में कर्मकाण्ड प्रवीण धर्माचार्यों तथा संन्यस्त साधु-संतों का अपूर्व सम्मान था।

योगीश्वर के सारे रूपबिम्ब प्रभावित तो हैं आदिकवि वाल्मीकि से ! परन्तु अधिकांश वर्णनों में यवद्वीपीय संस्पर्श एवं संस्कार भी सम्मिलित है। जब वह रावण के यतिवेष का वर्णन करते हैं तो निश्चय ही एक **कर्मकाण्डी पुरोहित** का चित्र साकार हो उठता है- एक परम शान्त, सात्त्विक शुद्ध शैव संन्यासी ! देदीप्यमान केशकुन्तल, बाहर निकली शिखा, निर्मल-धवल दन्तपंक्तियाँ, रूद्राक्ष की मालायें, कन्धे पर लटकता जलपात्र, लाक्षारस के समान लाल बल्कल वस्त्र ! वह पर्यटन करता हुआ मन्त्र-पाठ कर रहा था।

अतिशय शुद्ध हुन्तु मपुतिह् स्फटिकोपम य
तुविं मगणित्रिकुण्डल क्लुह्य सिनणडिरि।
लितु हयु वर्ण लाक दलुवङ् निरराम्य मबाङ्
लुमकु मनस्य येक दलिहनिरन् कातिडिर्॥
मजप महुन्यकिन् त सिर मंत्र तिहिर लुमकु॥ ५-६६

इसप्रकार योगीश्वर नारी तथा पुरुष- दोनों के ही अवसरोचित सौन्दर्य-निरूपण में दक्ष हैं । अवसरोचित से मेरा तात्पर्य है—जीवन की विविध परिस्थितियों (मनोभावों) के अनुरूप सौन्दर्य का वर्णन होना !

स्थूल अंगों का सौन्दर्य-वर्णन तो सरल कार्य है; परन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अगोचर, निगूढ अंगों (मन, हृदय, आत्मा) की सुन्दरता को रूपायित करना किसी भी कवि के लिये कठिन काम है । संस्कृत कवियों में महाकवि भवभूति इस कला में पारंगत हैं ।

अपहृता वैदेही के लिये विलाप करते राघव के हृदय को अभिव्यक्त करने में योगीश्वर को भी अभूतपूर्व सफलता मिली है । राम कहते हैं- **हे प्रिये ! तुम्हारे वियोग में सूखे-मुरझाए ये पुष्प भी मुझ शठ की तुलना में श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मैं तुम जैसी भार्या को खोकर भी मृत्यु का वरण नहीं कर पा रहा हूँ।**

कुसुम सफल दिव्यासिहन्य तीव्रे कितान्तिन्
अतिशय किर किङ्किङ् न्यार्कसह् देन्त मोनिङ्।
अकु कलन त कासिह् पुष्प तातन् पडे य
तय कित तुवि देवी तन् पिजह् दे न्युनिङ्कु॥ ६.४१

प्रिये ! मेरे प्रेम की परीक्षा लेने के लिये तुम कहीं छिप तो नहीं गई हो ? तुम परिहास तो नहीं कर रहीं ? तुम्हारे अभाव में मेरा जीवन संशयापन्न हो उठा है और मैं मर कर भी तुम्हारे पास आना चाहता हूँ !

अप कित ममरीक्षा दोन्त मिङ्गिप् उमिङ्गत्
प्रहसन त कुनङ् दोनिङ् हुमौत् गुख्व-गुख्वन्।

वितु तटटि हुवुस् हे तन्ब्रुहिङ् शोक मोनिङ्
विषमतिकि हुरिप्कुन् तूत मिङ्गत् प्व देन्त॥ ६.४२

इन पद्यों में सीता के प्रति राम के हृदय का विलक्षण अनुराग कवि ने प्रकट किया है। यह भी गूढ-सौन्दर्य का प्रकाशन है।

परन्तु सीता के वियोग में जर्जर वही राम क्रोध एवं अमर्ष के आवेग में **महाकाल** का रूप धारण कर लेते हैं। वह श्रेष्ठ पर्वतों को धराशायी कर देने तथा सागर को भी सुखा देने की प्रतिज्ञा करते हैं। आज सारा संसार विशीर्ण हो उठेगा। पृथ्वी पिस जायेगी। कुबेर अवसन्न होंगे और यक्षगण कालग्रास बन जायेंगे। देवगण अब नहीं रहेंगे। अन्तरिक्ष चूर-चूर हो जायेगा।

सीतावियोगी राम ने यह कहते-कहते ही सृष्टि के विनाशार्थ धनुष पर कराल शर सन्धानित कर लिया।

महाकालवेषी राम का यह रूपाङ्कन योगीश्वर ने विलक्षण रीति से किया है। इस वर्णन में सर्वसमर्थ राघव के आहङ्कारिक एवं सर्वक्षयी रूप की भयावह अभिव्यक्ति हुई है। सीता का अपहरण? और वह भी राम सरीखे महाधनुर्धर, समरविजयी नायक की आँखों के सामने? यह असह्य अपमान ही राघव को 'कालभैरव' बनने के लिये बाध्य कर देता है।

दिनकर तुवि सोहर्यङ् सूर्य देङिक्व प्रभाव
गिरिवर शत शीर्णा सागरासात देङ्कु।
सहन-हन निकात हिन्त्य तातन्पशेष
उरगपति उलागौङ् ङ्कारि पाताल शीर्णा॥

डुनि डुनि इकनङ् व्विल् हिन्त्य तातन्पशेष
धनपति तुवि दुह्का यक्ष यस्यूह मात्य।
अकुत मलिह कालोमात्यनङ् कालमृत्यु
सकलभुवन चूर्णा भूमि देङ्कुन् पुसुस्य॥

नहनिकन वुवुस्सङ् राघवासिहंनाद
तिहङकिनिकनङ्ह्व देव सक्रोध रिङ्टात्।

प्ररुदित मनरिङ्स्सङ् लक्ष्मणासिह् मनिम्बह्
मुहुतकिनिकनङ्रात् मात्य तातन्पदोष ॥

—रामा० कक० ६.५७,५८,६०

इसी प्रकार के अत्यन्त मर्मस्पर्शी रूपचित्रण हम वाली-सुग्रीव के मल्लयुद्ध एवं लंकादाह आदि सन्दर्भों में पाते हैं ।

परन्तु योगीश्वर के अनेक प्रकृति एवं मानवीय वर्णनों में तद्युगीन यवद्वीपीय-समाज अथवा प्रकृति प्रतिबिम्बित हुई है । राम द्वारा सागर का अविनय समाप्त करने के लिये शरसन्धान करते ही सागर-जल उबलने-सा लगता है । उस स्थिति में सागर-जीवी मत्स्यों की क्या दुर्दशा होती है ? इसका एक अद्भुत वर्णन कवि ने किया है ।[१]

कुमार भरत द्वारा लंकाजयी वानरसेना को भोज पर आमंत्रित करने के सन्दर्भ में परिहास-पेशल विदूषक भाण्डीर द्वारा व्यञ्जनों-पकवानों का जैसा परिचय दिया जाता है तथा जिस वाक्कौशल से मेहमानों की अगवानी की जाती है, उससे तद्युगीन यवद्वीपीय वाङ्माधुरी एवं वाचिक सौन्दर्य का परिचय मिलता है । कुछ सन्दर्भों द्वारा उपर्युक्त मन्तव्यों की पुष्टि की जा रही है ।

सर्वाधिक आकर्षक स्थल वे हैं, जहाँ कवि ने अत्यन्त मौलिक विचार व्यक्त किये हैं । कवि कहता है- सचमुच दुःख हृदयहीन है । विना किसी पूर्वसूचना के वह आ धमकता है और सुख को ढँक लेता है । परन्तु यही तो वास्तविक जीवन है- सुख एवं दुख की आवाजाही !

दुःख का रंग काला है और सुख का लाल । फिर भी दोनों समन्वित हैं । यह समन्वय वाद्यवृन्द जैसा है, जिसमें तंत्र (वीणा) एवं सुषिर (बाँसुरी) एक ही साथ

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य :– रामायण ककविन् सर्ग १५, इस वर्णन में कवि ने लुम्बलुम्ब, ब्रन्तिक, तुलि, पिसुत, ककप् बलनक् बहिस्, डुयुङ्, गितिम्, लयर, उवुर, पिलुङ्लुङ् लुजुलुङ् जुलुङ्, अवन् तथा गिलिङ् गिलिङ् नामक मछलियों का उल्लेख किया है ।

बजते हैं। यह शरीर भी एक वाद्य है जिसे हम बजाते हैं। यह आह्लाद एवं अवसादभरी ध्वनियों का संगम है।

ल्लु तनेरङिकङ् लर यर् सिलत्
तनतिलिङ् लिनिपुत् निकनङ् सुक।

मरहकिन् सुक-दुःक निकङ् सिरात्
हन रिकेङ् ददि तन्ददि यापसह्॥

लर हऋङ् सुक लाक सकण्ड य
कदि त मंसि धिनाष मसङ्गनि।

न्यसि शरीर य मंश पमंस्यन
य हिबिकन् सुक-दुःक लना पिसन्॥

—रामा० कक० २६.१२,१३

महाकवि योगीश्वर यवद्वीपीय साहित्यपरम्परा के **आदिकवि** हैं। उनकी अमरकृति रामायणककविन् का साहित्यसौष्ठव, कहीं-कहीं भारतीय संस्कृत काव्य-परम्परा की गरिमा को भी पीछे छोड़ता-सा प्रतीत होता है। समूची भारतीय रामकथा-परम्परा में हम लंकास्थित सीता द्वारा प्राणवल्लभ राम को पत्र प्रेषित करने का उल्लेख नहीं पाते। परन्तु महामहिम योगीश्वर ने सीता द्वारा अत्यन्त मार्मिक पत्र राघव के प्रति लिखवाया है, जिसका आभिप्रायिक-सौन्दर्य अनूठा है। वह पत्र, तन्मयता के क्षणों में, राम की अश्रुधारा से धुल जाता है। चेतना लौटते ही हतप्रभ राम करुण क्रन्दन करने लगते हैं प्रिया के सन्देशाक्षरों के लिये!

ऐ सङ् मास्त्ति! तोह् तुलुङ्कुत्तसौ सङ् लक्ष्मणारिर्वुलत्
न्दह् तोन्तोन्त इकेङ् तुलिस् हन लिबुर्मक्वेह् सुरुद् तन्कतोन्।
हाह् तग्बूह् अपन्नुनिन्य तकुनिङ् संके लर न्याक् हिडिप्
धू न्यातह् कटिका कुनिङ् हमिङनिङ् रेकान्सुसुक् रिङ् हति॥

—रामा० कक० ११.३४

एकादश अध्याय

बालीद्वीपीय कविता पर कालिदास का प्रभाव

सुनने में यह तथ्य सर्वथा अविश्वसनीय सा लगता है कि भारत से हजारों मील दूर, प्रशान्त महासागर में स्थित बाली (एवं जावा) द्वीपों की साहित्य-परम्परा पर विश्वकवि तथा भारतराष्ट्र के गौरवबिन्दु महाकवि कालिदास का प्रभाव पड़ा होगा। परन्तु यह एक स्थापित सत्य है। महाकवि कालिदास ने प्राय: बृहत्तर भारत के समस्त राष्ट्रों की काव्य-परम्परा को प्रभावित किया है, विविध रूपों में।

यायावर संस्कृति-दूतों के साथ कालिदास की कविता इन सुदूर द्वीपों में गई तथा वहां की साहित्यसर्जना का मानक आदर्श बन गई। जावा तथा बाली भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रहे।

जनपरम्परा के अनुसार सम्राट् शिण्डोक के शासनकाल में महाकवि योगीश्वर द्वारा प्रणीत **रामायण ककवीन** प्राचीन जावी भाषा (Old javanese) की प्रथम भारतमूलक उत्कृष्ट साहित्यिक कृति है। छब्बीस सर्गों में पूर्ण इस विशाल ग्रन्थ में २७७८ छन्द हैं। यह कृति पूर्णत: वाल्मीकि एवम् भट्टि से प्रभावित है; परन्तु ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण अंश वह है; जहां वर्णनक्रम में जावा की अपनी प्रकृति, भावनाएं, संवेदनाएं, आचार-विचार तथा खान-पान आदि का सहज वर्णन हुआ है। इन कवियों ने अपना मूल कथानक रामायण, महाभारत तथा संस्कृत के अन्य कवियों से लिया तो अवश्य परन्तु **प्रकरणवक्रता** की सर्जना में उन्होंने अपना अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया है।[१] जावा और बाली का सम्पूर्ण भारतमूलक साहित्य चार कालखण्डों में विभक्त है—

---

१. द्रष्टव्य—तन्तुलरप्रणीत पुरुषादशान्त (सुतसोम) तथा म्पू पनुलुह—प्रणीत घटोत्कचाश्रय। अभिमन्यु कृष्ण की पुत्री सितिसुन्दरी से विवाह करने को इच्छुक है जिसमें बलदेव बाधक हैं। बलदेव से मुक्ति पाने के लिए अभिमन्यु भीम-पुत्र घटोत्कच का आश्रय लेता है।

१. प्राचीन जावी साहित्य (१० वीं से १५वीं शती तक)—सह साहित्य मुख्यत: मध्य एवं पूर्वी जावा में ब्रान्तस, ओपाक तथा प्रागा-सरयू नदी की घाटियों में, हिन्दू नरेशों के आश्रय में लिखा गया। यह पूर्णत: भारतीय-साहित्य संस्कृति एवं वृत्तों पर आधारित है। इसका पद्यरूप **ककवीन** कहा जाता है, जो संस्कृत **कवि तथा काव्य** शब्दों का जावी रूपान्तर है।

२. जावी-बाली साहित्य (१५वीं से अद्यावधि) —यह साहित्य बाली द्वीप में लिखा गया, प्राचीन जावी भाषा में भी और प्राचीन बाली भाषा में भी। भारतमूलक साहित्य के अतिरिक्त इस अवधि में बाली की स्वतन्त्र कृतियां भी अपनी भाषा में लिखी गईं, जिन्हें केडुंग एवं गेगुरितान कहते हैं।

३. जावी-पसिसिर साहित्य (१५वीं से १७वीं शती तक) —जावा द्वीप के समुद्रतटवर्ती उत्तरी जनपदों को **पसिसिर** कहा गया है। जावा के इस्लामीकरण के अनन्तर जो साहित्य पूर्व में सुरावाया तथा ग्रेसिक जनपदों में, पश्चिम में सेरबोन तथा बान्तेन जनपदों में साथ ही साथ मदुरा द्वीप में लिखा गया, वह इसके अन्तर्गत आता है। पसिसिरसाहित्य जावा की संस्कृत-परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न तथा अरबी-फारसी विचारों एवं सिद्धान्तों से प्रभावित है। इस साहित्य की भाषा भी प्राचीन-जावी (संस्कृत बहुल) के स्थान पर नव्य जावी है।

४. पुनर्जागरणकालीन अभिजात जावी-साहित्य (१८ वीं तथा १९वीं शती) —कर्तासुरा, सुराकर्ता तथा योग्यकर्ता के शासकों के संरक्षण में संस्कृताश्रित प्राचीन जावी-साहित्य की नये सिरे से रचना हुई। **पुजंग** नाम से विख्यात सुराकर्ता के साहित्यकारों की इस युग की कृतियां काव्यशिल्प की दृष्टि से समूचे जावी-साहित्य का शृंगार मानी जाती है। यह साहित्य संस्कृत-रहित नव्य जावी भाषा (Modern Javanese) में लिखा गया। जावा का रंगमञ्चीय-साहित्य इसी युग की देन है।

प्राचीन जावी अथवा जावी-बाली साहित्य की अधिकांश भारतमूलक कृतियां रामायण एवं महाभारत पर आश्रित हैं, विशेषकर महाभारत पर। परन्तु

अन्य संस्कृत-कवियों में सर्वाधिक प्रभावी कवि-कुलगुरु कालिदास ही रहे हैं। कालिदास का जावी-बाली साहित्य पर यह प्रभाव दो प्रकार का है—

१. कालिदास की कृतियों के कथानकों का आदान तथा पुनर्वर्णना (Reproduction)

२. कालिदास के काव्यशिल्प का आदान।

महाकवि मोणगुण ने सुमनसान्तक ककवीन की रचना रघुवंश महाकाव्य के आधार पर की। मोणगुण कडिरी सम्राट् जयवर्ष दिग्जय, जिसे ११०४ ई० के एक शिलालेख में **जयप्रभु तथा शास्त्रप्रभु** उपाधियों से अलंकृत किया गया है, का आश्रित कवि था। मोणगुण के सहचर त्रिगुण ने कृष्णायन ककवीन लिखा; जिसके दृश्यों का चित्रण चण्डी जगो तथा पनतरन के मन्दिरों की भित्ति-मूर्तियों में प्राप्त होता हैं।

सुमनसान्तक[१] की प्राचीन जावी पाण्डुलिपि में कवि ने स्वयं ग्रन्थ की पुष्पिका में स्वयं को सम्राट् वर्षजय का आश्रित कहा है। इस ककवीन में राम के पूर्वजों का पौराणिक इतिवृत्त सरस काव्यशैली में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु जैसा कि प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया गया है, जावी कवि अपनी परिकल्पना तथा स्वारस्य में पूर्णतः स्वतन्त्र रहे हैं। सुमनसान्तक में भी राम के पिता दशरथ को विदर्भ-नरेश अज तथा एक देवाङ्गना (अप्सरा) से उत्पन्न बताया गया है। ये परिवर्तन जावी कवियों द्वारा जानबूझकर किये गये हैं। रामायण ककवीन में भी सीता विभीषण को **कूटारमानव** का पण्डित बताती है, जो कि १४वीं शती का ग्रन्थ माना जाता है।

---

१. प्रसिद्ध डच संस्कृतज्ञ जुइनबॉल द्वारा कालिदास के रघुवंश के साथ सुमनसान्तक का एक संग्रह १८९१ ई० में (Bki vol, 50) किया गया। प्राचीन जावी के इस ककवीन का जावीबाली गगुरितान संस्करण, जो कि संस्कृत-वृत्तों के स्थान पर बाली के निजी काव्यवृत्तों (तेंगहान तथा मचपत) में प्रणीत किया गया, बाली में १८वीं शती में लिखा गया।

म्पू धर्मज-प्रणीत स्मरदहन ककवीन का मूल आधार भी महाकवि कालिदास का कुमारसम्भव महाकाव्य है। परन्तु काव्य के कथानक में धर्मज ने भी मनोनुकूल परिवर्तन किये हैं। तपश्चर्या एवं ब्रह्मचर्य में बाधक **कामजय** को शिव अपने तृतीय नेत्र की ज्वाला से भस्म कर देते हैं। इसके अनन्तर उमा से उनका विवाह होता है, जिसके फलस्वरूप गणेश का जन्म होता है। गणेश देवासुर-संग्राम में दानवाधिपति **नीलरुद्रक** का वध करके देवों को सुख-शान्ति प्रदान करते हैं। इसप्रकार कुमारसम्भव के षडानन एवं तारकासुर को धर्मज ने गणेश एवं नील रुद्रक के रूप में कल्पित कर लिया है। परन्तु उमा-तपस्या, कामदाह, उमाशिव-विवाहादि घटनाएं सर्वथा कालिदास के अनुकूल हैं।

म्पू धर्मज ने कामदहन की रचना अपने आश्रयदाता कडिरी-नरेश कामेश्वर (१११०६-३५ ई०) की कीर्ति को चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से की। कामेश्वर को जावी-परम्परा में काम का अवतार माना गया है। उसकी सम्राज्ञी श्रीकिरण भी (वज्रदेव की कन्या तथा) जंगल राज्य[१] की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। कामेश्वर तथा श्रीकिरण ही जावा तथा बाली के अमर **पाञ्जी प्रेमाख्यान-साहित्य—परम्परा** के मूल नायक-नायिका हैं; पाञ्जी प्रणय-कथाओं (Panji Romances) में श्रीकिरण को **चन्द्रकिरण** कहा गया है।

म्पू धर्मज ने मुद्रालंकार द्वारा अपने इस प्रख्यात ककवीन से कई संकेत प्रकट किये हैं। **काम** शब्द से प्रेम और रूप-सौन्दर्य के देवता काम का (उसका आश्रयदाता का अवतार था) **कामेश्वर** शब्द से काम (अथवा कडिरी-नरेश) को पुनर्जीवन देने वाले भगवान् शिव का तथा **दहन** शब्द से राजधानी दह अथवा दहन

१. सम्राट् एरलंग (१०१०-४९ई०) ने अपने दो पुत्रों में जावा का साम्राज्य विभक्त कर दिया था और स्वयं गेण्टयु नामक ऋषि के रूप में प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। महातान्त्रिक भराड ने **जंगल** (पूर्वी जावा, जिसकी राजधानी **कहुरिपन** कवि पर्वत के पास थी) तथा **पंजलु** (पश्चिमी जावा जिसकी राजधानी **दह अथवा दहन**' थी, जिसे बाद में कडिरी भी कहा गया) के रूप में साम्राज्य को विभक्त किया। दोनों राज्यों का बंटवारा एक दीवार से किया गया, जिसके अवशेष अभी भी कवि पर्वत तथा समुद्रतट पर प्राप्त होते हैं।

का स्मरण कवि ने किया है। कवि ने सेमर अथवा स्मर को **कामजय** के पर्याय-रूप में प्रयुक्त किया है। ग्रन्थ के शीर्षक में **स्मर** शब्द है जबकि चित्रण में कामजय! प्राचीन जावी (संस्कृत-मिश्रित जावी) में लिखित इस ककवीन की अनेक पाण्डुलिपियाँ जावा, बाली तथा नीदरलैण्ड्स (लीडेन वि० वि०) के ग्रन्थगारों में सुरक्षित है।[१]

संस्कृत-साहित्य में दूतकाव्यों की परम्परा निश्चित रूप से महाकवि कालिदास के मेघदूत से प्रारम्भ हुई है। कालिदास की कल्पना का भी मूल निस्यन्द हनूमान् का दौत्यकर्म रहा होगा।[२] परन्तु दूतकाव्यों की सर्जना की प्रत्यक्ष प्रेरणा भारतीय तथा भारतेतर कवियों को कालिदास से ही मिली, इस कथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

म्पू तनकुङ्ग ने १३वीं शती ई० के पूर्वार्द्ध में चक्रवाकदूत ककवीन की रचना की, जिसमें एक प्रोषितपतिका विरहिणी नायिका अपने प्रवासी पति को, चक्रवाक पक्षी के माध्यम से अपना मार्मिक सन्देश प्रेषित करती है। डॉ० थ्योडोर पिगॉड इसे भारतीय (संस्कृत) छन्दःशास्त्र को लक्ष्य बनाकर लिखा गया एक उपदेशपरक ग्रन्थ मानते हैं।[३] डॉ० पिगॉड की इस मान्यता का मूल आधार इस ककवीन का दूसरा नाम **वृत्तसञ्चय** है। जैसे संस्कृत के मन्दारमरन्दचम्पू की शैली तो **चम्पू** है, परन्तु विषय है अलंकारशास्त्र। ठीक उसीप्रकार चक्रवाकदूत अथवा वृत्त-सञ्चय[४] की शैली तो दूतकाव्य की है, परन्तु विषय है संस्कृत-वृत्तों का विवेचन।

---

१. प्रसिद्ध जावी विद्वान् डॉ० पर्वतजरक ने स्मरदहन का डच रूपान्तर १९३१ ई० में किया (KBG, BibI javanica, Vol. 3,1931)

२. इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य सम्भाव्य चैवम् ॥—उत्तरमेघ, श्लोक-४२

३. In fact the Kakwin is a didactic poem on Indian prosody. It contians samples of Indian metres – Literature of Java, vol. I, P. 189.

४. वृत्तसञ्चय का सम्पादन, डच रूपान्तर तथा व्याख्या प्रो० कर्न (लीडेन विश्वविद्यालय,

सम्भवत: शैली तथा विषयवस्तु की विशेषताओं के ही कारण ग्रन्थ के दो नाम पड़ गये।

म्पू तनकुङ्ग ने चक्रवाकदूत (तथा अपने अन्य ककवीन लुब्धक) की रचना सिंहसारि-साम्राज्य के संस्थापक केन अंग्रोक (= राजस, १२२२—४७ ई०) के शासन में की। लुब्धकककवीन के प्रारम्भ में कवि ने अपने आश्रयदाता को **गिरीन्द्रवंशज** के रूप में स्मरण किया है। प्रपञ्चप्रणीत नागरकृतागम में केन अंग्रोक को गिरीन्द्र (शिव) का पुत्र माना गया है। केन आंग्रोक एक साधारण कृषकपुत्र था जो राजपुरोहित का आश्रय पाकर तुमपेल (पूर्वी जावा) शासक तुंगल अमेतुंग का सेवक बन गया। अवसर पाकर उसने राजा का वध कर डाला और उसकी विधवा रानी अनिन्द्य-सुन्दरी डेडेस से विवाह कर स्वयं तुमपेल राज्य का शासक बन बैठा। उसकी राजधानी **कुटराज** नगर में थी, जो बाद में सिंहसारि के रूप में प्रख्यात हुई।

यह तो हुई चक्रवाकदूत पर मेघदूत के शैलीगत प्रभाव की बात। इसे हम 'अप्रत्यक्ष-प्रभाव' भी मान सकते हैं। परन्तु अपने सूक्ष्म अध्ययन का एक ऐसा सटीक प्रमाण प्रस्तुत कर रहा हूं, जिसके बारे में कोई संशय हो ही नहीं सकता। यह प्रमाण निर्विवाद रूप से सिद्ध कर देता है कि जावा के कवि १०वीं शती ई० में ही कालिदास एवं उनकी कृतियों से सुपरिचित हो चुके थे। म्पू तनकुंग-प्रणीत चक्रवाकदूत, म्पू धर्मजप्रणीत स्मरदहन तथा मोणगुण-प्रणीत सुमनसान्तक क्रमश: १३ वीं, १२वीं तथा ११वीं शती ई० की रचनाएं हैं।

परन्तु इन सबसे प्राचीन है म्पू योगीश्वर-प्रणीत रामायणककवीन; जो कि जावा तथा बाली की सर्वसम्मत परम्परा के अनुसार मतरामवंशी शासक वतुकुर बलितुंग (१० वीं शती ई० का पूर्वार्ध) के शासनकाल में लिखा गया। प्रसिद्ध डच विद्वान् डॉ० एच० कर्न का कहना था कि म्पू योगीश्वर संस्कृतज्ञ नहीं था, ग्रन्थ का प्रतिपाद्य उसे किन्हीं अन्य स्रोतों से प्राप्त हुआ। जावी विद्वान् डॉ० पर्वतजरक ने इसका खण्डन करते हुए योगीश्वर को वाल्मीकि से सुपरिचित बताया। श्री एम०

हालैण्ड) ने १८२५ ई० में की। इसका पुनर्मुद्रण Versprcide gesehrifter (his collected works) Vol. G. में सम्पन्न हुआ।

घोष ने योगीश्वर की कृति को **अंशतः भट्टिकाव्य का अनुवाद तथा अंशतः उसका आहरण** सिद्ध किया।

वस्तुतः ये सारे मत अपूर्ण, एकांगी तथा गहन एवं तुलनात्मक अध्ययन के अभाव के परिणाम मात्र हैं। अपने एक अन्य शोधनिबन्ध में मैंने सप्रमाण योगीश्वर के मौलिक संस्कृतज्ञान, वाल्मीकि-भट्टि ही नहीं प्रत्युत कालिदास से भी उनके अन्तरंग परिचय की सिद्धि की है। रामायण की आधारशिला वाल्मीकि-परम्परा अवश्य है, परन्तु कथा एवं चरित्र के विकास में, प्रकरणवक्रता में योगीश्वर की क्रान्तदर्शी प्रतिभा को नकारा नहीं जा सकता।

रामायण ककवीन का अध्ययन करते समय मेरी दृष्टि अचानक अपहृता सीता के वियोग में सन्तप्त राघव के उद्गारों पर जा टिकी। राम के सारे उद्गार वही थे, जो प्रिया-विरही यक्ष के थे रामगिरि पर। उधर प्राणप्रिया यक्षिणी का वियोग, इधर द्वितीयजीवितभूता वैदेही का वियोग। उधर रामगिरि, इधर प्रवर्षणगिरि। उधर प्रत्यासन्न नभस् (सावन का महीना) और इधर भी वही जलदागम। सीता के वियोग में व्यथित राम कहते हैं—**हे प्रिये! हरिण को देखकर तुम्हारी चञ्चल चितवन, गजराज को देखकर तुम्हारी विलसित-गति, चन्द्रमा को देखकर तुम्हारी मुखच्छवि, सरिता की चञ्चल तरंगों को देखकर तुम्हारे कटाक्ष तथा नाचते मयूर को देखकर तुम्हारे केश-कुन्तल की मैं कल्पना किया करता हूं**[1]

रिङ् किडङ् कतुतुरिङ् ज्वलत्ज्मरूम्-
रिङ् लिमन् कतुतुरिङ् डुलह् वजेद्।
रिङ् विलन् कतुतुरिङ् मुका बुङ्ह्
हाह् ह्युन्त मङ्वेश रिडहुलुन्॥

---

१. तुलना करें :—श्यामास्वङ्गं चकितहरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥ (उत्तरमेघ ४६)

व्वय निकङ् ल्वहदलेम य चञ्चल
यांक् न्य तुल्य हलिसन्त यञ्चल।
रम्बुतिङ् प्रक् अडिगेल्य ता किरिस्
व्यक्त लिङ्कु गेलुङ्न्त याकिल ॥[१]

राम पुनः कहते हैं—**हे प्रिये ! देवदारु वृक्षों का स्पर्श करता हुआ कोमल पवन मलय-पर्वत से प्रवाहित होता है । मेरे नासारन्ध्रों को आप्यायित करता हुआ इसका सौरभ चतुर्दिक् बिखर जाता है । निश्चय ही यह सौरभ तुम्हारे कपोल-मण्डल का है । मैं यही अनुभव करता हूं ।**[२]

कोमलाङ् मलय मारुतो मिरिर् देवदारु इनरस्न्य रिङ्डलस् ।
सूमुन्य सुम्रकुमरेडिरूङ् सुमार् तुल्यगन्धनि पिपिन्त यक् हिडेप् ॥[३]

हे प्रिये ! दिन के समय तो मैं बहुत अधिक व्यथित नहीं होता, वन के अनेक दृश्य मनोविनोद के साधन होते हैं । परन्तु रात्रिवेला में मैं तुम्हारे वियोग में डूब जाता हूं । एकदम निर्लक्ष्य, दिग्भ्रमित एवं असहाय ![४]

मैं सदैव कामना करता हूं कि रात छोटी हो अथवा सदैव दिन ही बना रहे । हाय, मैं तुम्हारे अभाव में कितना दीन एवं असहाय हूं ! रात में तुम्हारी स्मृतियां मुझे बींध देती हैं ।[५]

---

१. रामायणककवीन, पद्य २४, २५

२. तुलना करें :– भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं किल यदि भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ (उत्तरमेघ ५०)

३. रामायणककवीन ७.२७

४. मेघदूत में यह स्थिति यक्षिणी के सन्दर्भ में चित्रित की गई है—
सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ् के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ॥ —उत्तरमेघ २८

५. तुलना करें : संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा सर्वावस्थास्वहरपि कथं

काल निङ् रहिन तन् मकुङ् दहत्
क्वेह तिनोङ्कु रिङ्लस्य लालन।
काल निङ् वँङि अतह् मकुङ् तँमॅन्
तर्तिनोङ्कुत परन्निकङ् मनह्॥
प्रार्थनङ्कु वँङि येक मेडगल नित्यकाल रहिना कुलेङ् लना।
हाह्! लुकन्वित गेलान नि ड्हुलुन्
यन् कनेनेडेन अतह् कितेङ् कुलेम्॥[1]

तुलनात्मक-समीक्षा से प्राप्त इन प्रमाणों के बाद अब म्पू योगीश्वर को महाकवि कालिदास से अनभिज्ञ एवं अप्रभावित कह पाना कठिन है। मैंने यह सन्दर्भ वाल्मीकि रामायण में देखा। यद्यपि राम के वियोग का वाल्मीकीय सन्दर्भ अत्यन्त विस्तृत है, परन्तु राम के ये उद्गार वाल्मीकीय रामायण के कत्तई नहीं हैं। यह पूरा प्रसंग म्पू योगीश्वर ने मेघदूत के प्रभाव में ही लिखा है। परिवर्तन नाममात्र के हैं, परन्तु साम्य अत्यन्त विश्वसनीय एवं रोचक हैं। यहाँ तक कि कालिदास के **हा हन्तैकस्मिन्** को भी म्पू योगीश्वर ज्यों का त्यों 'हाह् हयुन्त' के रूप में उद्धृत करते हैं।

खण्डानुकरण के भी अनेक सन्दर्भ रामायण ककवीन के इस सनदर्भ में हैं 'तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम्' को कवि **अहाह् कदित सेवुँ वर्ष इकनाडुनॅङ सक्षण** (वियोग का एक क्षण भी हजार वर्षों के समान हो जाता है ७.३१) के रूप में प्रस्तुत करता है।

वस्तुतः राम के वियोग में म्पू योगीश्वर द्वारा वर्णित चातक, मयूर, हंस, इन्द्रधनुष, मेघवर्षा तथा शरसम्पात आदि भाव अनेक संस्कृत कवियों के गहन अध्ययन पर आधारित हैं जिससे कवि की बहुश्रुतता सिद्ध होती है।

मन्दमन्दातपं स्यात्। इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः॥ —उत्तरमेघ-५१

१. रामायणककवीन ७.२८-२९

जावा तथा बाली का नाट्य-वाङ्मय (Wayang plays) उन्नीसवीं शती से पूर्व उत्पन्न तथा विकसित नहीं हुआ— इस सन्दर्भ में प्राय: सभी जावी, बाली तथा विदेशी विद्वान् एकमत हैं। जावा का वायांग साहित्य पसिसिर-युग में सुराकर्ता, कर्तासुरा तथा योग्यकर्ता के सहृदय नाट्यप्रेमी सुल्तानों के संरक्षण में विकसित एवं लोकप्रिय हुआ। ये सुल्तान वायांग-लेखको के महान् आश्रयदाता भी थे, स्वयं उत्कृष्ट वायांग-लेखक भी थे और वायांग-पूर्व (रामायण-महाभारत पर आश्रित) तथा वायांग-गेदॉग (पाञ्जी प्रेमाख्यानों पर आश्रित) के लोकप्रिय अभिनेता भी थे। ये सुल्तान नाट्यकला के महान् संरक्षक थे। मंकुनगरन लंगेन्द्रिय (अपर नाम मन्द्रस्वर) सुराकर्ता का राजकुमार प्रभुविजय तथा कुसुमादिलग आदि इसी कोटि में आते हैं जिनके संरक्षण में यशादिपुर प्रथम एवं द्वितीय, सिन्धुशास्त्र एवं तण्ड कुसुम जैसे श्रेष्ठ नाट्यकारों ने अपने नाट्यशास्त्रीय (शास्त्र मिरुड) तथा प्रायोगिक ग्रन्थ लिखे।

परन्तु अपने घटोत्कचाश्रय ककवीन में **पनकवन** नामक पात्र-विशेष की अवतारणा सर्वप्रथम म्पू पनुलुह ने की जो पञ्जीकथानायक कडिरी सम्राट् कामेश्वर प्रथम के पुत्र सम्राट् जयभय (११३५-५७ ई०) का आश्रित कवि था। म्पू पनुलुह ने सेडाह द्वारा प्रारम्भ तथा अपूर्ण प्रख्यात भारतयुद्ध ककवीन को पूर्ण करने के साथ ही साथ स्वयं भी दो महत्त्वपूर्ण ककवीन लिखे– हरिवंश तथा घटोत्कचाश्रय। अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु कृष्ण की पुत्री सितिसुन्दरी से विवाह करना चाहता है। परन्तु बलराम इस विवाह के विरुद्ध हैं। बलदेव से संघर्ष करने के लिये अभिमन्यु भीम एवं हिडिम्बा के पुत्र घटोत्कच की शरण में जाता है। यही इस ककवीन का कथानक है।

पनकवन नायक के सहचर अथवा सेवक हैं जो अत्यन्त परिहास-पेशल तथा सर्वविध अभिनय-पटु हैं। इनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं व्यवहार संस्कृत नाटकों में प्राप्त विदूषकों जैसा है। जावा तथा बाली का सम्पूर्ण रंगमञ्चीय वैभव इन्हीं 'पनकवन' पात्रों पर आगे चलकर केन्द्रित हो गया। इन द्वीपों के वायांग-पूर्व (रामायण-महाभारत कथानक) तथा वायांग गेदॉग (पाञ्जी प्रेमाख्यान) प्राय: सन्ध्या

से प्रारम्भ होकर सूर्योदय तक चलते थे । यहाँ तक कि बेचारे **डलङ्ग** (सूत्रधार) को एक क्षण के लिये भी मंच छोड़ने की नौबत नहीं आती थी, क्योंकि विविध दृश्यों के अभिनयों को जोड़ने वाले लयवाही आमुखों (Rhythmic Prose) तथा संवाद के मध्यवर्ती गीतों (suluks=श्लोक) के गायन का पूर्ण दायित्व उसी पर होता था ।

वायांग के ऐसे उबाऊ तथा दीर्घ-संवाद-बोझिल वातावरण में 'पनकवन' की अवतारणा **सञ्जीवनी** का काम करती थी । प्रारम्भ में ये पनकवन **अर्धदैव** व्यक्तित्वों के थे । जैसे सेमर (स्मर), परन्तु बाद में १८वीं शती के वायांग-साहित्य में ये विशुद्ध मानव व्यक्तित्व के हो गये । वस्तुत: वायांग देखने का मूल आकर्षण **पनकवन** ही होते थे ।

संस्कृत-नाटकों के विदूषक से यद्यपि पनकवन का पूर्ण साम्य है, परन्तु पनकवन विदूषक की तरह अकेला नहीं होता था । घटोत्कचाश्रय में सर्वप्रथम म्पू पनुलुह ने जुरुदेह, पुन्त तथा प्रसान्त नामक तीन पनकवनों की अवतारणा की । जुरुदेह तथा प्रसान्त परवर्ती साहित्य में एकाकार भी हो गये जोदेग सान्त के रूप में । परवर्ती ककवीन-लेखकों तथा वायांग-कृतिकारों ने तीन के अतिरिक्त पनकवन की संख्या चार, पांच या छह तक भी रखी है । बाली द्वीप के वायांग में भी **परेकान** (= जावी पनकवन) हैं । त्वालेन और उसका पुत्र मरदह तो नायक-पक्ष के होते हैं; जो सत्य और धर्म के लिए लड़ते हैं । अनेक नाटकीय प्रतिकूल घात-प्रतिघातों के बाद भी अन्तत: त्वालेन ही संघर्ष में विजयी होता है । उसके प्रतिद्वन्द्वी हैं वामपंथी देलम और संगुत, जो कि खलनायक के साथ रहते हैं । ये असत्य, अधर्म तथा अन्य निषेधांत्मक प्रवृत्तियों के पक्षधर होते हैं ।

अब प्रश्न यह है कि जावा तथा बाली के साहित्य में ये **पनकवन अथवा परेकान** पात्र आये कहां से ? बाली वायांग के **परेकान** तो निश्चय ही जावा के प्रभाव से वायांग में आये । परन्तु जावा में, महाकवि पनुलुह को **पनकवन** की प्रेरणा निश्चय ही महाकवि कालिदास के नाटकों में उपलब्ध 'विदूषक' से मिली । मेरी इस धारणा का मूल आधार है रघुवंश तथा कुमारसम्भव की नींव पर सुमनसान्तक,

स्मरदहन तथा मेघदूत की शैली में चक्रवाकदूत की रचना । यदि कालिदास के तीन ग्रन्थ १२वीं शती के जावी लेखकों के प्रेरणास्रोत थे तो निश्चय ही उनकी नाट्यकृतियां, सभी या कोई एक, भी जावा में विद्यमान रही होंगी । सम्भव है कि शाकुन्तल के माढव्य ने ही पनुलुह को पनकवन की परिकल्पना की प्रेरणा दी हो ।[१]

मेक्सिको के निवासी श्री कॉवरूबियास, जो दो वर्ष बाली द्वीप में रहें, ने अपनी कृति **आईलैण्ड ऑव बाली** में बड़ी दृढ़ता से कहा है कि बाली वायांग के 'परेकान' मौलिक हिन्दू वीरकाव्यों में अस्तित्वहीन रहे हैं और वे बाली के स्थानीय चरित्र हैं ।[२] परन्तु श्री कॉबरु-बियास को भास एवं कालिदास की नाट्यकृतियों की विदूषक-परम्परा का सम्भवत: परिचय नहीं मिल सका था । आज से जितना पूर्व **पनकवन** का जन्म हुआ था, तब से उतना ही पूर्व अथवा उससे भी अधिक पूर्व भारतीय नाटकों का विदूषक पैदा हो चुका था । हां, पनकवन तथा परेकान का व्यक्तित्व-विकास, नाम, संख्या तथा कर्तव्य आदि इन द्वीपों के साहित्यिक परिवेश में अपने ढंग से विकसित हुआ है ।

---

१. गो कि मेरी इस धारणा का एक विरोधी तथ्य भी है । वह यह कि शाकुन्तल कथा पर आश्रित न कोई ककवीन, न पाञ्जी आख्यान और न ही कोई वायांग लिखा गया । डॉ० पिडॉग का कहना है कि 'पनुलुह ने **पनकवन** पात्रों की परिकल्पना सुने-सुनाए भारतीय लोक कथानकों के आधार पर की ।' जावा तथा बाली के साहित्य का मेरा अध्ययन भी अभी भ्रूणकल्प है । उदयन विश्वविद्यालय के ही लोन्तार (पाण्डुलिपि) कक्ष में नौ हजार ग्रन्थों का संग्रह है । संभव है इनमें शाकुन्तल कथा पर अथवा विक्रमोर्वशीय कथा पर आश्रित कोई पाण्डुलिपि हो । यदि ऐसा है तो निश्चय ही **पनकवन** की सर्जना के मूल में कालिदास हैं ।

२. The fascinating parekans are the favourites of the people and it can be said that the whole show is a pretext for this mad fun-making. Twalen and Dilam, and thus Javanese equivalents are unknown in the original Hindu epics, they are undoubtedly native characters, perhaps ancient deities degraded to the rank of retainers of the Hindu hero-gods. P. 242.

पाञ्जी-प्रेमाख्यान-साहित्य जावा और बाली का सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्य रहा है। १८वीं तथा १९वीं शती में वायांग की रसवत्ता ने जावी-सहृदयों को भले ही अभिभूत करने में सफलता प्राप्त की हो, परन्तु बाली की उत्कृष्ट साहित्यानुरागी जनता ने तब भी पाञ्जी को वायांग से ऊपर ही रखा। संस्कृतमिश्रित प्राचीन जावी में लिखी पाञ्जीकथायें तो **ककवीन** के अन्तर्गत हैं, परन्तु बाली भाषा में (संस्कृतेतर) तेंगहान तथा मचपत छन्दों में लिखे पाञ्जीकाव्य **गेगुरितान** के नाम से विख्यात हैं। इनका एक तीसरा रूप भी है जो गद्यात्मक है।

यद्यपि अभी तक मैंने केवल एक पाजीकाव्य **गेगुरितान पाकंग-ररास** का अध्ययन किया है और उसके आधार पर ही पाञ्जी-प्रेमाख्यान पर कालिदास के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव के सन्दर्भ में निश्चित धारणा बना पाना सम्भव नहीं है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि पाञ्जीकाव्यों की प्रकृति मेघदूत एवं ऋतुसंहार के सरस संवादों के अनुरूप है। पाकंग-ररास में कहुरिपन (जंगल राज्य की राजधानी सिंहसारि) तथा दह (पंजलु नामक राज्य की राजधानी दह, दहन अथवा कडिरी) राजकुमारी रदेन गलुह की प्रणयगाथा अत्यन्त उतार-चढ़ाव, घटनात्मक वात्याचक्रों के साथ वर्णित की गई है।

अपने प्रेम में सन्तप्त विवर्णवदना रदेनगलुह को कुमार रदेन मन्त्री (जिसने अपना वास्तविक परिचय न देकर स्वयं को एक सामान्य कुल का व्यक्ति बताया था, जिसका नाम था—पाकंग ररास। फिर भी राजकन्या उसके प्रेमपाश में बंध गई थी) ठीक उसी रूप में देखता है, जैसे दुष्यन्त ने मदन-सन्तप्ता शकुन्तला को देखा था। रदेन मन्त्री के प्रणयनिवेदन में दुष्यन्त का **इदमनन्यपरायणमन्यथा—मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः** कथन पूर्णतः प्रतिबिम्बित-सा प्रतीत होता है। कुमार द्वारा आलिङ्गन एवं चुम्बन के प्रयासों में रदेन गलुह का लज्जाभिनय भी शकुन्तला का त्रपाकातर चित्र उपस्थित कर देता है। कुमार द्वारा अर्धचर्वित ताम्बूल का कुछ अंश प्रणयिनी के मुंह में देना, **स्पर्शनिमीलिताक्षी** मृगी के शृङ्गकण्डूयन-सुख अथवा **कुसुमैकपात्र** में द्विरेफदम्पति के मधुपान के सर्वथा अनुरूप है। पाकंगररास गेगुरितान के ये तीन छन्द उद्धृत कर रहा हूं।

रहदेन मन्त्री करगन। मन्यिङ्क रहदेन देवी। कदि गेन्दिम मदु मव्योक/रहद्यना इदा अमुवुस/रतु मास मनिकिंग पप्रेमन/ल्विर पिनातिन/मनाह तित्यांग रिंग ई देव।

असंहत मधु के समान राजकन्या को देख रदेन मन्त्री को करुणा हो आई। वह राजकन्या से बोला—**शय्या पर आसीन हे सुन्दरि ! तुमने मेरा हृदय काम के बाणों से क्षत-विक्षत कर दिया है।**

रदेन देवी सेमू मोरंग/तुमुङ्कुल रीस मनंगिस/ङ्गेपेतेल वाष्य मरिंग दादा/रहद्यान गेलिस ङ्ग्राङ्गकुल। ङ्गेम्बन तुर्रमंगरास-अरास/दुह मास मानिक। /लीलयाग कमुने देव॥

(कुमार की बात सुनकर) लज्जा से आरक्त मुखमण्डल वाली रदेन गलुह सन्तप्त हो उठी। वह क्रन्दन करने लगी। आंसू उसके पयोधरों पर टपकने लगे। रदेन मन्त्री ने तब उसे बाहुपाश में समेट लिया। पुनः उसे आलिङ्गित कर, चुम्बन लेकर बोला—**हे प्रेयसि ! अपने हृदय को शान्त करो।**

सपुनिक अतुर तित्यांग/बोया तित्यांग तृष्णेंग उरिप/बक्तिन तित्यांग मन्योकोर्/रहद्यान मंगिनंग सम्पुन्/रीस मंगतुरंग सेपाह/दुह मास मानिक ! /पुनिक रतु अजेंगाङ्ग।

मैं यही चाहता हूं। मैं मृत्यु से भयभीत नहीं। हे प्रेयसि ! मेरा प्रेम तुम्हारे लिये अर्पित है। कुमार ने (गलुह के हाथों) पान का बीडा चबाया और कुछ अंश रदेन गलुह को देता हुआ बोला—**हे प्रेयसि ! तुम भी इसका आनन्द लो।**

द्वादश अध्याय

बालीद्वीपीय कविता में छन्दोविधान

भारत की भांति जावा तथा बाली के प्राचीन काव्य-वाङ्मय में भी पद्य गद्य पर प्रभावी रहा है । पद्य की लोकप्रियता इन द्वीपों में इस बिन्दु तक जा पहुंची थी कि जो गद्य (सतुआ) भी लिखे गये, वे भी प्राय: लयवाही तथा गेय ही होते थे । वायांग, कुलित (पुत्तलिका नृत्य) में **डलंग**(सूत्रधार अथवा प्रस्तुतिकर्ता) जो कथा प्रस्तुत करता था,वह गद्यात्मक होती हुई भी अपने प्रवाह,लय एवं संगीतात्मकता के कारण पद्य से अभिन्न प्रतीत होती थी ।

जावा द्वीप,सुस्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर सातवीं से १५वीं शती ई० तक हिन्दू शासकों के अधीन रहा । इस अवधि में मध्य जावा का मतराम वंश (सातवीं से दसवीं ई० तक), पूर्वी जावा का मतराम वंश(दसवीं से ग्यारहवीं शती ई० के पूर्वार्ध तक) कडिरी का राजवंश(१०५० से १२२२), सिंहसारि का राजवंश (१२२२-९२ ई०) तथा मजपहित राजवंश(१२९४-१४७८ ई०) उत्तरोत्तर अभ्युदयशील रहे । पन्द्रहवीं शती के अन्त में ही सम्पूर्ण जावा इस्लाम सम्प्रभुता के अधीन हो गया । इसी प्रकार १९वीं शती के अन्त तक इस्लामी शासन का भी जावा में अन्त हो गया और सम्पूर्ण द्वीप डचों (हालैण्ड) के अधीन हो गया ।

बाली द्वीप की स्थिति थोड़ी भिन्न रही । बाली में हिन्दू सम्प्रभुता ईसवी शती के प्रारम्भिक चरणों से बींसवीं शती के प्रारंभ तक अखण्ड रूप से स्थापित रही ।[1] परन्तु १९०६ ई० में यह द्वीप भी डचों के अधीन हो गया । जावा के साथ

१. बीसवीं शती के अन्तिम चरण में बाली द्वीप बादुंग,गियान्यार,तबानान,मेंग्वी,बांगली, क्लुंगकुंग, करेंगसेम, बुलेलेंग तथा जिम्ब्रान नामक नौ राज्यों में विभक्त था, जिनमें

भी बाली के हिन्दू नरेशों का समय-समय पर राजनयिक संघर्ष होता रहा। कम से कम तीन बार यह द्वीप जावी-सम्प्रभुता के अधीन भी रहा, सम्राट् एरलंग (१०१०-४९ ई०) सम्राट् कृतनगर (१२५४-९२ ई०) तथा सम्राट् राजसनगर (१३५०-८९ ई०) के शासनकाल में ! परन्तु बाली में कभी इस्लाम का आधिपत्य नहीं रहा। जावी शासकों के चंगुल से छूटते ही बाली पुनः स्वतंत्र होता रहा।

जावा तथा बाली द्वीप की इन्हीं राजनयिक परिस्थितियों में उच्चकोटि की साहित्य-सर्जना भी हुई। इस साहित्य का मूल आधार रामायण, महाभारत तथा अन्य भारतीय पौराणिक ग्रन्थ थे। जावा के इस्लामी शासन के पूर्वार्ध में (१६वीं शतीं ई०) में लिखे गये साहित्य पर अरबी-फारसी का वर्चस्व अवश्य रहा, परन्तु १८ वीं तथा १९ वीं शती में प्राचीन जावी-वाङ्मय के पुनर्जागरण-काल में, एक बार पुनःउच्चकोटि का भारतमूलक साहित्य मुस्लिम सुल्तानों के संरक्षण में, मुस्लिम साहित्यकारों द्वारा लिखा गया। पुनर्जागरण-काल के ये साहित्यकार **पुजंग** नाम से तथा इनकी भारतमूलक काव्यकृतियाँ **कवि-मिरिंग** (Kavi Miring) के नाम से प्रख्यात हुईं।

परन्तु जैसा कि प्रारंभ में कहा गया है, जावा तथा बाली की सम्पूर्ण काव्ययात्रा में छन्दोमयी रचनाधर्मिता का प्राधान्य रहा। विशेष कर विशुद्ध साहित्य रचनाओं में हम आद्यन्त छन्दविधा का वर्चस्व स्थापित पाते है। जावा द्वीप में, डच-प्रभाव के अन्तर्गत प्रणीत किये गये १९ वीं तथा बीसवीं शती ई० के कुछ नाट्यमञ्चीय शास्त्रग्रन्थों **पाकिम**(Pakems) तथा औपन्यासिक ग्रन्थों के अति-

---

प्रधानता गेल्गेल के देव अगुंग की थी। देव अगुंग जावा के मजपहित राजवंश का उत्तराधिकारी था जो कि १४७८ ई० में मजपहित का पतन होने के बाद बाली द्वीप में भाग आया था। तब से उसके प्रत्येक वंशज की राजकीय उपाधि **देव अगुंग**के रूप में प्रख्यात थी। अन्य राज्य देव अगुंग के सामन्तों के थे, जो अब प्रायः स्वतंत्र राजा बन गये थे। डचों ने १९०६ ई० में एक-एक करके इन सभी हिन्दू नरेशों को पराजित एवं नष्ट कर दिया। डेनपसार (बादुंग की राजधानी) का युद्ध २० सितम्बर, १९०६ ई० में लड़ा गया।

रिक्त प्राय: अन्य सभी उत्कृष्ट साहित्यक कृतियाँ पद्य में ही लिखी गई हैं। पद्य अथवा छन्द के प्रति यह मोह बाली में जावा से भी कहीं अधिक रहा है।

प्राय: समस्त जावी-बाली तथा विदेशी विद्वानों ने पद्य की इस गरिमा का श्रेय भारतीय साहित्यिक-निष्यन्द को ही दिया है। रामायण, महाभारत, पुराण तथा कालिदास, भट्टि ने ही प्रारंभिक चरण में प्राचीन जावी-काव्य को प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादन-शैली द्वारा संबल प्रदान किया। यह सम्बल अथवा प्रभाव इतना शक्तिगर्भित था कि १९ वीं शती तक जावा एवं बाली के श्रेष्ठ कवियों को मोहपाश में जकड़े रहा। १५ वीं शतीं के अन्त में जावा के इस्लामीकरण के अनन्तर द्वीप में स्थापित, इस्लामी-धर्म का प्रतिपादन करने वाली गद्य-शैली भी भारतमूलक उस पद्य-परम्परा को अभिभूत नहीं कर सकी। क्योंकि उस युग में भी शास्त्रनगर, सिन्धुशास्त्र, मंकुनगर चतुर्थ, पाकु भुवन तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम आदि ने मुख्य रूप से **कविमिरिंग** कोटि की ही रचनायें लिखीं। गद्य का वर्चस्व तब भी स्थापित नहीं हो सका।

यद्यपि **पर्व** नाम से विख्यात महाभारत के विविध पर्वों के गद्यात्मक रूपान्तर भी पद्य रचनाओं के समान प्राचीन है परन्तु उन्हें भी अंशत: पद्यात्मक कहा जा सकता है। इन पर्वों की रचना धार्मिक-अवसरों पर इनका पाठ करने के उद्देश्य से की गई थी। फलत: इस गद्य में भी लयवाहिता, संगीतात्मकता, अनुप्रास एवं तुक का यत्न-पूर्वक निर्वाह किया गया है। तन्मयतापूर्वक इनका पाठ करने पर, पद्य से पृथक् कर पाना भी कठिन प्रतीत होता है। ठीक यही स्थिति वायांग (नाट्य) के गद्य की भी है।

इस प्रकार जावा तथा बाली का प्राचीन तथा अर्वाचीन, दोनों ही प्रकार का वाङ्मय मूलत: छन्द: प्रकृति में आबद्ध है। इन छन्दों का विवेचन करने से पूर्व प्रमुख पद्य-कृतियों का परिचय दे देना अनपेक्षित न होगा। यद्यपि डॉ० उलेनबेक ने प्राचीन जावी के प्रथम ककवीन (= काव्य) की तिथि ८५६ ई० मानी है, जो कि एक छोटी सी नीतिपरक रचना है। फिर भी सर्वसम्मति से प्राचीनतम तथा उत्कृष्टतम कृति **रामायणककवीन** स्वीकार की गई है। पारम्परिक-मत है कि २६ सर्गों तथा २७७८

छन्दों के इस महान् काव्य को म्पू योगीश्वर ने मतरामनरेश वतकुर बलितुंग के शासनकाल (१०वीं शती ई०) में लिखा था। रामायण ककवीन की परम्परा में १५ वीं शती तक विवध कथानकों पर आश्रित ककवीन लिखे जाते रहे।[१] जावा के इस्लामीकरण के अनन्तर भी प्राचीन-जावी ककवीनों की यह परम्परा बाली और लोम्बोक द्वीपों में अनवरत चलती रही। बाली के ककवीन प्राचीन जावी तथा प्राचीन बाली—दोनों ही भाषाओं में समानान्तर लिखे गये। अन्ततः ककवीनों की एक और स्वस्थ परम्परा १८वीं, १९वीं शती में योग्यकर्ता, सुराकर्ता तथा कर्तासुरा के इस्लामी दरबारों के संरक्षण में उदित हुई। जावा, बाली तथा लोम्बोक की समन्वित ककवीन-परम्परा में एक से एक उत्कृष्ट रचनायें लिखीं गईं। प्राचीन ग्रन्थों की नयी भाषा, नये छन्द तथा नई दृष्टि से पुनर्लेखन भी सम्पन्न हुआ। जैसे म्पू योगीश्वर के रामायणककवीन का यशादिपुर प्रथम द्वारा १८वीं शती के उत्तरार्ध में **सीरत काण्ड**के नाम से पुनर्लेखन। सेडाह-प्रणीत भारत युद्ध ककवीन का भी इसी लेखक द्वारा **व्रतयुद** के नाम से पुनर्लेखन। कण्व द्वारा प्रणीत अर्जुन-विवाह ककवीन का सुराकर्ता के सुल्तान पाकु भुवन तृतीय द्वारा सन् १७७८ ई० में 'मिन्तराग' के नाम से पुनर्लेखन।

जावा तथा बाली के इस विशाल काव्यवाङ्मय में मुख्यतः तीन प्रकार के छन्दों का प्रयोग मिलता है और उन विशिष्ट छन्दों के प्रयोग के ही कारण उनमें लिखा गया साहित्य भी एक विशिष्ट संज्ञा से अभिहित हुआ है।

१. संस्कृत छन्द, जिसमें प्रणीत काव्यों को **ककवीन** कहते हैं।

२. मचपत छन्द, जिसमें प्रणीत काव्यों को **गेगुरितान** कहते हैं तथा

---

१. रामायणककवीन की परम्परा में लिखे गये अन्य प्रमुख ककवीन इस प्रकार हैं—कण्वकृत अर्जुनविवाह (१०३५ ई०), त्रिगुणकृत कृष्णायन (१२वीं शती), मोणगुणकृत सुमनसान्तक (१२ वीं शती), म्पू धर्मजकृत स्मरदहन (१२वीं शती), म्पू पनुलुहकृत हरिवंश, घटोत्कचाश्रय (१२वीं शती), म्पू तनकुंगकृत, लुब्धक, पातिव्रत एवं चक्रवाकदूत (१३वीं शती), म्पू तन्तुलरकृत सुतसोम तथा अर्जुनविजय (१४वीं शती) आदि।

३. तेंगहान छन्द, जिसमें प्रणीत काव्यों को **किडुंग**कहा गया है।

(१) **संस्कृत छन्द**—संस्कृत छन्दोविधान से विद्वज्जन परिचित हैं। उसकी गणना वेद के षडङ्गों में की गई है तथा उसे **वेद का चरण**माना गया है—**छन्दः पादौ तु वेदस्य**। कविता में आत्मभूत रस का छादन अथवा परिसीमन करने के कारण उसे छन्द कहा गया है। आचार्य दण्डी छन्द को **छन्दोविचिति** कहते हैं। अपने मूल आचार्य के नाम पर लक्षणया उसे **पिङ्गल** की भी ख्याति प्राप्त हुई है।

संस्कृत छन्द रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से वृत्त (वर्णिक) एवं जाति'(मात्रिक) में विभक्त हैं। वृत्त रचना का मूल आधार है वर्णों की गणना। पद्य के चारों चरणों के समान वर्णसंख्या होने पर समवृत्त, प्रथम-तृतीय तथा द्वितीय -चतुर्थ चरणों में समान वर्णसंख्या होने पर अर्ध समवृत्त तथा प्रत्येक चरण में विषम वर्णसंख्या होने पर विषम वृत्त होता है। मात्रिक छन्दों की रचना वर्णों की नहीं, बल्कि उनकी मात्राओं की गणना के आधार पर होती है। छन्द-रचना के सन्दर्भ में गुरु-लघु-विधान, गणनिर्माण, यति एवं गणविस्तार आदि का एक सुनिश्चित वैज्ञानिक स्वरूप हैं जो हमें परम्परया प्राप्त है। उसमें कोई परिवर्तन न सम्भव है और न ही अपेक्षित है। वार्णिक छन्द प्रत्येक चरण में एक अक्षर से २६ अक्षर एक विस्तृत हो सकते हैं। इसी विस्तार के अन्तर्गत असंख्य छन्द-भेदों की कल्पना एवं व्यवस्था प्राचीन आचार्यों ने की है।

संस्कृत की यही छन्दोयोजना जावा बाली की ककवीन कृतियों की संरचना का मूल आधार बनी। गो कि डॉ० थ्योडोर पिगॉड ने जावी भाषा को संस्कृत छन्दों की प्रकृति के अनूकूल नहीं माना है, क्योंकि संस्कृत की तरह जावी भाषा में स्वर गुरु तथा लघु नहीं होते हैं। फिर भी उदयकाल से लेकर १९ वीं शती तक संस्कृत के छन्द इन ककवीनों पर प्रभावी रहे हैं।

परन्तु यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि संस्कृत के आर्ष काव्यों एवं पुराणों में प्रयुक्त सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द अनुष्टुप् का जावा के ककवीनों में अधिक प्रयोग नहीं हुआ। इसके कारण की सम्भावना डॉ० पिगॉड ने की है, जो एक सीमा तक तर्कसंगत प्रतीत होती है। उक्त विद्वान् की दृष्टि में जावी कवियों ने अनुष्टुप्

को, मात्र धर्मग्रन्थों का अभिव्यक्ति-माध्यम मान कर उपेक्षित कर दिया ।[१] परन्तु अन्य छन्दों का इन ग्रन्थों में बड़ी सहजता एवं सफलता के साथ प्रयोग किया गया । ऐसे लोकप्रिय छन्दों में आर्या, पुष्पिताग्रा, उपजाति, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, मालिनी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि प्रमुख हैं । रामायणककवीन में तो म्पू योगीश्वर ने **दण्डक**तक का प्रयोग किया । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) उपजाति—अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।

इन्द्रवज्रा (त त ज ग ग) तथा उपेन्द्रवज्रा (ज त ज ग ग) के सम्मिश्रण को उपजाति कहते हैं । उदाहरणार्थ—

ए राघवात्यन्त महार्धिकान्त मतीकसिङ् दुष्कृत दुष्ट रिङ्त् ।
कुनङ्त धर्मान्त तमन् पहीङ्न तनिल्व मत्यातहनक्कु देन्त ॥

—रामायण ककवीन ६-१९१

राम के बाणों से विद्ध प्रयाणोन्मुख बाली कहता है—**हे महार्धिकान्त श्रेष्ठ राघव ! आपने मुझ जैसे दुष्कृत का वध करके उचित ही किया । परन्तु हे प्रभो ! मेरे पुत्र अंगद पर आपकी असीम अनुकम्पा बनी रहे, बस यही चाहता हूं ।**

(२) **वंशस्थ**—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।अर्थात् प्रत्येक चरण में **ज त ज र** गणों के क्रम में अक्षरों का प्रयोग वंशस्थ है । उदाहरणार्थ—

प्रशास्त सङ् वैश्रवणा धनेश्वर सिर प्रभु ङ्कान तङ्नि पूर्वक ।
सवेत्निरासोर् सिनुकू नि रावण मतङ्न्यनुंग्विङ् अलकावती दुमेह ॥

—रामायण ककवीन, ७-१०२

---

१. "Perhaps the reluctance to the Old Javanese Shlokas was a result of the close relationship of the shloka metre with Sanskrit religious literature, which precluded its use in lyrical literature and belletristic Javanese texts". – Literature of java, Vol.Ist, P.18

सम्पाती वांनरों से कहता है कि **धनेश्वर कुबेर पहले लंकापुरी के अधिपति थे परन्तु रावण से पराजित होकर वह अलकापुरी जा बसे। अब रावण ही उस पुरी का शासक है।**

(३) **वसन्ततिलका**—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः। अर्थात् प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण एवं दो गुरु वर्ण।

सक्वेह् निकङ् तलग तन्हन तन् पतुञ्जुङ् पतुञ्जुङ्न्य तन्हन कुरङ् पडमेसि कुम्बङ्।

कुम्बङ्न्य कप्व मुनि तन्हन तन् पशब्द शब्दन्य कर्णसुक तन्हन तन् मनोज्ञ॥

—रामायण ककवीन २.१९

विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के यात्रापथ का वर्णन है—कोई सरोवर ऐसा नहीं था जिसमें कमल न हों। कोई कमल ऐसा नहीं था, जिस पर भ्रमर न हों। कोई भ्रमर ऐसा नहीं था, जो गुञ्जार न करता हो। कोई गुञ्जार ऐसा नहीं था, जो मनोज्ञ एवं कर्णसुख न हो!

(४) **द्रुतविलम्बित**—द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ। प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, भगण, भगण तथा रगण। उदाहरणार्थ—

हन त साहस भीषण राक्षसी प्रतित रोद्र डरन्य सि डाकिनी।

अतिविशालतुतुक्न्य मिडनमडङ् य हुमिलौ सिरशीघ्रतिकेङ् वितिङ्॥

—रामायण ककवीन, ८.५

समुद्र में डाकिनी नाम की एक रौद्र स्वभाव वाली प्रथित-साहसी भीषण राक्षसी थी। उसने अपना अत्यन्त विशाल मुंह खोला और हनुमान् को शीघ्रतापूर्वक निगल गई।

(५) **शालिनी**—शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोब्धिलोकैः। अर्थात् प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, तगण तगण तथा दो गुरु। उदाहरणार्थ—

आशा ताम्बेक् सङ् हनूमान् विमोह
तन्तोन् देवी मैथिली रिङ् कडत्वन्।
अंहिङ् तेकिन् सम्भवारुंग्व लिङ्कु नाहन्
लिङ् सङ् वायुपुत्रान् मकिङ्किङ्॥

—रामायण ककवीन, ८.८०

देवी मैथिली को रावण के राजमहलों में न पाकर हनुमान् निराश एवं मोहग्रस्त हो गये। वायुपुत्र ने मन-मन ही सोचा—**मेरी दृष्टि में यही उचित स्थान था, जहां देवी सीता को होना चाहिए था।**

(६) **मालिनी**—ननमययुतेयं मालिनी भौगिलोकैः ।अर्थात् प्रत्येक चरण में नगण, नगण, मगण, यगण, यगणका क्रम। उदाहरणार्थ—

कतेक निर लुमक्वा शान्ति सङ् अष्टसेनी
पडहि हजि य गिन्वल् मङ्गला निङ् लुमम्पह।

कुमेदुति तिङिनन् मार् बाहु सङ् रामभद्र
मरहकिन अलह निङ् शत्रु तातन् पशेष॥

—रामायण ककवीन १-६२

प्रस्थानवेला में पुरोहितों ने राम-लक्ष्मण को आशीर्वाद दिया। पटह-ध्वनि होने लगी और राम का दाहिना कन्धा (बाहुमूल) स्फुरित होने लगा, जो कि भावी शत्रु-विनाश का सूचक था।

(७) **मञ्जुभाषिणी**—सजसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी अर्थात् प्रत्येक चरण में क्रमशः सगण, जगण, सगण, जगण तथा एक गुरु-वर्ण। उदाहरणार्थ—

परमेश्वरातिशय शक्ति रिङ् जगत्
तुवि दद्य सङ् रघुसुतोमपग् सिर।
किमुतङ् सुरासुर मनुष्य राक्षस पनि-

हिन् पिसन् नियत यन् पिजह् कवेह् ॥

—रामायण ककवीन, ८.१३४

अशोकवन में सीता रावण से कहती हैं—हे रावण ! यद्यपि त्रिलोकी में परमेश्वर सर्वाधिक शक्तिशाली हैं, परन्तु रघुसुत राम उससे भी युद्ध करने में समर्थ हैं । सुर, असुर, मनुष्य और राक्षस—यदि सभी एक हो जायें तो भी राम का एक ही बाण उन सब को समूल नष्ट कर देने में पर्याप्त है ।

(८) रथोद्धता—रान्नराविह रथोद्धता लगौ अर्थात् प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण, नगण, रगण एक लघु तथा एक गुरु वर्ण । उदाहरणार्थ—

कोमलाङ् मलय मारुतो मिरर् देवदारु इनरन्य रिङ्ङलस् ।

रूम्य सुप्रकुमरेङि रङ्सुमार् तुल्यगन्ध नि पिपिन्त यक् हिडेप् ॥

—रामायण ककवीन, ७.२७

सीताविरही राम कहते हैं—

वन के देवदारुओं का स्पर्श करने वाला पवन मलय पर्वत से बह कर आता ह । उसकी सुरभि चतुर्दिक् बिखर जाती है । हे प्रिये ! मैं अनुभव करता हूं, जैसे यह सुरभि तुम्हारे कपोल मण्डल की है ।

(९) नर्दटकम्—यदि भवतो नजौ भजजला गुरु नर्दटकम् । प्रत्येक चरण में नगण, जगण, भगण, जगण, जगण, एक लघु तथा एक गुरू वर्ण । उदाहरणार्थ—

इकनभटार विष्णु तुवि मार्यसिरार्पहियुन्
इसिरत सङ् प्रिया निर मसोर् सिर देन्त तेंमेंन् ।

अथव भटार काम सिर कामुक लिङ्कु पिजेंर्
रि सिरत सङ् रतीह निर तमन् पमडेंरि कित ॥

—रामायण ककवीन, ५.७५

तपोवन में हरणोन्मुख रावण सीता से कहता है—**भगवान् विष्णु भी तुम्हें देख लें तो अपनी प्रिया की इच्छा छोड़ दें, क्योंकि लक्ष्मी तुम्हारे सौन्दर्य के समक्ष कुछ नहीं है। काम भी तुम्हें देख कर कामुक हो उठे, क्योंकि रति तुम्हारे आगे तुच्छ है।**

(१०) मालभारिणी—विषमे ससजे नगे नगे नाविषमस्त्रयेण तु मालभारिणीयम्। विषम चरणों में **स स ज ग ग** और सम चरणों में **स भ र य** अक्षरक्रम होने पर मालभारिणी छन्द होता है।

उदाहरणार्थ—

कल शूर्पणखा नहन् उजर्न्य त्रिशिरह् क्रोध य मङ्गेतेंम् मसंहित्।
कर-दूषण लेन् सरोद्र मत्त मनेंपक् बाहु मसिंहनाद मोजर्॥

—रामायण ककवीन, ४.६७

शूर्पणखा की बातों को सुन कर त्रिशिरा क्रोधान्ध हो उठा। खर और दूषण भी रौद्र-भाव से मत्त हो उठे। अपनी भुजा ठोंकते हुये, सिंह की तरह गरजते हुए वे बोले।

(११) श्लोक (अनुष्टुप्)

पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
षष्ठं गुरु विजानीयादेतत्पद्यस्य लक्षणम्॥

पद्य, श्लोक अथवा अनुष्टुप् एक ही हैं। उदाहरणार्थ—

शबरी तेक जातिन्य कुलित्कयु तपिह् निका।
वर्ण्ण न्यवक्न्य महिक्रङ् कदिवर्ण निङञ्जन॥ ८८॥
रूपन्य साधु तञ्चाल प्रगृह्यपाद तुल्य य।
वीतराग य धर्मिष्ठ फलाहार लना व्रती॥

—रामायण ककवीन, ६.९९

इन दो श्लोकों में शबरी की वेष-भूषा एवं व्रतचर्या का वर्णन है ।

(१२) दोधक—दोधकमिच्छति भत्रितयाद्गौ अर्थात् प्रत्येक चरण में तीन भगण एवं दो गुरु वर्ण । उदाहरणार्थ—

ना त वुवुस् निर सङ् कपिराज मिन्त कसिह् रि नराधिप राम।
दुर्बल निङ् बल वानर हेतु सङ् रघुपुत्र उमोम् यनुमोद॥

—रामायण ककवीन, ६.२०१

राम के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए वानरराज सुग्रीव ने इस प्रकार कहा । वर्षा ऋतु का संकट देखते हुए राम ने भी प्रतीक्षा का अनुमोदन किया ।

(१३) मन्दाक्रान्ता—मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम् । प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, भगण, नगण, दो तगण तथा दो गुरु । उदाहरण—

हाह् आह् नाथातिशय य मगौङ् सिहत तामन् पहीडन्
ताताह् माग्या त रि पमलिसा निङ्हुलुन् द्लाह सिद्धा।
देन्यान् ऋङ् ऋङ् इक तेंक हुवुस् दुर्वलाङ् वानरातीस्
रिङ् लङरू ङ्कान् तलप सिर सङ्मैथिली शत्रुशीर्णा॥

—रामायण ककवीन,६-२००

सुग्रीव ने कहा—आह ! स्वामी रघुनाथ ! हम सब पर आपकी कितनी कृपा है ? परन्तु प्रभो ! विलम्ब श्रेयस्कर है । क्योंकि वर्षा सिर पर है और बेचारे वानर भी शीत से पीडित हैं । शरद आते ही हम मैथिली की खोज करेंगे और शत्रु को विनष्ट कर देंगे ।

(१४) पृथ्वी—जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः अर्थात् प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, सगण,जागण, सगण यगण तथा लघु-गुरु । उदाहरण—

सगद्गद मनाह् निरर् लकु मसुक् रिङभ्यन्तर
उमुङ् सहन सङ् कपङ्गुहनङीस सुमुङ्सुङसिर।

मतक्वनमेंपेंर् सिरे कलर सङ् नरेन्द्रार् पेंजह्
सतोरसि सिराड्बू मरहकेन् सिरे सङ् अनक्॥

—रामायण ककवीन ३-२६

भरत ने संदिग्ध मन से अन्त:पुर में प्रवेश किया । हर व्यक्ति अश्रुकातर था । उन्होंने पिता के प्राणहारक रोग के विषय में पूछा । तब उनकी मां ने उन्हें सब कुछ बताया ।

(१५) **शार्दूलविक्रीडित**—सूर्याश्वैर्यदि म: सजौ सततगा: शार्दूलविक्रीडितम् । प्रत्येक चरण में **म स ज स त त ग** वर्णक्रम । उदाहरणार्थ—

सङ् सीता पिनिकुल निरार्ध कपति ग्लानासि मोसह् सिर
तन् माट्रेंस् त इबेर् निरार्ध मलिमेंर् मप्रिह अलह् कब्वतन्।
यन्तर साम्ब्रत सङ् नरेन्द्रतनया व्यक्तान् पेजह् यन् तिबा
येका हेतु निरङ् जटायु मलिमेंर् तेबर् निराङ्किन् मलोन्॥

—रामायण ककवीन, ६-२५

(रावण से छुड़ा कर) जटायु ने भयभीत एवं बिलखती सीता को कस कर पकड़ लिया । वह तेज नहीं उड़ पा रहा था । यदि वह राजपुत्री को पकड़े न रहता तो निश्चय ही वह पृथ्वी पर गिर कर प्राणहीन हो जाती !

(१६) **दण्डक**—दो नगण के अनन्तर भुजङ्गप्रयात की आवृत्ति । लंकादाह के अवसर पर सरोवर के पक्षियों का एक वर्णन प्रस्तुत है—

तलग तलग रिङ् कडत्वन् विनत्वन्य देनिङ् मणिक् चन्द्रकान्ते
दङ्न्दन् मिने शुष्क यासात्य केसिप् सिकर् निङ् अशोका-
ड्सुत्यन् कसूबन् पनस् रुक्ष सक्वेहन्य याकिंङ् मकिङ्किङ् मनुक्
न्यानडिस् मोनि कोलाहलावू वला चक्रवाका—आदि।

—रामायण ककवीन, ११.२

संस्कृत छन्दों के ये १६ उदाहरण विद्वज्जनों को यह विश्वास कराने के लिए पर्याप्त हैं कि भाषाई संघटना की अक्षमता एवं विरूपता के बावजूद यवद्वीपीय प्रतिभाशाली कवियों ने बड़ी सहजता के साथ इन्हें प्राचीन जावी कविता में प्रयुक्त किया। यद्यपि छन्दः प्रयोग में पदे-पदे विसन्धि-दोष हैं, परन्तु यह दोष चूंकि संस्कृत भाषा का नहीं, जावी भाषा का है—इसलिए क्षम्य है। जैसे हिन्दी में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण अथवा हरिऔध जी ने संस्कृत-छन्दों को प्रयुक्त किया है, ठीक उसी प्रकार जावा तथा बाली के कवियों ने भी।

संस्कृत-छन्दों के प्रयोग की यह परम्परा जावा में प्रारम्भ-बिन्दु से १५ वीं शती तक अबाध गति से चलती रही। उसके बाद, हिन्दू-नरेशों के पलायन के साथ वह परम्परा बाली-द्वीप में प्रतिष्ठित हो गई जहां १९वीं शती के अन्तिम चरण तक संस्कृत छन्दों में प्राचीन जावी भाषा में ककवीन लिखे जाते रहे। गो कि बाली के अपने छन्द तब तक आविष्कृत हो चुके थे, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे। परन्तु बाली में दो-भाषायें (प्राचीन-बाली तथा प्राचीन-जावी बाली-जावी मिश्रण) तथा दो प्रकार के छन्द (संस्कृत-छन्द एवं मचपत-छन्द) समानान्तर रूप से विकसित होते रहे। इस समानान्तर लेखन में भी अपेक्षाकृत अधिक आदर, प्रतिष्ठा एवं मान प्राचीन जावी भाषा एवं छन्दों को ही प्राप्त था। विद्वत्ता का निकष वही था, जब कि मचपत छन्दों में लेखन **अशक्ति** का परिचायक माना जाता था।[१]

उधर जावा में, प्रारम्भ के इस्लामी अभियान में तो अरबी-फारसी एवं कुरान-शरीफ के प्रभाव का वर्चस्व रहा। परन्तु १८वीं तथा १९वीं शती में एक **पुनर्जागरण** का शुभारम्भ हुआ। योग्यकर्ता, सुराकर्ता तथा कर्तासुरा दरबारों के संरक्षण में **पुजंग** नाम से विख्यात साहित्यकारों ने एक बार पुनः प्राचीन ककवीनों का कायाकल्प प्रारम्भ किया। ककवीनों के रोचक कथानक लोकप्रियता के शिखर

---

१. In Bali up to the end of the nineteenth century, authors took a pride in their ability of writing Javanese-Balinese epic poems in Indian metres. – Literature of Java P.16

पर जा पहुंचे। राम और अर्जुन एक बार पुन: ककवीन, जिसे अब **कवि-मिरिंग**[१] कहा गया तथा वायांग (नाट्य) के प्रमुख नायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

इस युग के मुस्लिम साहित्यकारों ने अपनी **कवि-मिरिंग** साहित्यिक कृतियों में पुन: संस्कृत छन्दों को प्रतिष्ठित किया। परन्तु उन्होंने सारे प्राचीन छन्दों के नाम परिवर्तित कर दिये। गणक्रम पुराना ही था, परन्तु नाम नये थे, जिनका कि कोई अर्थ भी नहीं था। जब कि संस्कृत छन्दों के सभी नाम (मालिनी, शिखरिणी आदि) सार्थक थे। वस्तुत: ये कवि संस्कृत छन्दरचना पद्धति तथा शास्त्रीय-ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ थे। उनके प्राचीन छन्दप्रयोग मात्र अनुकरण पर आश्रित थे।

वस्तुत: १५वीं शती के प्रारम्भिक चरण से ही जावी कवियों का संस्कृत छन्दोविचिति-विषयक ज्ञान ह्रासोन्मुख हो चला था। संस्कृत छन्दों का तकनीकी वैशिष्ट्य स्वयं में एक अद्‌भुत उपलब्धि है। छन्दों का नामकरण-रहस्य, छन्दों की रस-विशेष के साथ अन्तरंग समञ्जसता, छन्दों का वर्ण, देवता तथा गुरु-लघु-विधानादि रूढ़ियां—ये सब प्राचीन भारतीय शास्त्रीय मनीषा के प्रमाण हैं। जावा के प्राचीन कवि किन्हीं अंशों तक निश्चय ही संस्कृत-छन्दोविचिति की इन रूढियों में पारंगत थे। भाषा-संघटना की संस्कृत जैसी योगात्मकता न होने पर भी उन्होंने इन छन्दों का यथाशक्ति शुद्ध प्रयोग किया। वानरवाहिनी के प्रयाण में पृथ्वी, लंकादाह-प्रसंग में दण्डक तथा राम की मिथिलायात्रा में वसन्ततिलका का रोचक प्रयोग देख कर तो मुझे यह भी विश्वास हुआ कि जावी कवि रस-विशेष में छन्द-विशेष की प्रयोज्यता का रहस्य अच्छी तरह जानते थे।

---

१. **कविमिरिंग** का शाब्दिक अर्थ है- विनत कवि भाषा (Sloping Kavi) इसे 'जर्वा' (मूलत:सजर्वा) संस्कृत आर्जव,(Straight or clear explanation) भी कहा गया। सुराकर्ता के श्रेष्ठ साहित्यकारों ने संस्कृत पदशय्या-रहित सरल जावी भाषा को अपनाया। उनकी भाषा में क्लिष्ट संस्कृत शब्दावली के स्थान पर सरल जावी (कवि मिरिंग अथवा जर्वा) का प्रयोग हुआ। १८वीं शती के अन्तिम दशकों में इसी नव्य जावी भाषा में व्रतयुद, सीरतकाण्ड, अर्जुनसहस्रबाहु, अर्जुनविजय, लोकपाल, बीम (= भीम) सूची, देवरुचि तथा मिन्तराग नामक श्रेष्ठ **कविमिरिंग**प्रणीत किये गये।

परन्तु इस्लामी आक्रमण की विभीषिका ने जावा की साहित्य-साधना की अनवरता को निश्चय ही बाधित किया होगा। नये धर्म, नये शासन तथा नये साहित्य-मानदण्डों ने भारतमूलक ककवीन-परम्परा को आहत कर दिया। इसी व्याघात का यह परिणाम था कि १५वीं एवं १६वीं—इन दो शतियों में जावा के साहित्यकार संस्कृत छन्दों के तकनीकी ज्ञान एवं प्रयोग से अनभिज्ञ बन गये। फलतः १८ वीं शती में, प्राचीन जावी ककवीनों के पुनर्लेखन काल तक उनका संस्कृत-छन्द-विषयक ज्ञान नाममात्र का अथवा **अधकचरा** ही रह गया।

पुनर्जागरणकालीन इन **पुजंग** साहित्यकारों की दृष्टि में अब संस्कृत छन्दों का पारस्परिक वैभिन्न्य मात्र उनकी अक्षरसंख्या के वैभिन्य पर केन्द्रित हो गया। इससे अधिक वे नहीं सोच पाते थे कि इनका रसौचित्य अथवा भावौचित्य भी है? संस्कृत छन्दों के लिए प्रचलित **गुरु-लगु** (= गुरु-लघु) शब्द भी, छन्दों के प्रति इस युग के साहित्यकारों के सतही दृष्टिकोण का ही परिचायक हैं। चूंकि प्राचीन ककवीनों के साथ इन संस्कृत छन्दों का अविनाभाव सम्बन्ध था। एक को उपेक्षित कर दूसरे को ग्रहण कर सकना सम्भव नहीं था, अतएव १८वीं शती ई० के इन सल्तनत-साहित्यकारों ने छन्दोविचिति में पारङ्गत न होते हुए भी, इन्हें अपनी कविमिरिंग कृतियों में प्रयुक्त किया।

(२) **मचपत छन्द**—प्राचीन संस्कृत-छन्दों की परम्परा जावा (तथा परम्परया बाली में भी) में कभी टूटी नहीं। पुराने ककवीनों के छन्द नये कवि अपनी नाट्यकृतियों (वायांग) में बराबर उद्धृत करते थे—विशेष कर भारतयुद्ध ककवीन के छन्द। गद्यात्मक वायांग कृतियों में, बीच बीच में प्रयुक्त ये प्राचीन छन्द **सुलुक अथवा कवीन** (Suluks or Kawins) कहे जाते थे। सुलुक संस्कृत **श्लोक** का ही पर्याय प्रतीत होता है। ये सुलुक प्रायः **समवेत गान** (पनेम्ब्रम Panembrama) के रूप में मञ्च पर प्रस्तुत किये जाते थे। जनता इन सुलुकों में प्रभूत आनन्द प्राप्त करती थी। सम्भवतः सुलुकों के प्रति दर्शकों की इसी उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया ने इस युग के लेखकों को पुराने संस्कृत छन्दों को अपनाने की प्रेरणा भी दी। सुराकर्ता के शासक मंकु नगर चतुर्थ (१९वीं शती-उत्तरार्ध) का

दरबार, सुलुक एवं पनेम्ब्रम से श्रीमण्डित कविमिरिंग कृतियों के प्रणयन की पराकाष्ठा का युग था।

परन्तु १८वीं, १९वीं शती के साहित्यकारों का एक ऐसा भी दल था जो भारत मूलक संस्कृत वृत्तों को **तेम्बाङ्ग गिडे**(दीर्घ वृत्त, Great verse) कह कर उसका एक समुचित विकल्प भी ढूंढ रहा था। विकल्प—**तेम्बाङ्ग चिलिक** (लघु वृत्त, Small verse) गिडे (Gede) तथा चिलिक (Cilik) का भेद कुछ तो परतः प्रमाण्य पर और कुछ स्वतः प्रामाण्य पर आश्रित था। इक्कीस अक्षरों का एक चरण तथा चार चरणों का एक छन्द। ऐसा स्रग्धरा छन्द निश्चय ही जावा के विद्वत्प्रिय समाज को स्थानीय छन्दों की तुलना में अधिक अभिभूत करता था। इसलिए उसका **गिडेत्व** स्वंयसिद्ध था। दूसरी ओर इन सल्तनतकालीन कवियों की अपनी अशक्ति तथा हीनभावना भी (Inferiority Complex) संस्कृत छन्दों के **गिडेत्व** की आधारपीठिका थी।

नवीन तथा **चिलिक** छन्दों की अन्वेषण-प्रकिया ने ही **मचपत-छन्दों** को जन्म दिया। ये मचपत छन्द (Small metres) कई दृष्टियों से संस्कृत-छन्दों से भिन्न थे। मचपत छन्दों में किसी भी चरण में अक्षरों की संख्या घटाने अथवा बढ़ाने की स्वतंत्रता थी। यही स्वतंत्रता प्रत्येक छन्द में चरणों को व्यवस्थित करने में भी थी—कम से कम चार, अधिक से अधिक दस। चरणों में अक्षर भी कम से कम तीन, अधिक से अधिक बारह। तीसरा वैशिष्ट्य था लय और अन्त्यानुप्रास या तुकान्तता का प्रभाव। इन तीन वैशिष्ट्यों ने मचपत छन्द को काफी सरल एवं ग्राह्य बना दिया था।

जावा-मूल के ये मचपत छन्द संख्या में प्रायः १५ हैं, जिनकी चर्चा आगे की जायेगी। अनेक डच विद्वानों (डॉ. कर्न, डॉ. पिगॉड आदि) तथा डॉ. पर्वतजरक सरीखे जावी विद्वान् की भी धारणा है कि मचपत-छन्दों का बीज जावा द्वीप में प्रचलित बच्चों की लोरियों तथा लोकगीतों में विद्यमान था। ये लोकगीत, जो कि **पन्तुन** (Pantun) के रूप में विख्यात मलय-चतुष्पदियों से मेल खाते थे, निश्चय ही जावा के उत्तर-पूर्वी पसिसिर जनपदों (ग्रैसिक, सुरावाया, वेन्तान आदि) में

अत्यधिक प्रचलित थे । इन्हीं लोकगीतों तथा लोरियों ने मचपत छन्दों की भावभूमि तैयार की । जावा की ये लोरियां एवं लोकगीतियाँ कभी लिखी नहीं गईं, बस परम्परया प्रचलित एवं सुरक्षित रहीं । डच विद्वानों के प्रयत्न से इनका संकलन एवं प्रकाशन सर्वप्रथम २० वीं शती के पूर्वार्ध में सम्भव हो सका ।

जावा की इस्लामी ऐतिहासिक-परम्परा अन्य सांस्कृतिक तत्त्वों की ही तरह मचपत छन्दों के आविष्कार का श्रेय भी मुस्लिम सूफी सन्तों को देती है; जिन्हें **वली** कहते थे । जावा का गमेलन (वाद्यवृन्द, आर्केस्ट्रा) जावी रामायण भी इस परम्परा के अनुसार आदि वली (सुनान कालीजग) की ही कृति है ।[१] यह परम्परा है कि सन्तों द्वारा आविष्कृत ये मचपत छन्द इस्लामी-अभ्युदय अर्थात् १६ वीं शती के प्रारंभ में ही जावी-साहित्य में प्रयुक्त हुए । यदि यह बात मान भी ली जाय तो इसका संकेत केवल इतना हो सकता है कि मध्य जावा में मचपत छन्द १६ वीं शती के प्रारंभ में लिखे गये । परन्तु पूर्वी जावा के जनपदों एवं बाली द्वीप में तो देशी छन्दों में (Native Javanese Metres) कविता इस्लाम के आगमन से पूर्व ही लिखी जा चुकी थी । यह बात और है कि एक लम्बी अवधि तक यह छन्दविधा (सम्भवतः संस्कृत-छन्दों की प्रभविष्णुता के कारण) दबी पड़ी रही और १८ वीं शती ई. में ही पूर्ण रूप से अस्तित्व में आ पाई ।

मचपत का अर्थ क्या है ? जैसा कि पहले संकेत किया गया है कि **तेम्बाङ्गचिलिक** (लघुवृत्त) की भावना से इन छन्दों का आविष्कार हुआ । अतएव तेम्बाङ्ग मचपत का भी सामान्य अर्थ है—घरेलू अथवा गृहनिर्मित छन्द (स्वदेशी छन्द) । मचपत अथवा मञ्चपत शब्द का अर्थ है—चार मित्र, जिसका लाक्षणिक अभिप्राय है परस्पर-सम्बन्ध रखने वाली इकाइयों की संघटना ।

यद्यपि समसामयिक, स्थानीय एवं ऐतिहासिक भिन्नताओं से, मचपत छन्दों की लम्बाइयाँ तथा तुक, मुक्त नहीं हैं—फिर भी संख्या में १५, इन छन्दों का अपना एक आकर्षक पैङ्गल-प्रभाव अक्षुण्ण है । जैसा कि पूर्व-अनुच्छेद में बताया गया है

१. सविस्तर द्रष्टव्य—डॉ. सुवितो सन्तोसो द्वारा अनूदित रामायण ककवीन की भूमिका ।

कि इन छन्दों में पंक्तियाँ चार से दस तक तथा पंक्तियों में अक्षर तीन से बारह तक हैं। इन पंक्तियों के तुक वर्णों के नहीं, मात्र स्वरों के हैं—**आना-जाना** जैसे नहीं बल्कि **आना-जाया** जैसे। प्रत्येक पंक्ति में अन्तिम-स्वर मचपत छन्दोविचिति में पूर्वनिर्धारित हैं, उदाहरणार्थ, गिनाड (Ginada) नामक मचपत छन्द में सात चरण होते हैं जिनमें अक्षरों तथा तुकान्त-स्वर की व्यवस्था इस प्रकार है—८a, ८i, ८a/o, ८u, ८i तथा ८a।

बाली तथा जावा में मचपत छन्दों का गायन प्रारम्भ से ही अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। आज भी इन द्वीपों में प्रत्येक मचपत-छन्द की विशिष्ट लय एवं धुन प्रचलित है और उस लय-धुन के पारम्परिक गायक भी विद्यमान हैं। भारत में भी बिदेसिया, बनजारा, चनैनी, जोगीड़ा, रसिया, लांगुरिया, पण्डवानी आदि कितने ही लोकगीत हैं, जिनकी एक विशिष्ट गायन-पद्धति है। मचपत छन्दों का भी व्यावहारिक गान-माधुर्य कलाकारों के गायन से ही अनुभव किया जा सकता है, काव्यों में उसके प्रयोगमात्र को पढ़ कर नहीं। किन्हीं-किन्हीं मचपत-छन्दों की कई एक धुनें भी प्रचलित हैं।

बाली-द्वीप के **बंजार** (ग्राम सभा) मचपत-गायन के सर्वश्रेष्ठ स्थान हैं। फुर्सत के क्षणों में जब संगीतप्रिय ग्रामवासी बंजार के सभाभवन (बाले अगुंग) में एकत्र हों तो किसी सिद्ध लोकगायक द्वारा मचपत-छन्दों का गायन प्रारम्भ हो जाना आज भी बाली-समाज का एक सहज अभिनिवेश है। मचपत-छन्द प्रायः बिना किसी वाद्य के गाये जाते हैं।

पन्द्रह मचपत छन्दों के नाम भी प्रायः यवद्वीपीय हैं। मात्र एक छन्द **स्मरन्दन** (= स्मरदहन) के, अन्य कोई भी नाम संस्कृत-शब्द में नहीं है। इन जावी छन्द-नामों के अर्थ भी या तो 'नेयार्थ' हैं या फिर सर्वथा अस्पष्ट! कुछ नाम किसी व्यक्ति विशेष के साथ सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। कुछ नाम प्राचीन जावी-समारोहों-अथवा हिन्दू-संस्कारों से जुड़े हुये हैं। प्रमुख मचपत-छन्दों में गिनड, सिनोम, कुमम्बङ्ग, देमुङ्ग, दुर्म, सेमरन्दन, डण्डङ्ग गुल, पंगकुर, गम्बूह की गणना की जाती है। प्रारम्भिक

चरण में **पंगकुर** अत्यन्त लोकप्रिय छन्द था, परन्तु १८ वीं, १९ वीं शती ई. में मध्यजावी कवियों को **डण्डडुल** सर्वाधिक अभीष्ट रहा ।

मचपत-छन्दों में लिखी गई काव्यकृति को **गेगुरितान** (Geguritan) कहा जाता है । अनेक कवियों ने पूरा काव्य (गेगुरितान) एक ही मचपत-छन्द में लिखा है । उदाहरणार्थ **पाकंग ररास-गेगुरितान** में ६२३ पुपुह (Pupuh, पद्य) हैं, और ये सभी पुपुह **गिनड** छन्द में हैं । **पाकंग-ररास** पाञ्जी प्रेमाख्यान-परम्परा की एक बाली-भाषा की रसगर्भ-निर्भर काव्यकृति है, जिसमें कहुरिपन के राजकुमार रुदेन मंत्री (छद्म नाम पाकंग ररास) तथा दह की राजकुमारी रदेन गलुह की प्रणयकथा वर्णित है । गिनड छन्द में सात चरण होते हैं, जिनमें आठ अक्षर होते हैं मात्र छठें चरण को छोड़कर (जिसमें चार अक्षर होते हैं) । एक गिनड-छन्द प्रस्तुत है—

रदेन् देवी सेमू मोरंग्
तुमुङ्कुल् ररीस् मनंगिस्
ङ्गेतेल् वाष्प मरिंग् दादा
रहद्यान् गेलिस् ङ्ग्राङ्गकुल्
ङ्गम्बन्तुर् मंगरासरास्
दुह् मास् मानिक्
लीलयांग् कयुने देव ! !

—पाकंग ररास गेगुरितान

(कुमार की बात सुनकर) लज्जा से आरक्त मुखमण्डल वाली रदेन गलुह सन्तप्त हो उठी । वह क्रन्दन करने लगी । आँसू उसके पयोधरों पर टपकने लगे । कुमार रदेन मंत्री ने तब उसे बाहुपाश में समेट लिया तथा उसका प्रगाढ़ आलिङ्गन कर, चुम्बन लेकर बोला—**हे प्रेयसि ! अपने हृदय को शान्त करो !**

परन्तु अन्य गेगुरितान-लेखकों ने अपने एक ही काव्य में अनेक छन्दों का भी प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ रदेन मंत्री एवं रदेन गलुह की ही प्रणयकथा पर

आश्रित एक अन्य कृति **गेगुरितान नि-चिलिनय** में मात्र २२८ पुपुह हैं, परन्तु छन्दों की संख्या छः है—सिनोम, गिनड, कुमम्बङ्ग, देमुंग, सेमरन्दन तथा दुर्म ।

कुछ अन्य मचपत-छन्दों के सन्दर्भ में जानकारी प्रस्तुत है—

(१) **डण्डङ्गगुल**—१८वीं, १९वीं शती में यह सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द के रूप में प्रतिष्ठित रहा । वस्तुतः वह छन्द **डण्डङ्ग गेण्डिस्** का पर्याय है, जो कि १३ वीं शती ई. का एक दुर्भाग्यग्रस्त कडिरीनरेश था । वह श्रेष्ठ विद्वान् भी था ।

(२) **पंगकुर**—प्रारंभिक चरण का सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द पंगकुर प्राचीन जावी-साम्राज्य के धर्माधिकारियों की टोली का नाम था । छन्द का नाम उन्हीं पर आश्रित है ।

(३) **मस् कुमम्बङ्ग**—डॉ. पिगॉड की अवधारणा है कि मस् का सम्बन्ध पेरमस् (Permas) से है, जो कि बाली के धर्मसंस्कारों में दैवी-शक्ति के आवेश का केन्द्र होता है । बाली के पमंकू (पुरोहित) इसी शक्त्यावेश (Shamanistic rite) द्वारा परमात्मा के साथ अपना सावधिक सान्निध्य स्थापित करते हैं ।[१] कुमम्बङ्ग का अर्थ है—सन्तरण । इस प्रकार पूरा छन्द, समाधि के क्षणों में पुरोहित के मनोवैज्ञानिक भावप्रवाह को संकेतित करता है ।

(४) **गम्बुह**—का अर्थ है अनुभवी विशेषज्ञ । यह शब्द प्राचीन जावा के कुछ जातीय-समारोहों में होने वाले नृत्यों के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है । बाली-द्वीप के नृत्यों में गम्बुह, नाट्यप्रस्तुति की शास्त्रीय तकनीक मानी जाती है । इसमें गम्बुहविधा का गमेलन (वाद्यवृन्द) प्रयुक्त होता है । गम्बुह में मलत (पाञ्जी प्रेमाख्यान) तंत्री, जुपक, बासुर तथा पर्व आदि बाली-कथाओं का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है । इस प्रकार छन्द का नाम एक सांस्कृतिक परिवेश पर आधारित है ।

---

१. इसका विवरण निबन्ध-लेखक ने अपने एक अन्य आलेख **बाली द्वीप का नवीन संवत्सर : न्येपी** में प्रस्तुत किया है ।

(५) **सिनोम**—नोम का अर्थ है युवा। सिनोमन (Sinoman) उन युवकों की पारम्परिक जावी युवा-सेवा का नाम है, जो सामाजिक भोजोत्सवों में गृहपति की सहायता करते थे। सम्भवत: उसी सामाजिक-उत्सव की स्मृति में यह नामकरण किया गया।

(६) **जुरु देमुंग**—देमुंग अथवा देमंग का उल्लेख प्राचीन जावी-साहित्य में, राजभवनों के महोत्सवों के सन्दर्भ में किया गाया है। जावा के कुछ पश्चिमी जनपदों में **देमंग** मध्यम कोटि के एक प्रशासनिक-अधिकारी के उपाधि-अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया। इस प्रकार **जुरु-देमुंग** छन्द की ध्वनि और लय का उन प्राचीन महोत्सवों से सम्पर्क सिद्ध होता है।

(७) **सेमरन्दन**—इसे अस्मरन्दन अथवा अस्मरदन भी कहते हैं, जो हमें म्पू धर्मज द्वारा प्रणीत कडिरी-युगीन **स्मरदहन ककवीन** (१२ वीं शती ई०) का स्मरण कराता है। सारे मचपत-छन्दों में यह एकमात्र विशुद्ध संस्कृत नामकरण है।[१]

१८ वीं तथा १९ वीं शती के पुनर्जागरण-काल में मचपत-छन्दों को साहित्यकारों द्वारा भली-भाँति परिष्कृत एवं व्यवस्थित किया गया। सूक्ष्म अध्ययन के परिणामस्वरूप लम्बी पंक्तियों में यति-स्थान (Caesura) निश्चित किये गये, नाना प्रकार की **पूर्वकान्ति** (Purwa kanti=kinds of alliteration) अर्थात् अनुप्रासों की व्यवस्था की गई। चरणों तथा अक्षरों की संख्या तथा तुकान्त स्वरों के सन्दर्भ में भी कड़े नियम बनाये गये। अपने प्रथम नामाक्षर से समन्वित, प्रथम छन्द का आरंभ करके कवि साङ्केतिक रूप से नामसूचना भी देने लगे। सर्गान्त-पद्य में प्रहेलिका-पद्धति से अगले सर्ग के छन्द की सूचना भी दी जाने लगी, ताकि मचपत-गायक को पूर्वाभास हो जाय छन्द का। इस पद्धति को **वंगसलन** (Wangsalan) कहा गया।[२] यह संस्कृत के **मुद्रालंकार** जैसी प्रक्रिया थी।

१. यूं मचपत-छन्द दुर्म भी मुझे मूलत: द्रुम, प्रतीत होता है, जो संस्कृत-शब्द है।

२. The wangsalan (charade) was a clue for the singer how to start the new canto – Dr. theodore Pigaud.

उदाहरणार्थ **मुन्दुर** (Mundur) शब्द का प्रयोग अन्तिम छन्द में, अगले सर्ग में प्रयुक्त **पंगकुर** के संकेत-रूप में किया गया—मुन्दुर मंकुर पंगकुर ।

यद्यपि मन्दुर का पंगकुर से कोई वाच्य-वाचक सम्बन्ध नहीं है, फिर भी वह कूटप्रक्रिया से पंगकुर का संकेत माना जा सकता है । यह प्रक्रिया निश्चय ही अमीर खुसरो की मुकरियों अथवा पहेलियों जैसी है जिसे प्रतिभाशाली गायक क्षण भर में जान-पहचान लेता था । संस्कृत-नाटकों में भावी अंक की कथावस्तु के सूचनार्थ एक ऐसे ही उपक्षेपक **अंकास्य** (Anticipatory Scene) का प्रयोग किया जाता था ।

सुराकर्ता के राजाश्रित साहित्यकारों ने इन्हीं शतियों में मचपत-छन्दों का रसौचित्य भी निश्चित किया । प्रत्येक छन्द के वैशिष्ट्य का सैद्धान्तिक विश्लेषण होने से अब कवियों को अपने काव्य के कथानक के ही अनुकूल छन्द का वरण करने का एक शास्त्रीय आधार प्राप्त हो गया है । फलत: शृङ्गारिक, शौर्यपरक अथवा काल्पनिक कथानकों के अनुरूप ही मचपत छन्दों का प्रयोग किया जाने लगा । फिर भी, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, १८ वीं तथा १९ वीं शंती में **डण्डङ्गुल** छन्द सर्वाधिक लोकप्रिय रहा ।

(३) **तेंगहान-छन्द**—परन्तु मचपत-छन्दों के विकल्पों की सम्भावना पर कोई रोक नहीं लग सकी । अन्तिम रूप से स्वीकृत १५ मचपत-छन्दों के अतिरिक्त भी मचपत-कोटि के छन्द पश्चिम जावा के सेंरबोन-राजदरबार में प्रयुक्त होते रहे । उसका कारण था मचपत-छन्दों का संवैधानिक शैथिल्य । जैसे चार से दस पंक्तियाँ वैसे ११ पंक्तियाँ । इतना हुआ नहीं कि एक नया मचपत-विकल्प तैयार हो गया । इस्लाम-पूर्व, पूर्व-जावी काव्यों में तथा जावी-बाली काव्यों में, जिनका मुख्य विषय मिथक एवं अभिचार तंत्र है, जैसे सूदमल, श्री तंजुंग आदि, भी ऐसे मचपत-छन्दों का प्रयोग हुआ है जो सुराकर्ता के साहित्यकारों की पहुंच के बाहर थे । वे छन्द उपर्युक्त पन्द्रह मचपत-छन्दों से सर्वथा पृथक् हैं । परन्तु संस्कृत छन्दों से पृथक् होने के कारण उन्हें **मचपत** के अतिरिक्त और किसी वर्ग में रखा भी नहीं जा सकता ।

१९ वीं शती के मध्य जावी साहित्यकारों ने मचपत-सधर्मा इन्हीं छन्दों को **तेम्बांग तेंगहान** (Tembang Tangahan) नाम दिया; जिसका अर्थ है। मध्यवर्ती छन्द (Middle metres)। तेंम्बांग-गेदे (संस्कृत वृत्त) तथा तेंम्बांग चिलिक के बीच की स्थिति के कारण इन छन्दों की पहचान **तेंगहान** के रूप में की गई, गो कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह भेद सर्वथा निरर्थक एवं महत्त्वहीन है। तेंगहान-कोटि के छन्दों का प्रयोग मचपत से पूर्व, समानान्तर तथा पश्चात् भी होता रहा है।

तेंगहान-काव्य का जो स्वरूप जावी-बाली राजाश्रित-साहित्य (Javanese Balinese Court-Poetry) में मिलता है, उसका एक प्रमुख वैशिष्ट्य है—पूरे काव्य में छन्दों का अनिवार्यत: परिवर्तन। कोई भी दो छन्द एक साथ, एक ही विधा के न हों, यह दृष्टि प्रभावी परिलक्षित होती है। सम्भवत: छन्दों का यह क्रमिक परिवर्तन इस दृष्टि से किया गया था कि विभिन्न छन्द-गायक बारी-बारी से इनका गायन प्रस्तुत करें।

इस प्रकार तेंगहान-छन्द, मचपत के ही विकल्प के रूप में प्रतिष्ठित हुए। जावा से अधिक बाली में इनका प्रयोग हुआ। बाली-द्वीप में, जावी-बाली (मिश्रित भाषा) तथा बाली भाषा के काव्यों में इन छन्दों का भूरिश: प्रयोग हुआ। तंत्री कथाओं (जो भारतीय पंचतंत्र-कथाओं का रूपान्तर है) मलतकुङ्ग तथा पाञ्जी प्रेमाख्यानों में ये तेंगहान-छन्द देखने को मिलते हैं। जैसे मचपत-छन्दों में प्रणीत काव्य **गेगुरितान** कहा जाता है, ठीक उसी प्रकार तेंगहान-छन्दों में प्रणीत काव्य को किडुंग (Kidung) कहा गया। इस प्रकार छन्द-वैविध्य के आधार पर जावा तथा बाली की सम्पूर्ण काव्य-यात्रा चार शीर्षकों में विभक्त है—(१) ककवीन (संस्कृत-छन्द), (२) कविमिरिंग (संस्कृत-छन्दों का शिथिल-प्रयोग (३), गेगुरितान (मचपत छन्द), (४) किडुंग (तेंगहान-छन्द)। जावा तथा बाली का साहित्यिक-परिवेश आज अनेक दृष्टियों से परिवर्तित हो चुका है, पर यह चतुर्विध काव्यसम्पदा इण्डोनेशिया राष्ट्र के समृद्ध अतीत की साक्षी है।

त्रयोदश अध्याय

बाली द्वीप की रंगमञ्चीय-परम्परा : अतीत एवं वर्तमान

उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि हिन्दू-संस्कृति के प्रवेश से पूर्व भी बाली द्वीप की बहुमुखी स्वस्थ परम्परायें विद्यामान थीं। प्राचीन शिलालेखों, जनश्रुतियों, पुराकथाओं एवं उत्खनन-सामग्रियों से एक समुन्नत बाली-समाज के, ईसवी शती के प्रारंभिक चरणों में भी स्थिर होने का तथ्य प्रमाणित होता है। बाली द्वीप के देव-शास्त्रीय एवं धार्मिक ग्रन्थों में दी गई व्याख्याओं से भी ज्ञात होता है कि बालीवासियों की दृष्टि में उनका यह नन्हा-सा द्वीप ही सम्पूर्ण धरामण्डल का केन्द्रबिन्दु (Nucleus) है। द्वीप के पूर्वी भाग में अवस्थित पर्वत्त **गुनुंग-अगुंग** (शिखर १०५६० फुट) को **जतूरयोग** आदि दर्शनग्रन्थों में 'महामेरु' के रूप में कल्पित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्वीप में स्थिर हो जाने के अनन्तर बाली के प्राचीन हिन्दू-धर्मशास्त्री आचार्यों ने परम्परया उपलब्ध भारत की सृष्टि-सम्बन्धी पौराणिक भुवनकोशीय व्याख्या का **बालीकरण** कर डाला। क्योंकि महामेरु, इन्द्र, मयदानव, अचिन्त्य (बाली का **परमशिव**), कच्छप (जिसकी पीठ पर बाली द्वीप स्थित है) तथा देवासुर-संग्राम आदि विशुद्ध हिन्दू-धर्मशास्त्रीय तत्त्व हैं। बाली के धर्माचार्यों ने भारतीय सृष्टि व्याख्या का बालीकरण करके, द्वीप की प्रागैतिहासिक अस्मिता को भी उसी में अन्तर्भूत कर लिया।

हिन्दू-संस्कृति की पूर्ववर्तिनी, बाली द्वीप की **बाली आगा (= बाली अग्र) अथवा बालीमूल** संस्कृति के रहे-सहे प्रमाण अब द्वीप के उन आदिवासी कबीलों मे ही देखे जा सकते हैं, जो पूर्व की पहाड़ियों तथा उत्तरवर्ती पर्वत गुनुंग

बाटुर (शिखर ५६३३ फुट) की शृंखलाओं में, सम्पूर्ण द्वीप से कट कर आज भी अपनी धार्मिक, सांस्कारिक एवं जातीय मान्यताओं से चिपके हुए हैं । केरांग असेम जिले के तेंगनान तथा वुलेलेंग जिले के व्रातन कबीले आज भी बाली के जन-जीवन तथा हिन्दू धर्म से अलग-थलग हैं ।

सम्पूर्ण द्वीप नृत्य, संगीत एवं नाट्य की क्रीडास्थली है । बाली का कोई भी महोत्सव बिना नृत्य, संगीत एवं अभिनय के सम्पन्न नहीं होता । मन्दिरों के वार्षिकोत्सव, पुत्रजन्म, विवाह, मृतसंस्कार अथवा सामान्य पर्वों में भी नगर की वीथियों एवं गांवों के **बंजारों** (भारतीय पंचायतभवन जैसी प्रत्येक गांव की सामाजिक संस्था) में ये रंगमंचीय प्रस्तुतियां सम्पन्न होती रहती हैं । बाली की इन परम्पराओं में हिन्दू एवं आदिवासी संस्कृतियां मिलकर एकाकार हो उठी हैं, जिन्हें यत्नपूर्वक भी पृथक् कर पाना अब संभव नहीं है । साथ ही साथ नये समाज की प्रवृत्तियां भी रंगमंच के व्यक्तित्व में सम्मिलित होती जा रही हैं ।[१]

निशाविहार बाली-वासियों को अत्यन्त प्रिय है । इस द्वीप की रातें, दिन की अपेक्षा कहीं अधिक **व्यापृत** प्रतीत होती हैं, अपनी महोत्सव-सक्रियता के कारण । प्रत्येक गांव का अपना मन्दिर (पुर) होता है, जो सारे महोत्सवों का केन्द्रबिन्दु है । प्रत्येक बंजार का अपना सभाभवन (Baleagung) है, जिसके आंगन में एक मीनार पर स्थापित विशाल घण्टे (Kulkul) की कर्णभेदी ध्वनि फूटते ही सारा गांव सावधान हो जाता है । यह घण्टानाद यूं तो अनेकार्थक है, जैसे अगले दिन के भोज के लिये अर्धरात्रि में पर्वताकार समुद्री कछुवों एवं सुअर का वध, किसी अन्य

---

१. द्रष्टव्य, लेखक का अन्य आलेख :— बालीद्वीप का नया संवत्सर **न्येपी** । इस महोत्सव के अन्तिम चरण में प्रत्येक बंजार ओगोह-ओगोह (चौकी) प्रस्तुत करती है । ये चौकियां शोभायात्रा के रूप में डेनपसार नगर के **पुपुतान बादुंग** (हुतात्मा चौक) नामक क्षेत्र में प्रदर्शित की जाती हैं । **ओगोह-ओगोह** यद्यपि किसी बाली-पुराकाथा या लोक-परम्परा का मूर्तरूप होता है, परन्तु कुछ बंजारों के पढ़े-लिखे नवयुवक **सड़क-शैतान** (Road Dragon) जैसे नये दृश्य भी प्रस्तुत करने लगे हैं, जो सड़क-दुर्घटना की समस्या का अधिक्षेप प्रस्तुत करते हैं ।

सामाजिक कार्य की मंत्रणा आदि । परन्तु इसका सर्वाधिक संकेत किसी रंगमंचीय महोत्सव की ओर होता है, जिसकी पूर्णसूचना प्राय: लोगों को रहती है । कुलकुल से मात्र स्मरण करा दिया जाता है महोत्सव का ।

नगरों की व्यवस्था भिन्न है । यहां का प्रचार-प्रसार आधुनिक माध्यमों (समाचारपत्रों के विज्ञापन, सिने स्लाइड्स, राजमार्गों के महत्त्वपूर्ण मोड़ों एवं चौराहों पर लगे पोस्टर्स तथा ध्वनिविस्तारक-यंत्र आदि) पर आश्रित है । डेनपसार नगर का **क्षीरार्णव** नामक राजकीय महोत्सवस्थल तथा वहां का **अर्धचन्द्र** नामक खुला रंगमंच नगर की मंचप्रस्तुतियों का प्रमुख केन्द्र है । इसी प्रकार विश्वविद्यालयों (उदयन, महेन्द्रदत्ता, महासरस्वती वि० वि०) तथा अन्य शिक्षा संस्थाओं के प्रेक्षागृह भी इन मंचप्रस्तुतियों के केन्द्र हैं । नुक्कड़ नाट्य एवं वीथी-मंचप्रस्तुतियां भी नगर में अत्यन्त लोकप्रिय हैं ।[१]

बाली के गांवों में बंजार के सभाभवन से भी कहीं अधिक रुचिकर स्थान विशाल विरिंगिन (बरगद) वृक्ष की छाया होती है, जिसके वृक्षाकार शत-शत प्ररोह सभा अथवा रंगशाला के स्तम्भों का दृश्य प्रस्तुत करते हैं । बाली की हिन्दू-परम्परा में यह **देववृक्ष** नाट्यदेवता के रूप में भी प्रतिष्ठित है । गांवों के बाजार तथा महोत्सव इसी की छाया में आयोजित होते हैं । अपनी विशाल सघन एवं सर्व दिग्गामिनी छाया के कारण वरिंगिन बृहत् पण्डाल की सुविधा प्रदान करता है ।

जैसा कि प्रारंभ में संकेत किया गया है, बाली का रंगमंच **त्रिवृत** है—संगीत, नृत्य एवं नाट्य (कथाभिनय) ये तीनों परस्पर सम्पृक्त हैं । भारत में जहां इन तीनों का सर्वथा स्वतंत्र अस्तित्व है, जावा में भी **वायांग** (नाट्य) का स्वतंत्र एवं निरपेक्ष विकास हुआ है—बाली में तीनों मिलकर एक हैं । यह ऐक्य इतना सहज है कि

---

१. शास्त्र फैकल्टी के दीक्षान्त-महोत्सव (२३ जुलाई ८७ ई०) में विश्वविद्यालय- छात्राओं का एक पाम्परिक भावनृत्य संकाय के ही सभाभवन में मैंने देखा । हस्त एवं नेत्र मुद्राओं का सूक्ष्म अभिनय दर्शनीय था । उदयन विश्वविद्यालय की रजतजयन्ती में २९ सितम्बर ८७ को भी **उदयन** नाटक का मञ्चन विश्वविद्यालयीय नाट्यशाला में किया गया ।

अकेले अभिनय अथवा नाटक के लिये बालीभाषा के शब्दकोष में कोई असंकीर्ण शब्द ही नहीं है ।

यद्यपि इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बाली का रंगमंच जावा के **वायांग** का ऋणी रहा है । परन्तु यह भी सत्य है कि रंगमंच के नाट्यांश को छोड़कर, बाली का संगीत एवं वाद्य सर्वथा मौलिक, जावा की परम्परा से अप्रभावित, अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन एवं समृद्ध है । वायांग का विकास जावा में १८वीं १९वीं शती के पसिसिर[१] युग में हुआ है । सुराकर्ता, कर्तासुरा एवं योग्यकर्ता सल्तनतों के साहित्यप्रेमी सुल्तान तथा उनके कुटुम्बीजन न केवल वायांग के संरक्षक थे, बल्कि स्वयं भी अनेक नाट्यशास्त्रीय (वायांग मिरुड) एवं साहित्यिक वायांग रचनाओं के लेखक तथा लोकप्रिय अभिनेता भी थे । सुल्तान मंकुनगरन लंगेन्द्रिय (अपर नाम मन्द्रस्वर) कुमार प्रभुविजय तथा कुसुमादिलग (सुराकर्ता) आदि के संरक्षण में ही यशादिपुर (अपर नाम शास्त्रनगर) सिन्धुशास्त्र तथा तण्डकुसुम-सरीखे महान् वायांग-लेखकों ने उत्कृष्ट नाटक लिखे ।

जावी-दरबारों के ये वायांग निश्चय ही परम्परया बाली के जन-जीवन में प्रविष्ट हुए । परन्तु जावी वायांगों के प्रवेश से पूर्व भी बाली में एक समानान्तर वायांग-परम्परा अस्तित्व में थी; जिसका सीधा सम्बन्ध बाली की पुराकथाओं, धर्म, संस्कृति एवं लोक-परम्पराओं से था । बाली की यह नाट्यपरम्परा सर्वथा मौलिक थी । अपनी इस स्थापना के सन्दर्भ में एक तथ्य प्रस्तुत करना चाहूंगा ।

---

१. जावा के हिन्दू-राजवंशों के आश्रय में लिखा गया संस्कृतनिष्ठ प्राचीन जावी भाषा का विशाल वाङ्मय मुख्यतः सातवीं से १५वीं शती ई० तक पल्लवित हुआ । इसके अनन्तर लिखा गया (इस्लामी सुल्तानों के संरक्षण में) साहित्य **पसिसिर-साहित्य** कहा जाता है । पसिसिर जावा के पूर्वी एवं उत्तरी तटवर्ती जनपदों की संज्ञा है, जहां इस साहित्य के केन्द्र विद्यमान थे । जावा के इन सुल्तानों ने ही नाट्यमंचों को विकसित किया । इसकी विस्तृत समीक्षा मैंने अपने एक अन्य निबन्ध **जावा की वायांग-परम्परा का उद्भव एवं विकास** में की है ।

संस्कृत-नाटकों के **विदूषक** के ही समकक्ष जावी वायांग में **पनकवन** नामक पात्र सम्पूर्ण नाट्यचेतना एवं मनोरंजन का मूलस्रोत माना जाता है। सन्ध्या से सूर्योदय तक चलने वाले जावी संवाद-बहुल भारीभरकम **वायांगपूर्व** (रामायण-महाभारतकथाश्रित) तथा **वायांगगेदॉग** (पाञ्जीकथाश्रित नाटक) में जनता की धैर्य-अग्निपरीक्षा में ये **पनकवन** शीतोपचार जैसा सुख देते थे। इन पात्रों की परिकल्पना सर्वप्रथम महाकवि म्पू पनुलुह ने (सम्राट् जयभय का राजकवि, ११३५-५७ ई०) अपने **घटोत्कचाश्रय ककवीन** में की थी। पनुलुह के काव्य में इनकी संख्या तीन हैं—जुरुदेह, पुन्त तथा प्रसान्त। ककवीनों से ही आगे बढ़कर ये **पनकवन** पाञ्जी प्रेमाख्यानों में आये, साहसी नायक के स्वामिभक्त सेवक के रूप में और अपनी लोकप्रियता के कारण अन्ततः वायांग-वाङ्मय में **अनिवार्य शर्त** के रूप में स्थानापन्न हो गये।[१]

बाली द्वीप में भी ये पात्र वायांग में विद्यमान हैं—**परेकान** के रूप में। परन्तु ये परेकान जावी वायांगों के पनकवन पात्रों जैसे कल्पित नाममात्र नहीं है, यथा अति प्राचीन नाट्यरूप **वायांग गम्बुह** जिसका विस्तृत परिचय आगे प्रस्तुत किया जायेगा, में सेमर (= स्मर) को **त्वालेन** के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो निश्चित रूप से एक देवशास्त्रीय पात्र है।

बाली की वायांग-परम्परा में एक और मौलिकता है, जो सल्तनतपोषित वायांग में नहीं मिलती। गो कि सल्तनतयुगीन वायांग भी अधिकांशतः रामायण तथा महाभारत-कथा पर ही आश्रित हैं। बाली के वायांगों में ये परेकान (= जावी पनकवन) नायक तथा खलनायक-दोनों पक्षों में होते हैं और संस्कृत पताका नायकों की तरह इनका भी एक पृथक् समानान्तर संघर्ष कथा में आद्यन्त चलता रहता है।[२]

---

१. कालिदास-समारोह उज्जैन को प्रेषित अपने निबन्ध **जावा तथा बाली की काव्यपरम्परा पर कालिदास का प्रभाव** में मैंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि पनुलुह को **पनकवन** की प्रेरणा कालिदास के नाटकों से प्राप्त हुई।

२. त्वालेन तथा उसका पुत्र मरदह नायक के परेकान होते हैं तथा देलम एवं संगुत खलनायक पक्ष के। वायांग की प्रत्येक विधा (वायांग-पूर्व, गेदॉग, वायांगकुलित

सच तो यह है कि सामान्य दर्शक नायक-खलनायक से कहीं अधिक लालायित रहते है इन परेकानों के संघर्ष का विकास एवं परिणति देखने के लिये । गो कि सबको ज्ञात रहता है कि विजय अन्त में (**त्वालेन** नायकपक्षीय परेकान) की ही होगी ।

बाली की एक पुराकथा में त्वालेन को सृष्टिकर्ता परमेश्वर 'तिन्तिय' (= अचिन्त्य अर्थात् परमशिव, यह समरूप शब्द मेरी अपनी अवधारणा है) का पुत्र तथा शिव का भाई माना गया है अपनी जिह्वा-लोलुपता एवं असंयम के कारण वह शक्तिसम्पन्न **देव** नहीं बन सका और देवताओं का भृत्य ही बना रह गया ताकि वह मनोऽनुकूल लेह्य, चोष्य, पेय एवं भक्ष्यादि का आनन्द प्राप्त कर सके । इसके बदले (अर्थात् देवत्व-त्याग) उसे अचिन्त्य से अनेक वर भी प्राप्त हुए । उसमें दुर्निवार तन्त्रशक्ति है । वह राष्ट्र (बाली) को किसी भी महासंकट से उबार सकता है । वह किसी भी वैरी के लिए महाकाल-सरीखा अजेय है । इस प्रकारत्वालेन **बाली-रंगमंच** का कुलदेवता जैसा प्रतीत होता है । कथाक्रम में भले ही वह आत्मोद्धार के लिये संघर्षरत नायकभूत किसी राजकुमार का, एकप्रख्य शुभेच्छु सहायक है, परन्तु उसका परमार्थ-व्यक्तित्व नायक की अपेक्षा कहीं अधिक महिमा एवं गरिमा से समन्वित है । बाली के परेकान (त्वालेन) के इस देवत्वमण्डित व्यक्तित्व के समक्ष जावी-वायांग के भोंड़े हास्य-सर्जक **पनकवन** संस्कृत नाटकों के विदूषको[१] अथवा पाश्चात्य नाटकों के क्लाउन (Clown) जैसे ही सिद्ध होते हैं ।

अर्थात् कठपुतली-नायक) में ये पात्र रहते हैं । इनकी पारम्परिक आकृति, वेषभूषा तथा रंग से ही दर्शक इन्हें पहली दृष्टि में ही पहचान लेते हैं । स्मर तथा हनूमान् आदि भी कथा के अनुरूप **त्वालेन** बनते हैं फिर हास-परिहास की सृष्टि के लिये **अत्यन्त-प्राचीन** में **अत्याधुनिक** हंसी के मसाले भी प्रायः भर दिये जाते हैं ।

१. संस्कृत नाटकों का विदूषक हास्य उत्पन्न करने के वैध-अवैध प्रयत्नों में यद्यपि 'सामान्य' प्रतीत होता है परन्तु हास्येतर-प्रसंगों में अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, असीम निष्ठा, वैदुषी एवं मानवीय गुणवत्ता के कारण वह **असामान्य** भी बन जाता है । इस प्रकार संस्कृत नाटकों का विदूषक मेरी दृष्टि में बाली वायांग के त्वालेन और जावी पनकवन के बीच में आता है ।

बाली-रंगमंच का प्रथम घटक तत्त्व है—संगीत ! भारत में जहां संगीत के वाद्य (Instrumental) एवं स्वर (Vocal) दोनों ही रूपों ने अभूतपूर्व समृद्धि प्राप्त की है। बाली का संगीत मुख्यतः वाद्यवृन्दाश्रित है। प्रत्येक बंजार का यह प्रयास होता है कि उसके पास अपना समृद्ध **गमेलन** (Gamelan=Orchestra) हो अन्यथा उन्हें अपने **पुरदेश** (Village temple) महोत्सवों में किसी अन्य बंजार का गमेलन उधार या किराये पर मांगना पड़ेगा। बंजारों की लोकव्यापी प्रतिष्ठा का एक ठोस आधार समृद्ध गमेलन का होना भी है।

बाली के वाद्यवृन्दों में सम्मिलित वाद्य मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त हैं—

१. धातुनिर्मित सुषिर वाद्य—ये क्लैरनेट, शहनाई अथवा पुलिस बैण्ड के पीतल-निर्मित तूर्यों जैसे होते हैं, जिनमें अनेक आकार-प्रकार की लयनियंत्रक पेंचें लगी रहती हैं। ध्वनियों की संख्या के ही अनुसार इन वाद्यों के नाम भी पृथक् होते हैं। नौ स्वरों से युक्त वाद्य **गंस जोङ्कोक**, (Gangsa Djongkok), है। पांच स्वरों के क्रम में गंसगन्तुंग (Gangsa Gantung), जलुंग (Jjalung), जुब्लग (Djublag) तथा जेगोगन (Djegogan) आते हैं। **गेन्देर** (Gendiers) दस या तेरह स्वरों का वाद्य है, जो दोनों हाथों से बजाया जाता है। अन्य वाद्यों में केवल बायें हाथ की उंगलियां ही ध्वनि का नियमन करती हैं।

२. अवलम्बित घण्टिकायें—तीव्र एवं मिठास भरी ध्वनि उत्पन्न करने के लिये ये घण्टियां एक आधारपीठ (Frame) पर इस क्रम में स्थापित रहती हैं जिससे कि उत्तरोत्तर तारध्वनि पैदा की जा सके। वस्तुतः यह **जलतरंग** अथवा आधुनिक **सन्तूर** जैसा वाद्य है। इनमें भी गांग कुम्पुर, गांग केमॉङ्ग, गांग बेण्ड, रेयॉङ्ग तथा ट्रोम्पोङ्ग आदि पृथक् नामों की गणना है, घण्टियों की संख्या के अनुसार।

३. पटह अथवा केण्डाङ्ग— (Kendang) यह पूरे गमेलन (Orchestra)का नेतृत्व करता है। लय तथा स्वराघात का नियंत्रण भी इन्हीं नगाड़ों से किया जाता है। ये सदैव जोड़े में आते हैं, जिन्हें बाली की परम्परा में पुरुष एवं नारी अथवा पति-पत्नी माना जाता है। केण्डांग सदैव काले एवं सफेद चेक में

लिपटा रहता है ताकि अनिष्टकारी प्रेतशक्ति से प्रभावित न हो सके । बाली-केण्डांग सम्भवत: तबले जैसा युगल वाद्य है[१] ।

४. **प्रकीर्ण वाद्य**—कई प्रकार के छोटे-मोटे वाद्य भी गमेलन की सम्पन्नता के लिए अत्यावश्यक होते हैं जैसे एक छोटा गांग केम्पली (Kempli); जिसे गोद में रखकर काष्ठदण्ड से बजाया जाता है । तीव्र ध्वनियों में उपयोगी एक अन्य वाद्य है—जेंग-जेंग अथवा झॉंझ जिसे दोनों हाथों में लेकर, परस्पर आहत् कर बजाया जाता है । जेंग-जेंग (Jjengtjeng) **मंजीरे** का विशाल रूप है । इसी प्रकार नाना प्रकार की छोटी-बड़ी घण्टियां और तुरहियां **केमनॉक** (Kemanak) भी **टन् टनाहट** पैदा करने में उपयोगी होती हैं और अन्तत: बाली द्वीप के दो और लोकप्रिय वाद्य हैं—सुलिंग अथवा वंशी (Suling) तथा महुअर अथवा रेबॉब (Rebab) ।

गंस (धातुनिर्मित पेंचदार सुषिरवाद्य) गांग, केण्डांग तथा अन्य प्रकीर्ण वाद्यों की संख्या आदि के आधार पर व्यवस्थित बाली के गमेलन (वाद्यवृन्द) अनेक नामों से विख्यात हैं, जैसे—गांग केबियार, गांग गेदे, पेलेगोङ्गन, पेजोगेदान, गेन्देर वायांग, गांग अंगक्लुङ्ग, गांग सेलुण्डिग, गांग गम्बंग आदि । इनमें से अनेक गमेलन बाली की प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध हैं, जिनका उपयोग अब शायद ही कहीं होता हो । भारत में कुछ वर्गविशेष के वाद्य जैसे कुम्हारों के **हुड्डुक** (डमरू के आकार का वाद्य) नाइयों की **खझड़ी** तथा चर्मकारों का **दण्डताल** (लोहे की सरिया पर लोहे के ही टुकड़े से बजाया जाने वाला वाद्य) भी अब समाप्त होते जा रहेहैं ।

बाली के समस्त नृत्य-भेदों के नियामक ये गमेलन ही होते हैं-यह एक निश्चित नियम है । गमेलन बदला नहीं कि उस नृत्य का स्वरूप भी बदला । यह कभी नहीं हो सकता कि नृत्य तो युद्ध का हो (Baris Gede or war dance) और उसका गमेलन **वायांग वांग**(रामायण आदि) का हो । लेगांग (नृत्य) तथा

---

१. उदयन विश्वविद्यालय के वाद्यवृन्द में ये पारम्परिक वाद्य नहीं हैं । मेरे मित्र प्रो० बागुस ने बताया कि इन्हें किसी बंजार के बाले-अंगुग में ही देखा जा सकता है ।

गमेलन (वाद्य-वृन्द) का मणिकाञ्चन योग ही बाली के संगीत का शिखर-बिन्दु है। यह विषय इतना विस्तृत है कि पचासों पृष्ठों में भी इसकी सांगोपाङ्ग व्याख्या कर पाना संभव नहीं। अत: मात्र प्रमुख नृत्यों की नामगणना कर,इस सन्दर्भ को यहीं समाप्त कर रहा हूं। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि नृत्यभेद नाट्य अथवा अभिनय से पृथक् नहीं है—

१. **लेगांग संगीत**—परिपूर्ण पेलेगोङ्गन गमेलन के साथ दो अथवा तीन वयस्क कन्याओं द्वारा लांसम एवं सेमराधन (Semaradhana अर्थात् स्मरदहन) का नृत्यपरक मूक-अभिनय।[१]

२. **जलोनरंग**—लम्बी वंशियों के साथ पेलेगोङ्गन गमेलन। संवाद,गायन एवं नृत्य के साथ **रांगदा जलोनरंग** पर आश्रित नाटक का अभिनय। बालीनरेश उदयन (१० वीं० शती ई०) की राजमहिषी महेन्द्रदत्ता (जिसके नाम पर इस समय डेनपसार नगर में महेन्द्रदत्ता यूनिवर्सिटी स्थापित है) बाली की लोक-परम्परा में एक दुर्धर्ष प्रेताधिपेश्वरी (= रांगदा) के रूप में प्रख्यात है। रांगदा के रूप में द्वीप के अनेक भागों में उसके प्राचीन मन्दिर अभी भी विद्यमान हैं। अपने ही पुत्र सम्राट् एरलंग के साम्राज्य में **महामारी और प्लेग** ले आने के कारण माता और पुत्र का मंत्रशक्ति-परक भीषण युद्ध हुआ, जो अनेक बाली ग्रन्थों में वर्णित किया गया। तंत्र-मंत्र एवं अभिचार-कला में पारंगत पूर्वमध्यकालीन चन्देल सामन्त आल्हा की

---

१. **कडिरी**–नरेश कामेश्वर (११०६-३५ ई०) के राजकवि म्पू धर्मज-प्रणीत स्मरदहन ककवीन की चर्चा मैंने अपने निबन्ध**जावा तथा बाली की काव्यपरम्परा पर कालिदास का प्रभाव**में की है। यह काव्य महाकवि कालिदास-प्रणीत **कुमार-सम्भव** पर आश्रित है, प्रतिपाद्य एवं शैली-दोनों ही दृष्टियों से। कवि धर्मज ने **स्मर** से कामेश्वर को तथा **दहन** शब्द से उसकी राजधानी दह अथवा दहन, जिसे बाद में 'कडिरी' भी कहा गया, को संकेतित किया है। जावा के प्राय: सभी ककवीन, द्वीप के इस्लामीकरण के बाद बाली में सुरक्षित रहे। कुछ तो बालीभाषा में भी लिखे गये। **सेमराधन** भी उसी प्रकार का ग्रन्थ है जो बाली-भाषा में है।

पत्नी सोना अथवा सोनवाँ जैसी रांगदा भी भूत-प्रेतों की महिषी के रूप में मान्य है।

३.बारोङ्ग—पेलेगोङ्न गमेलन (जिसे इस नृत्यनाट्य में **बेबारोङ्न** कहते हैं)। एक भीषण पवित्र जन्तु का मूकाभिनय। यह नृत्य भी प्रेतबाधा-निवारण (exorcism) पर आधारित होता है।

४. जौक—पेलेगोङ्न गमेलन। मुखौटा लगाये पुरुष पात्रों द्वारा मूक अभिनय। लेगांग शैली में किसी कथानक का मञ्चन। मुखौटे किसी पात्र-विशेष (जैसे अर्जुन, भीम, हनूमान्) को नहीं अभिव्यक्त करते।

५. जोदेग—पेलेगोङ्न से ही मिलता-जुलता **पेजोगेदन** नामक गमेलन, जो बाँस से निर्मित होता है। बिना किसी कथा के प्रणय-याचना-परक एक नृत्य। यह नृत्य जब कोई लड़का कन्या की वेष भूषा में करता है तो इसे **गन्द्रुङ्ग** (Gandrung) कहते हैं।[१]

६.मेन्देत तथा रेजांग—पेलेगोङ्न अथवा सेमर पेगुलिंगन गमेलन। मन्दिर के भोजोत्सव में दो प्रौढ़ महिलाओं एवं पुरोहितों (पमंकुओं) द्वारा उपासना-नृत्य।

७.संघयांग संगीत—पुरुषों एवं महिलाओं का समवेत संगीत (chorus music) प्रेतात्मा के आवेश का माध्यम बनने वाली नन्हीं बच्चियों द्वारा समाधि की स्थिति में नृत्य। बाली द्वीप का यह अद्भुत नृत्य आज भी सारे संसार के लिए एक चुनौती है। ये बच्चियां अत्यन्त छोटी अवस्था की होती हैं परन्तु पमंकू द्वारा मंत्राविष्ट कर दिये जाने पर ये आग के दहकते अंगारों पर यूं चलती हैं मानों वे फूल

---

१. जावा तथा बाली के इस लोकप्रिय वाद्य को प्रथम बार मैंने भारत से बाली आते समय जकार्ता के **सारीपेसिफिक** होटल (जहाँ मैं रात्रि विश्राम के लिए रुका था) में देखा और सुना। दूसरी बार पुनः उदयन वि० वि० के नृवंशशास्त्र विभाग के अध्यक्ष प्रो० बागुस की दिवंगता माँ के श्राद्ध-संस्कार में, उनके पैत्रिक गाँव में दि० ३१ जुलाई ८७ ई० को पास बैठ कर यह अद्भुत वाद्य सुना। सम्भवतः सम्पूर्ण विश्व में यह अपने ढंग का अकेला आर्केस्ट्रा है जो मात्र बाँस से बना होकर भी इतनी कर्णप्रिय विविध ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। इसके कलाकारों का कौशल सचमुच वर्णनातीत है।

हों। इन संघयांग कन्याओं का चयन पमंकू दैवी-निर्देश से स्वयं करता है। इन कन्याओं के अभिभावक की समाज में बड़ी प्रतिष्ठा भी होती है। समाधि अथवा आवेश (Trance) के बाद ये बच्चियां सर्वथा सामान्य हो जाती हैं, परन्तु कुछ भी स्मरण नहीं कर पातीं कि उन्होंने कौन-सा नृत्य किया था? वस्तुतः वे नाचना जानती भी नहीं हैं।

८.**वायांग कुलित**—गेन्देर वायांग आर्केस्टा। कठपुतलियों द्वारा छाया-नाटक महाभारत, रामायण अथवा अन्य किसी कथा की प्रस्तुति। कथावाचक सूत्रधार (डलंग) कथा का गायन करता चलता है।

९. **वायांग वांग**—गेन्देर वायांग गमेलन। रामायण कथा का मुखौटाधारी अभिनेताओं द्वारा नृत्य-सहित मूल कवि भाषा (जावा) में गायन। जावा की वायांग-परम्परा में इसे **वायांग-पूर्व** कहा गया है।

१०.**बरीस गांग**—भालों (Baris gedi) के साथ किया जाने वाला एक सांस्कारिक युद्धनृत्य। इसका एक नवीकृत रूप **बरीस पेण्डेत** भी है जिसमें मूकाभिनय शैली में शौर्यपूर्ण नाट्यकथानक प्रस्तुत किये जाते हैं।

११. **तोपेंग गांग**—मुखौटाधारी पात्रों द्वारा बाली की स्थानीय ऐतिहासिक कथाओं (Babad) का प्रायः मूकाभिनय। हास्य-पात्रों द्वारा संवाद-युक्त अभिनय।

१२. **केवियार गांग**—एक अत्याधुनिक, विशुद्ध प्रदर्शन-परक नृत्य जो एक पुरुष नर्तक द्वारा संगीतात्मक-ध्वनि पर सम्पन्न किया जाता है।

१३. **गम्बुह**—गम्बुह गमेलन, वंशी, वॉयोलिन तथा अन्य स्फुट वाद्य। नाट्यप्रस्तुति की यह क्लासिक तकनीक है भरतनाट्यम् जैसी जो कि संगीत-बहुल है। इसमें **मलत**(= जावा के पाञ्जीप्रेमाख्यान) कथाओं के अतिरिक्त तन्त्री, जपक बासुर तथा पर्व आदि बाली कथाओं का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है।

१४. आर्जा (Ardja)—गमेलन आर्जा । गम्बुह का ही आधुनिकीकृत रूप जिसमें नवयुगीन प्रेमाख्यानों का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है; जैसे चन्द्रलासन, शल्य, सिद्धपक्ष (Sidapaksa), गलोलिकुह तथा चीनी कथायें ।

१५. बारोंग लन्दोंग—गमेलन बाटेल, वंशियां और घण्टियां, भीषण आकृति वाली कठपुतलियों द्वारा हास्य-कथा का अभिनय जैसे-एक बूढ़ी महिला (जेरोलुह) तथा एक खूसट काले दानव (जेरो गेदे) के साहसिक अभियान ।

१६. जंगर— गमेलन जंगर । वंशी, घण्टियां और दमामे । लड़कों एवं लड़कियों द्वारा सम्पन्न एक वर्तमान सुखान्त नाटक, जिसमें अनेक बालीतर विदेशी तत्त्व भी सम्मिलित रहते हैं ।

१७. केजाक—संगीत की लय पर नाचते और झूमते पुरुषों का समवेत गायन के साथ अभिनय । कभी-कभी नाट्यकथाओं की भी अवतारणा । संघयांग तथा जंगर का मिला-जुला रूप ।

उपर्युक्त विवरण से कोई भी व्यक्ति सहज अनुभव कर सकता है कि बाली की नृत्य-नाट्य-परम्परा मात्र नेत्रसुख के लिए नहीं है, बल्कि उसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य की पराभौतिक सञ्चेतना एवं आत्मिक अभ्युदय से जुड़ा है। ये नृत्य सामाजिक उत्सव के अंग तो हैं ही, धार्मिक कर्मकाण्ड, संस्कार एवं लोकपरम्परा के पोषक भी हैं । झुर्रियों भरे, पोपले मुंह वाली महिला पुरोहितों को उमंग और आत्म-विस्मृति में नाचते, बाली में ही देखा जा सकता है । उन्हें इस नृत्य में अपने **गलित-यौवनात्व** का बोध नहीं होता, क्योंकि संघयांग-नृत्य विशुद्ध मन्दिर-नृत्य है, जिसे और कोई सम्पन्न ही नहीं कर सकता । इस प्रकार ये नृत्य अभ्युदय एवं निःश्रेयस को परस्पर जोड़ते हैं ।

भारत की ही तरह बाली द्वीप में भी गीत एवं नृत्य की दैवी उत्पत्ति मानी गई है । परम्परा के अनुसार **भटारगुरु** (The Supreme teacher) ने प्रथम वाद्य तथा स्वर्ग के स्वामी इन्द्र ने नृत्य को आविष्कृत किया । इन्द्र ने देवताओं के आह्लाद हेतु नृत्य करने के लिए अतुलनीय सौन्दर्य वाली अप्सराओं (देदारी) को

उत्पन्न किया। **अर्जुनविवाह** में वर्णित सन्दर्भ के अनुसार इन्द्र ने दिव्यमणि को सात खण्डों में तोड़ कर सात अप्सराओं को निर्मित किया। अप्सराओं ने नृत्य से पूर्व देवमण्डली की तीन परिक्रमाएं कीं आदर प्रदर्शित करने हेतु। सारे देवता अप्सराओं के रूपसौन्दर्य से आहत हो उठे, परन्तु अपनी-अपनी गरिमा-महिमा के कारण,चाहते हुए भी चतुर्दिक् परिक्रमा करती उन सुरसुन्दरियों को लज्जावश देख नहीं सके। फलतः अपनी दिव्य शक्ति से बैठे ही बैठे इन्द्र ने स्वयं को **सहस्रनेत्र** और ब्रह्मा ने स्वयं को **चतुरानन** बना लिया और बिना हिले-डुले ही अप्सराओं को सुखपूर्वक प्रत्येक दिशा में देखा।[१]

संगीत एवं नृत्य दोनों की ही तकनीकी सम्पूर्ति में अथक प्रयास किया जाता है। महीनों के अनवरत अभ्यास से किसी गमेलन अथवा नृत्यभेद की सन्तोषजनक तैयारी हो पाती है। इस कार्य में कलाविशेषज्ञ गुरु का सम्मान बाली के समाज में सर्वोपरि है। यद्यपि भारत की ही तरह बाली का भी समाज वर्णव्यवस्था की आचरण-संहिता का निष्ठापूर्वक पालन करता रहा है। फिर भी कलाकार, चाहे वह सामान्य जाति या कुल का ही क्यों न हो, सर्वोच्च प्रतिष्ठा एवं आसन का अधिकारी होता है। सारे शिष्य कलाकार (वादक, नर्तक) उसके समक्ष श्रद्धावनत रहते हैं। नृत्य संगीत—दोनों की ही प्रक्रियायें अत्यन्त जटिल हैं, जिनका उल्लंघन अक्षम्य अपराध है। नर्तक का नृत्य कौशल मात्र उसके नृत्यज्ञान पर ही नहीं, बल्कि उसके शरीर-सौष्ठव, मुद्राओं की अभिव्यक्तिक्षमता तथा भावसंवेदन-तन्मयता पर निर्भर होता है, जो कि अनुभवी गुरु की कृपा से ही संभव हो पाता है।

---

१. भटार गुरु को भारतीय देवशास्त्रीय परम्परा के अनुसार देवगुरु बृहस्पति होना चाहिए। परन्तु मेक्सिको के एक विद्वान् की व्याख्या में मैंने उन्हें शिव से एकीकृत पढ़ा। श्री काबरूबियास की इस धारणा का मूल क्या है, यह तो ज्ञात नहीं। परन्तु प्रो० बागुस ने मेरे ही दृष्टिकोण का समर्थन किया। भटारगुरु एक चतुर्भुज ऋषि हैं, जो कमल पुष्प पर आसीन हैं। इनकी दो भुजाएं समानमुद्रा में ऊपर उठी हैं अन्य दो हाथों में क्रमशः जयमाला तथा चंवर हैं।

नाट्य एवं नृत्य-संगीत के ये प्रख्यात गुरु प्राय: अपने समय के प्रसिद्ध नृत्य-कलाविशारद, गायक अथवा अभिनेता होते हैं । ज्यों ही कोई बंजार अर्थसम्पन्न हो कर गमेलन के विविध वाद्यों तथा अभिनय की सारी वेषभूषा[१](वस्त्र, किपास, ओंजर, लामक, उबगबिग, बोबकान, सेसिम्पिंग बोबान्दांग, सबोक, सुबंग, बेरकपात, गेगेम्पोलान, पेतितिस, सुम्पांग, उदेंग, करारोके, रोनरोनम तथा बदग) का क्रय कर लेता है, त्यों ही किसी अनुभव-सम्पन्न प्रख्यात गुरु को आमंत्रित किया जाता है ।

सर्वप्रथम लोकमोहन व्यक्तित्व के लड़के-लड़कियों का चयन, उनकी शारीरिक-अर्हता तथा नृत्यविशेष के सन्दर्भ में उनकी तिरोहित प्रतिभा के आधार पर किया जाता है । बाली के प्रतिनिधिभूत द्वीपीय नृत्य **लेगांग** के लिये पांच से आठ वर्ष की बच्चियों का चयन होता है । बच्चियां यदि एक ही **अनुहार** (रूपसाम्य) की हों तो फिर क्या कहना ? **लेगांग** का स्वर्णिम भविष्य स्वत: घोषित हो उठता है । प्राय: प्रत्येक बंजार एक या दो ही नृत्यभेदों की व्यवस्था कर पाता है । अमुक बंजार का वायांग कुलित—प्रसिद्धि के क्रम में बाली की जनता इन नृत्यों एवं नाट्यों को इसी क्रम में चर्चित करती है ।

चयन के बाद पूर्वाभ्यास (Rehearsal) प्रारम्भ होता है । एक नियमित समय पर बंजार के **बाले अगुंग** (सभागार) की **कुलकुल** घनघनाने लगती है । सारे कलाकार तथा पूर्वाभ्यास देखने के इच्छुक ग्रामवासी भी एकत्र हो जाते हैं और इसी के साथ प्रारंभ हो जाता है वाद्य,नृत्य अथवा नाट्य का रिहर्सल । अनुभवी गुरु बच्चों के हाथ पकड़कर नाना प्रकार की मुद्रायें सिखाता है, स्वयं उन मुद्राओं का प्रदर्शन करता है । इस कार्य में उसके पूर्णशिक्षित कलापटु शिष्य भी उसकी सहायता करते

---

१. यूं तो विभिन्न नृत्य-भेदों में पात्रों की वेषभूषायें परिवर्तित होती रहती हैं । विशेषकर वायांग-वांग (पौराणिक रूपकों) के पात्रों की । परन्तु एक आदर्श नर्तक अथवा नर्तकी की अनिवार्य नेपथ्य-विन्यास-सामग्री (Legong Costume) में प्रयुक्त मुकुट,अंगद, अधोवस्त्र, कुण्डल की सूची में ये उपादान प्रयुक्त होते हैं । इनके आकार-प्रकार, निर्माण-सामग्री तथा धारणविधि की प्रक्रिया भी व्याख्या-सापेक्ष है ।

हैं। अंगों में लोच और नरमी लाने के लिए कुछ नियमित व्यायाम भी बच्चों से कराये जाते हैं। प्राय: कई सप्ताहों के कठिन, अनवरत एवं नैष्ठिक श्रम के बाद ही कोई नृत्य, नाट्य या वाद्य **लोकप्रदर्शन** के योग्य बन पाता है। इस कार्य के लिये यद्यपि शिक्षक को जो वेतन मिलता है वह उसके श्रम के अनुपात में **नगण्य**ही होता है, परन्तु जो प्रतिष्ठा मिलती है वह स्पृहणीय होती है। उसे, यदि वह बाहर से आया होता है, बाले अगुंग के सुविधा-सम्पन्न कक्ष में भोजन-आवास दिया जाता है। अभ्यास-क्रम में भी बंजार की ओर से उसे निरन्तर सिगरेट, पान-सुपारी, बाली के विशिष्ट केक आदि दिये जाते रहते हैं। कलाकारों तथा समूचे गांव की दृष्टि में वह 'कलादेवता' जैसा पूज्य होता है।

कलापरिषद् द्वारा दक्षता प्राप्त कर लेने पर पैडण्डा (पुरोहित) से **मुहूर्त** निकलवा कर बंजार के अधिकारी उद्घाटन-समारोह (मलस्पसिन) आयोजित करते हैं, जिसे देखने की बेचैनी पूरे गांव तथा पास-पड़ोस के इलाकों में भी व्याप्त हो जाती है। पूर्वाभ्यास के दिनों में ही प्राय: ये कलापरिषदें कर्णपरम्परया प्रसिद्धि प्राप्त करने लगती हैं। कुछ शिक्षक-गुरु की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, कुछ चुने गये बच्चे-बच्चियों का अद्भुत रूप-सौन्दर्य और कुछ वाद्य तथा वेशभूषा की समृद्धि तथा अन्तत: प्रचारक की, नमक-मिर्च लगाकर की गई धाराशंसा! (Running Commentary) सब मिलकर बंजार के कलाङ्कुर को समय से पूर्व ही 'महान्यग्रोध' के रूप में स्थापित कर देते हैं।

धारण करने से पूर्व नेपथ्य-विन्यास-सामग्री की पूजा होती है। उन्हें कलागुरु द्वारा आशी: प्राप्त कराया जाता है। प्रत्येक नर्तक, वादक, अभिनेता तथा कथाख्याता (डलंग अथवा सूत्रधार जो मूक अभिनयों में कथा का दृश्यानुकूल गायन करता रहता है) को एक विशिष्ट उपासना-क्रम सम्पन्न करना पड़ता है। नर्तक एवं नर्तकियों के लिए विशेष कर्मकांडीय व्यवस्थायें होती हैं। पुरोहित तन्त्रविधि से उनकी शुद्धि करके, मन्त्रों द्वारा उनके व्यक्तित्व में रूप-सौन्दर्य के आकर्षण का आधान करता है। उनके कपोलों, ललाट तथा जिह्वा पर पुष्पवृन्त से कुछ तान्त्रिक

बीजाक्षर (जैसे **ऐं** पराम्बा का मायाबीज है— भारतीय परम्परा में) भी लिखे जाते हैं।

उपासना के अंतिम-चरण में **रंगदैवत** की पूजा सम्पन्न होती है। **पूजा-अर्चना** बाली द्वीप की कमजोरी है।[१] ये रंगदैवत पहले से ही मञ्च पर स्थापित होते हैं। शास्त्रीय विधि से नृत्य-देवता **देव पर्गिना** (Dewa Pergina) तथा देव-नर्तकियों **देदारी सुप्रभा एवं देदारी तिलोतमा** की पूजा सम्पन्न होती है। देवी सरस्वती, जो साहित्यिक पाण्डुलिपियों, साहित्य, विज्ञान एवं अधीति की देवता है, की भी पूजा सम्पन्न होती है। इन औपचारिकताओं के बाद ही मञ्चप्रस्तुति प्रारम्भ हो जाती है।

मञ्चप्रस्तुति की सफलता का प्रतिमान दर्शकों की भीड़ मात्र होती है। अभिनय से प्रभावित दर्शक आर्थिक पुरस्कार भी देते हैं, जिसका उपयोग बंजार द्वारा अन्याय वेषभूषाओं अथवा वाद्यों के क्रय में किया जाता है। वस्तुतः बाली-वासी वाद्य, गीत एवं नृत्य को प्रदर्शित भर नहीं करते, वे उसे **जीते** भी हैं। डेनपसार नगर में समुद्रतटवर्ती **सानुरबीच** के पास सेमवांग में **मेर्तसारी** (Mertasari, अमृतश्री) का मन्दिर **कलातीर्थ**के रूप में प्रतिष्ठित है। समस्त पेशेवर कलाकार वहां वर्ष में एक बार अनिवार्यतः जाते हैं पूजा करने। इस मन्दिर में एक पाषाण-स्तम्भ पर **नृत्य-मुकुट**(गेलुङ्गन) स्थापित है, वही आराध्य है। वर्ष (ताहुन) का एक दिन रंगमञ्च के लिए अर्पित है जिसे **तुम्पाक् वायांग**कहते हैं। इस दिन पूरे

---

१. पिछले सप्ताह सन्ध्या-भ्रमण के क्रम में मैंने देखा कि खेत की मूंग उखाड़ कर **पसार-बुंगा** (Flower market) का लेखपट्ट लगा दिया गया है। दो-तीन दिन बाद ही हजारों फूलों के गमले वहां सजा दिये और उसी के साथ खेत के कोने में खड़ा हो गया एक लकड़ी का मन्दिर। बाली का भिखारी भी यदि खेमा गाड़ेगा तो मन्दिर की व्यवस्था अवश्य करेगा। हर शाम पूरा डेनपसार नगर पुष्पाक्षतपुटकों तथा अगरबत्तियों के धुंओं से महक उठता है। मेरे आवास में भी पूर्ववर्ती ने दीवाल में एक **दारुमन्दिर** टांग रखा था। आदेशभूत मैं स्थानिवत् उपासक तो नहीं बन सका, फिर भी अपनी पद्धति से पूजा कर लेता हूं।

द्वीप में वाद्यों, मुखौटों, कठपुतिलयों तथा वेषभूषाओं की पूजा होती है ताकि वे अपनी नैसर्गिक-शक्ति का पुनराधान कर सकें। सम्पूर्ण द्वीप में रंगसंस्थायें सामूहिक भोज का आयोजन करती हैं तथा इस दिन भूल कर भी मञ्चप्रस्तुति नहीं करती। ऐसा ही एक दिन विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को भी अर्पित है जिस दिन कोई भी बाली-वासी ग्रन्थ का पन्ना नहीं पलटता।[१]

बहुमुखी रंगमञ्चीय समृद्धि के बावजूद भी वर्तमान बाली द्वीप नृत्य-नाटक के क्षेत्र में अपने लेगांग (कोमलांगी कन्याओं का लास्य) मेन्देत (मन्दिरनृत्य) संघयांग (देवात्माविष्ट कन्याओं का समाधिनृत्य) वायांग कुलित (पुत्तलिकानृत्य) तथा वायांग वांग (पौराणिक मञ्च-प्रस्तुति) के लिए आज भी प्रख्यात है। इधर नवीन शैली के **केवियार** को भी ख्याति मिल रही है। आर्केस्ट्रा के क्षेत्र में पुराना **पेलेगोङ्गन** तथा नया **गांग केवियार** ख्याति के शिखर पर हैं। सिनेमा, सरकस तथा पाश्चात्त्य संस्कृति से प्रभावित आर्केस्ट्रा ने बाली के पारम्परिक कलाविकास को क्षति पहुंचाई है। फिर भी बाली, भारत के स्तर तक पाश्चात्य-संस्कृति का **लालाटिक** नही बन सका है।

बाली के **वायांग वांग**पर प्रारम्भ में ही प्रकाश डाला गया है। वस्तुत: यही एक ऐसी विधा है, जिसमें पात्र **चतुर्विध अभिनय** प्रस्तुत कर पाते हैं। रामायण-महाभारत-मूलक होने के कारण तथा **परेकान** (विदूषक) पात्रों की संगति के कारण ये मंच-प्रस्तुतियां आज भी द्वीप में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। यही प्रस्तुति जब **वायांग** (Marionettes, पुत्तलियां) के माध्यम से होती है, तो उसे **वायांग कुलित**कहते हैं। राम और अर्जुन वांग तथा कुलित के लोकप्रिय नायक हैं। वस्तुत: ये नायक सत्य, धर्म, न्याय, ऋत एवं स्नेह-प्रेम के संस्थापक हैं। इनके त्वालेन और मरदह भी इनके ऋताभियान में सहायक होते हैं।

वायांग वांग एवं वायांग कुलित का सम्पूर्ण साहित्य मूलत: जावा में ८वीं से १५वीं शती के बीच राजाश्रित कवियों द्वारा प्राचीन जावी भाषा में,संस्कृत छन्दों

१. इस वर्ष यह दिन आगामी २६ सितम्बर को पड़ रहा है (बम्बाङ्गदे रवि-निर्मित पञ्चाङ्ग)

में लिखा गया जिसका समानान्तर अनुवाद बाली के कवियों ने लगभग ४७ **तेम्बांग तेगंहान** अथवा तेगंहान छन्द (जिसमें लिखे गये वाङ्मय को **किडुंग** कहते हैं) तथा **तेम्बांग मचपत** अथवा मचपत छन्द (जिसमें लिखे गये वाङ्मय को **गेगुरितान** कहते हैं) में कर डाला। बाली के ये छन्द, संस्कृत छन्दों से कहीं अधिक गेय हैं (जैसा कि मेरे अग्रज मित्र प्रो० बागुस का कहना है) कालिदास-सम्बन्धी निबन्ध में मैंने **पाकंग ररास गेगुरितान** के कुछ मचपत छन्दों को नागरी लिपि में प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार वांग तथा कुलित वाङ्मय जावा के ककवीन तथा बाली के किडुंग एवं गेगुरितान पर आश्रित है। कुलित में एक व्यक्ति पहले कथा का गायन मूल जावी में करता है और तुरन्त बाद ही उसका तेंगहान अथवा मचपत-गायन मञ्च पर बैठे सूत्रधार (डलंग) द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, जिसे प्राय: समस्त ग्रन्थ कण्ठस्थ रहता है। ठीक उसी प्रकार जैसे श्री झाडूराम देवांगन को **पण्डवानी** अथवा कु० उमा माहेश्वरी को **हरिकथायें** कण्ठस्थ हैं।

अभिनय करती पुतलियों की छाया पर्दे पर पड़ती है, जो एक अन्य कलाकार द्वारा नियंत्रित एवं प्रवर्तित होती हैं। **डलंग** उन दृश्यों की व्याख्या करता चलता है। वस्तुत: पुतलियों के कथाभिनय एवं डलंग की गीत व्याख्या में एक अद्भुत समानुपातिक साम्य होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि दृश्य और उसके वाचिक भाष्य में कोई अन्तर हो। इसीलिए बाली की परम्परा में **डलंग** को दैवीशक्तिसम्पन्न एक महातान्त्रिक असामान्य व्यक्ति माना जाता है। वायांग कुलित की सारी सफलता उसी की बहुमुखी प्रतिभा पर केन्द्रित होती है। इसके अतिरिक्त पुतलियों के आकार-प्रकार का भी बड़ा महत्व होता है, विशेष कर तब जब उनका अभिनय बिना पर्दे के होता है। महिष-चर्म अथवा टीक से बनी ये कठपुतलियां अपने प्रकृत पात्र को पूर्णत: साकार कर देती हैं।

वायांग वांग का सर्वाधिक लोकप्रिय कथानक **अर्जुनविवाह** है जिसमें अर्जुन की इन्द्रकील-शिखर पर तपस्या, पाशुपतास्त्र-प्राप्ति, स्वर्गयात्रा तथा निवात-कवच-वध आदि भारतीय पुराण-कथा का परिवर्तित रूप विद्यमान है। सुप्रभा एवं

तिलोतमा अर्जुन के तपोभंग-हेतु पर्वत पर आती हैं, परन्तु प्रेम-पाश में बंध जाती हैं। अर्जुन की तपस्या वन्य सूकर-मुख वाले **मैंग-मैंग मूर्क** की घुर्घुराहट से टूटती है जो कि **वातकेवज** (निवात कवच) का महामात्य है। अर्जुन उसका वध करके देवों को भयमुक्त करते हैं। बाली का वांग-साहित्य पुष्कल एवं समृद्ध है।

सहायक ग्रन्थः– १.Literature of Java Vol. I by Dr.J. Pigeaud २. Old javanese Ramain (Preface) by Prof. Kern, Leiden University. ३. The Island of Bali by M.Covarrubias ४. Dr. R.Goris's Sketches of Bali ५. Nagarakertagama by Dr. R.N. Poerbatjaraka ६. The History of Java by Sir J.S. Raffles ७. The Balinese Wayang Koelit and its Music by Colin Me Phee ८. Ramain Kakaveen by Dr.S.Santoso. ९. Verbal talks with Prof. Bagus.

चतुर्दश अध्याय

बालीद्वीप के वायांग का सूत्रधार : डलंग

वायांग प्राचीन जावी (= कवि) भाषा का संस्कृतेतर शब्द है, जिसका अर्थ है— पुत्तलिका (Marionette, Puppet)। इन्हीं पुतलियों के माध्यम से सम्पन्न होने के कारण बाली-जावा की सम्पूर्ण नाट्य-परम्परा को ही वायांग कहा जाने लगा। जैसे संस्कृत में कुशल, प्रवीण, लावण्य, प्रतिकूल तथा अनुकूल आदि शब्दों के लक्ष्यार्थ अब उनके संकेतितार्थ (वाच्यार्थ) बन गये हैं, ठीक उसी प्रकार अभिनय का प्रतीकभूत **वायांग** शब्द अब उसका वाचक बन गया है। अतएव जावा (तथा बाली एवं लोम्बोक द्वीपों में भी) नाट्य को वायांग तथा नाट्यवाङ्मय को वायांग-वाङ्मय कहा एवं समझा जाता है।

जावा में काव्य (ककविन्) की तुलना में नाट्य को स्थायित्व तथा लोकप्रियता प्रभूत विलम्ब से मिली। बालीद्वीप में तो और भी विलम्ब से। पूर्वी जावा में स्थापित कडिरी-साम्राज्य (१०५०-१२२२ ई०) के प्रख्यात शासक जयभय (११३५-५७ ई०) के राजकवि पनलुह ने घटोत्कचाश्रयककविन् में सर्वप्रथम **पनकवन्** नामक नाटकीय पात्रों की अवतारणा की। संस्कृत-नाटकों के विदूषक के समान ये पनकवन् कथानायक के सार्वकालिक मित्र होते हैं तथा नायक के जीवन के उतार-चढ़ाव में अविस्मरणीय भूमिका निभाते हैं। पनकवन् पात्रों का व्यक्तित्व-विकास, कथा में उनका विनियोग, संज्ञा एवं संख्या आदि एक स्वतंत्र चिन्तन का विषय है। कालान्तर में तो वायांग की समूची लोकप्रियता इन्हीं पनकवन् पात्रों पर केन्द्रित हो गई।

काव्य के अतिरिक्त, स्थापत्य में भी वायांग-पुत्तलिकाओं (Wayang Puppets) का प्रभाव कडिरीयुगीन मन्दिरशिल्प में परिलक्षित होता है। पूर्वी जावा के अनेक मन्दिरों की बाह्य-भित्तियों, तोरणों, गवाक्षों तया स्तम्भों के अगल-बगल तथा शिखर-कर्णिकाओं के परिसर में ये शालभञ्जिकायें उत्कीर्ण की गईं हैं।

इन साहित्यिक एवं स्थापत्यप्रमाणों के ही कारण यूरोपीय विद्वानों ने जावा के वायांग को पूर्व-इस्लामयुगीन (अर्थात् १५वीं शती से पूर्व का) माना है। यह मान्यता सर्वथा उचित ही प्रतीत होती है।[१] जावा के कवि एवं लेखक भारत की नाट्यपरम्परा तथा कालिदास- सरीखे नाटककार से १०वीं शती ई० में ही परिचित हो चुके थे। अतएव म्पू पनलुह को पनकवन् पात्र की प्रेरणा कालिदास की नाट्यकृतियों से ही मिली हो तो इसमें आश्चर्य क्या है ?[२]

ऐसी स्थिति में, जावा में सर्वमान्य उस साहित्यिक-परम्परा का औचित्य संशयापन्न हो जाता है, जिसमें वायांग के उद्भव एवं विकास का सारा श्रेय पन्द्रहवीं शती ई० के उन्हीं 'वली' नामक सूफी मुस्लिम सन्तों को दिया गया है, जिन्हें रामायण ककविन् का भी रचनाकार स्वीकार किया गया है।[३] जावा के ये रहस्यवादी वली सन्त द्वीप के **पसिसिर** (समुद्रतटवर्ती पूर्वोत्तर) जनपदों में रहते थे। विषयान्तर होने के कारण इस विवादास्पद सन्दर्भ को यहीं छोड़ रहा हूँ।

मुझे आश्चर्य होता है यूरोपीय विद्वानों की समालोचन-क्षमता पर। सारी असंभावनाओं के बावजूद भी प्रो० वेबर तथा विण्डिश ने रामायण-महाभारत को ग्रीक कवि होमर की कृतियों-ईलियड तथा ओडसी-का अधमर्ण स्वीकार किया। संस्कृत **जवनिका** शब्द को स्वार्थप्रेरित भ्रान्तिवश **यवनिका** समझकर, उसे यूनान

---

१. द्रष्टव्य: लिटरेचर ऑव जावा वाल्यूम- १ पृष्ठ २४५ (डॉ० थ्योडोर पिगॉड)

२. इस तथ्य का विस्तृत विवेचन मैंने अपने अन्य निबन्ध में किया है। द्रष्टव्य— जावा तथा बाली की काव्यपरम्परा पर कालिदास का प्रभाव (उज्जयिनी के कालिदास-महोत्सव में पठित, १९८७ ई०)

३. द्रष्टव्य– डॉ० सुवितो सन्तोसो की रामायणककविन्-भूमिका।

के लिये प्रयुक्त **यवन** शब्द से समीकृत कर, संस्कृत नाटकों को भी यूनान से आयातित मान लिया। भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार, अपनी सर्गबन्धता के कारण स्वत:सिद्ध महाकाव्य-कृति **गीतगोविन्द** को प्रो० कीथ ने जबर्दस्ती स्वदेशीय **लीरिक** (Lyric) के साँचे में ढाल कर **गीतकाव्य**जैसी (Lyrical poetry) भ्रामक काव्यविधा को जन्म दिया। जब कि आचार्य अभिनव **रागकाव्य** को तथा आचार्य विश्वनाथ **खण्ड-काव्य** को बहुत पहले ही स्थापित एवं परिभाषित कर चुके थे। अतएव यदि गीतगोविन्द को महाकाव्येतर काव्यविधा मानना ही है तो हम उसे रागकाव्य अथवा खण्डकाव्य ही क्यों न मानें ? उसे **लीरिक** क्यों माने ! न भारत में कभी **लीर** (Ushaped stringed instrument, Oxford) नामक वाद्य रहा, न उसकी धुन पर गीयमान किसी गीत की परम्परा रही।

परन्तु इस तथ्य से सारा संसार अवगत है कि न केवल जावा तथा बाली में, प्रत्युत दक्षिण-पूर्व एशिया के प्राय: समस्त भूखण्डों में भारतीय सम्प्रभुता, धर्म, संस्कृति, साहित्य एवं परम्परा का वर्चस्व डेढ़ हज़ार वर्षों तक अविच्छिन्न स्थापित रहा है। सत्तापरिवर्तन के बावजूद भी वह वर्चस्व पश्चात्प्रभाव अथवा संस्कार के रूप में आज भी विद्यमान है, समस्त दक्षिणपूर्व एशियाई देशों में।

तब फिर जावा के वायांग को भारत से जोड़ने में पाश्चात्त्य विद्वानों को संकोच क्यों होता है ? यदि रामायण जावा के मुस्लिम वली सन्तों ने लिखी, वायांग को वली सन्तों ने ही जन्म दिया (अथवा सब कुछ बली सन्तों ने ही किया १५वीं शती में) तो पिछले डेढ़ हजार वर्षों के जावा के हिन्दू-साम्राज्य में क्या हो रहा था ? क्या लोरो जोगरंग (प्राम्बनान) के भव्य मन्दिर, बोरोबुदुर का विश्वविख्यात अनुपम बौद्ध-स्तूप, पन्तरण का शिवालय तथा सैकड़ों यवभूपतियों के भव्य समाधिमन्दिर भी किन्हीं वली सन्तों की ही देन हैं ? पूर्ववर्ती हजारों काण्ड, पर्व तर्थाककविन् ग्रंथ भी क्या वलियों ने लिखे ?

यदि जावा की वर्तमान मुस्लिम-परम्परा रामायण अथवा वायांग को वली सन्तों की देन मानती है तो वह उसी प्रकार की संकीर्ण दृष्टि है, जैसी प्रो० वेबर तथा

प्रो० विण्डिश की थी—हर भारतीय तथ्य के मूल में यूनान को स्थापित करना। यह दृष्टि स्वार्थ अथवा द्वेषमूलक है। इससे सत्य का अपलाप नहीं किया जा सकता।

वस्तुत: महाकवि पनलुह द्वारा घटोत्कचाश्रय में पनकवन् की अवतारणा, हिन्दूमन्दिरों में वायांग-कुलित के सर्वथा अनुरूप ही शालभंजिकाओं का उत्कीर्णन तथा वायांग-वाङ्मय की समग्र सम्पत्ति का भारताश्रित होना इस स्थापना का सुदृढ़ हेतु है कि जावा में वायांग की परम्परा निस्सन्देह भारत से आई। हाँ सम्भव है कि साहित्य, संगीत एवं कला के पक्षधर सहृदय वली सन्तों ने भी वायांग के प्रचार प्रसार में प्रभूत सहयोग दिया हो। १८वीं तथा १९वीं शती के पुनर्जागरण काल में तो निश्चय ही वायांग तथा ककविन्-परम्परा के संरक्षण-संवर्धन का सारा श्रेय योग्यकर्ता एवं सुराकर्ता की सल्तनत को है।[१] 'जावी वायांग का मूल उत्स, जावा का प्राचीन हिन्दूधर्म, दर्शन, रहस्यवाद एवं साहित्य ही था' यह तथ्य डॉ० पिगॉड भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उसकी **भारतमूलकता** तक उनकी भी दृष्टि नहीं पहुंच सकी। वह भी वली सन्तों को वायांग का आविष्कर्ता तो नहीं परन्तु उनका संरक्षक, उन्नायक तथा परिष्कर्ता अवश्य स्वीकार करते हैं।[२]

बाली तथा जावा का यह वायांग-नाट्य कथावस्तु, प्रस्तुति-शैली तथा पुत्तलिकाओं की विविधरूपता के कारण स्वयं **विराट्** बन गया है। वायांग-कुलित (चर्मपुत्तलिका), वायांग-गोलेक (काष्ठपुत्तलिका), वायांग-वांग (मुखौटाधारी स्त्री-पुरुष पात्र), वायांग बेबेर (वस्त्रपट्टाङ्कित चित्रवीथी) तथा वायांग-क्रुचिल (चिपटी काष्ठ-पुत्तलिकायें) सुवर्णद्वीपीय वायांग-नाट्य के प्रमुख भेद हैं। कथावस्तु की भिन्नता के आधार पर, वायांग का सर्वाधिक लोकप्रिय भेद **वायांग-कुलित** पुन: दो उपभेदो में विभक्त हो गया है—वायांगपूर्व (रामायण-महाभारत कथावृत्त) तथा वायांग-गेडॉग (पाञ्जी प्रेमाख्यान)। ये समस्त नाट्यभेद जावा के सल्तनत-काल

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य लेखक का अन्य निबन्ध–**जावा की वायांगपरम्परा का उद्भव एवं विकास।**

२. Viewed in this light the walis, though not inventors of the wayang, were promotors of a new art and literature. –Lit. of Java p.245.

(१८वीं १९वीं शती ई०) में अभिनय, लेखन, चिन्तन तथा कलात्मक विकास की दृष्टि से पराकाष्ठा पर थे। सुराकर्ता तथा योग्यकर्ता के सुल्तान न केवल शास्त्रनगर तथा सिन्धुशास्त्र सरीखे श्रेष्ठ वायांगलेखकों के आश्रयदाता थे, प्रत्युत स्वयं भी समर्थ वायांग-लेखक तथा लोकप्रिय अभिनेता थे।[१]

यही वायांग-परम्परा बालीद्वीप में भी स्थापित एवं लोकप्रिय हुई। बाली उस युग में भारतमूलक वाङ्मय की सर्जना का गढ़ था। वाङ्मय प्राचीनजावी तथा प्राचीनबाली—दोनों ही भाषाओं में लिखा जा रहा था। वेद, तुतुर (= तत्त्व दर्शन), ककविन्, किडुंग, गेगुरितान्, बाबद (स्थानीय इतिहास) सब कुछ बाली में नये सिरे से रचा जा रहा था। यवद्वीप की सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान-सम्पदा बाली के हिन्दू-साम्राज्य के संरक्षण में पुनः गौरवान्वित हो उठी थी। इसी परिस्थिति में जावा का वायांग, बाली के सहृदय-समाज में प्रविष्ट हुआ और देखते ही देखते लोकप्रियता के शिखर तक जा पहुंचा।

परन्तु बाली, नाट्य से कहीं अधिक नृत्य (लेगांग) एवं संगीत का पोषक रहा। बाली-द्वीप में गमेलन अथवा वाद्यवृन्द (Gamelan, Orchestra) तथा नृत्य का अद्भुत विकास हुआ।[२] प्रायः सत्रह प्रकार के श्रेष्ठ नृत्य बाली में प्रतिष्ठित रहे। जावा की वायांग-परम्परा भी बाली में पहुंच कर, अनेक नृत्यनाटिकाओं के रूप में विकसित हुई। गम्बूह (gambuh), तंत्री (tantri) तथा जुपक् (jupak) आदि बाली की प्रख्यात संगीतनाटिकायें हैं।

जावा तथा बाली के वायांग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कथाभिनय तो पुत्तलिकायें करती हैं और उनके संवाद कोई और बोलता है। यहाँ तक कि **वायांग-वांग** में भी (एकमात्र वायांग-भेद जिसमें स्त्री-पुरुष पात्र कथापात्रों का

---

१. वायांग-विषयक विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य लेखक का अन्य निबन्धः- **जावा की वायांग-परम्परा का उद्भव एवं विकास।**

२. विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य—लेखक का अन्य निबन्धः- बालीद्वीप की रंगमञ्चीय परम्परा-अतीत एवं वर्तमान (नाट्यम्, सागर वि० वि०, सागर)

मुखौटा लगाकर स्वयं अभिनय करते हैं) संवाद अभिनेता नहीं, कोई और ही बोलता है। कथानक के आद्यन्त-निर्बहण तक निरन्तर, भिन्न चरित्र के पात्रों का, भिन्न संवाद, भिन्न हृदय-संवेदनाओं के साथ बोलना, कितना कठिन है? एक ही शृंखला में कालमेघ जैसा गरजना, ठठा कर हँसना, कुररी जैसा करुण विलाप करना तथा विपञ्चीनाद-सरीखा प्रणयभावना-मज्जित कोमल स्वर उत्पन्न करना कितना असम्भव है?

परन्तु जावा तथा बाली के वायांग में इन सारी असम्भावनाओं को सम्भव बनाता है—डलंग। डलंग वायांग की प्राणप्रतिष्ठा है। वायांग (नाट्य) के वाचिक, आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य—चारों ही अभिनय डलंग के व्यक्तित्व में समाहित हैं। वायांग के सामान्य भृत्य से लेकर भूपाल तक; प्रेत-पिशाच से लेकर देवता तक के सारे संवाद, सारी ध्वनियां अकेला डलंग ही प्रस्तुत करता है।

चूंकि विविध दृश्यों में वायांगों (शालभञ्जिकाओं) का सञ्चालन भी डलंग ही करता है, अतएव समस्त पात्रों के आँगिक अभिनय का श्रेय भी डलंग को ही है।[१] पुत्तलियाँ (कुलित, गोलेक अथवा बेबेर) तो निर्जीव होती हैं। वे स्वयं प्रेम प्रदर्शन, लज्जा-ममता-रोष-द्वेष-घृणादि भावों की अभिव्यक्ति अथवा युद्ध क्या करेंगी? परन्तु अपने अद्भुत हस्तकौशल एवं संवादयोग से डलंग ही उन निष्प्राण पुतलियों से सब कुछ सम्पन्न करवाता है। पुतलियों के व्यवहार इतने जीवन्त,

---

१. **बालीद्वीप की रंगमंचीय परम्परा: अतीत एवं वर्तमान** शीर्षक अपने निबन्ध में मैंने यह उल्लेख किया था कि डलंग मात्र संवाद बोलता है, पुतलियों का सञ्चालन अन्य कलाकार करते हैं। यह बात मैंने इण्डोनेशियाई दूरदर्शन पर रामायण तथा सुतसोम की प्रस्तुति देख कर लिखी थी। परन्तु ये प्रस्तुतियां **वायांगवांग** कोटि की थीं। बाद में, वायांग का गहन अध्ययन करने तथा **वायांग कुलित** की अनेक प्रस्तुतियों (रदेन गलुह, समरजय-जयमृत, महापतीह केबो इवो, प्रभु केसरीवर्मदेव आदि) को देखने से ज्ञात हुआ कि संवाद एवं वायांग-सञ्चालन-दोनों कार्य अकेला डलंग ही करता है। अन्य दो सहायक, मात्र वायांगों के आदान-प्रदान से उसकी सहायता करते हैं।

विश्वसनीय तथा हृदयावर्जक होते हैं कि दर्शक उनकी **निस्संज्ञता** का, किसी स्तर पर, अनुभव ही नहीं कर पाता ।

यद्यपि पुतलियों की वेषभूषा तथा रूप-सम्पत्ति का साक्षात् श्रेय डलंग को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उनका निर्माण चतुर चर्म एवं काष्ठशिल्पियों द्वारा किया जाता है । तथापि डलंग एवं वायांग-शिल्पियों की भावभूमि एक होती है । दोनो **वायांग-मिरूड** (नाट्यशास्त्र) तथा **कडलंगान्** (डलंगविद्या) के पारखी होते हैं । हाँ, शिल्पी डलंग जैसा सुशिक्षित विद्वान् एवं शास्त्रमर्मज्ञ नहीं होता । परन्तु रूढ़ियों एवं परम्पराओं का कुल क्रमागत गहन-ज्ञान उसे भी होता है । उसे अच्छी तरह ज्ञात है कि पनकवन् का रूप-रंग-वस्त्राभूषण क्या होगा ? राजा-रानी कैसे होंगे ? भटार (देवता) तथा **देदारी** (= विद्याधरी, अप्सरायें) की क्या आकृति होगी ? जिस तथ्य को डलंग शास्त्रमिरुड के अध्ययन से जानता है— सिद्धान्त रूप में, उसी को वायांगशिल्पी भी जानता है, बाप-दादों की कुल परम्परा से-व्यवहार रूप में । कभी-कभी शिल्पी भी प्रशिक्षित तथा शास्त्रमिरुड एवं कडलंगान ग्रंथों के अध्येता होते हैं ।

मध्यजावा के **मदोगोन्दो** (Madogondo, मधुगन्ध ?) नामक कस्बे के अभिजन वायांगकुलित-शिल्पी श्री जौहर गुनवान् (गुणवान्) इन शालभञ्जिकाओं के प्रख्यात निर्माता हैं । उनकी कर्मशाला (फैक्टरी) में सैकड़ों शिल्पी कार्यरत हैं । फरवरी ८८ ई० में दूरदर्शन पर प्रसारित एक भेंटवार्ता में उन्होंने वायांग-विषयक सारी तकनीक की जानकारी विस्तारपूर्वक दी । उन्होंने स्पष्टतः कहा कि वायांगों की रूपरचना में वे डलंगों की पूरी सहायता लेते हैं, विशेषकर राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान्, रावण, कुम्भकर्ण, परशुराम, सहस्त्रबाहु, पञ्चपाण्डव तथा दुर्योधनादि सरीखे काण्ड (= रामायण) तथा पर्व (= महाभारत) के पात्रों की अनुकृति के सन्दर्भ में । डलंग ही इन पुत्तलिका-निर्माताओं को उनका पौराणिक व्यक्तित्व ठीक-ठीक बताता है । एक बार भीम, अर्जुन, दुर्योधन की आकृति समझ लेने पर शिल्पी निर्मिति में दक्ष हो जाते हैं । पुत्तलिकायें यदि प्रभावी नहीं होतीं तो उनका क्रय भी कठिन हो जाता है ।

इस प्रकार निर्जीव वायांगों के आहार्य अभिनय में डलंग प्रकारान्तर से सहायक बनता है । अब शेष बचा सात्त्विक अभिनय । पुत्तलिकाओं की निर्जीवता के कारण, सभी अर्थों में सात्त्विक-अभिनय की अभिव्यक्ति असंभव प्रतीत होती है । फिर भी अपने कुशल हस्त-संचालन, स्वरसंयोग तथा कण्ठकम्पनादि (glottal stops) क्रियाओं से डलंग निष्प्राण वायांगों से भी अनेक सात्त्विक भावों की अभिव्यक्ति करा लेता है । दर्शकों को उस अभिव्यक्ति का साक्षात् बोध होता है । इस विवरण से, वायांग-प्रस्तुति में डलंग की महिमा-गरिमा का सहज आकलन किया जा सकता है । संवाद, अभिनय, अभिनेता तथा रसबोध—सब कुछ वही है ।

डलंग की परंपरा यवद्वीपीय वायांग में कहाँ से आई ? यह प्रश्न भी अभी तक अनुत्तरित है । महाकवि म्पू पनलुह को पनकवन् पात्रों की प्रेरणा संस्कृत नाटकों के **विदूषक** से मिली होगी, यह मेरी अपनी धारणा है । परन्तु डलंग का सामानधर्मा कोई पात्र, संस्कृत नाटकों में व्यावहारिक-स्तर पर नहीं मिलता । हाँ, सैद्धान्तिक स्तर पर **सूत्रधार** को अवश्य डलंग के समकक्ष माना जा सकता है । समस्त नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में सूत्रधार को महाप्रभावी, समूची नाट्यकथा का प्राणप्रतिष्ठापक तथा पुरोधा माना गया है ।[१] सिद्धान्ततः वह नायक से भी महान् प्रतीत होता है । परन्तु कुछ ही क्षणों में नाट्य की अवतारणा सम्पन्न कर, भरतवाक्य पढ़े जाने तक पुनरावर्तित न होने वाला सूत्रधार अपनी सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा का औचित्य सिद्ध नही कर पाता संस्कृत नाटकों में ।

परन्तु संस्कृत-नाटकों का वही सूत्रधार यवद्वीपीय वायांग में डलंग के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और उसने अपनी सैद्धान्तिक सम्प्रभुता को व्यावहारिक-स्तर पर भी अक्षुण्ण रखा जैसा कि ऊपर **चतुर्विधाभिनय** के सन्दर्भ में निरूपित किया जा चुका है । यद्यपि संस्कृत-नाटकों का सूत्रधार अपनी अत्यन्त संक्षिप्त भूमिका के कारण, वायांग के मेरुदण्डभूत डलंग का समानधर्मा नहीं प्रतीत होता और न ही

---

१. द्रष्टव्य– दशरूपक तथा साहित्यदर्पण में सूत्रधार-लक्षण ।
(सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते)

किसी जावी अथवा पाश्चात्त्य विद्वान् ने डलंग-परम्परा का उदय संस्कृत-नाटकों से माना है, तथापि मेरी दृढ़ धारणा है कि (विदूषकोद्भूत) पनकवन् पात्रों की ही तरह डलंग संस्कृत-सूत्रधार का ही संवर्धित एवं परिष्कृत व्यक्तित्व है । मेरी धारणा के दो पक्ष हैं—

१. संस्कृत नाटकों का सूत्रधार ही जावी-वायांग का डलंग है ।

२. डलंग का व्यक्तित्व-विकास सर्वथा स्वतंत्र रीति से हुआ है ।

डलंग (Dalang) तथा सूत्रदार (Sutradara) दो शब्द मुझे जावी शब्दकोष में मिले । स्पष्टतः इनमें प्रथम शब्द जावीभाषा का तथा दूसरा संस्कृत का (सूत्रधार) है । परन्तु शब्दकोश-निर्माता प्रो० एस्० वोजोवासितो ने अर्थ दोनों का (अंग्रेजी में) प्रायः समान ही दिया है ।[१] इण्डोनेशियन दूरदर्शन पर प्रसारित फिल्मों की परिचायिका में भी मैं प्रतिदिन सूत्रधार (Producer) का नाम पढ़ता हूँ । इस प्रकार, वायांग-प्रस्तुति में डलंग तथा फिल्मों में सूत्रधार शब्द एक ही अर्थ में प्रतिष्ठित हैं । डलंग शब्द से निष्पन्न क्रियापद है-मेण्डलंगकान् (Men-dalang kan) जिसका अर्थ है—निष्पन्न करना, प्रस्तुत करना । इसी प्रकार एक तद्धित-पद भी है—कडलंगान् (Ke-dalang-an) जिसका अर्थ है—डलंगशास्त्र ।

पाश्चात्त्य विद्वान् पिशेल ने पुत्तलिकाओं से संस्कृत-नाट्य की उत्पत्ति मानी थी । उनकी अवधारणा का मूलाधार **सूत्रधार** शब्द ही था, क्योंकि सूत्रसंचालन पुत्तलिकानृत्य में ही प्रभावी होता है । परन्तु पिशेल के मत को भारत में बहुत प्रतिष्ठा नहीं मिली, क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने **सूत्र** शब्द को डोरी से इतर अर्थ में भी व्याख्यात किया था । उनकी दृष्टि में सूत्र का अर्थ था-नाट्य कथा की समग्र-संघटना

---

१. Dalang-Performer of Javanese, Sundanese shades, stage manager. Men-dalang-Kan-to perform, to produce, p. 71 Kamus hangcap
Sutradara–producer, stage- manager. P.269 -do-

और उसी का नियामक होने के कारण सूत्रधार को वह संज्ञा प्राप्त होती है—
वर्तनीय-कथासूत्रं प्रथमं येन सूत्र्यते । आदि

परन्तु यवद्वीपीय वायांग का सूत्रधार (डलंग) पारम्परिक अर्थ में भी सूत्रधार सिद्ध होता है । वह नाट्यकथा की समग्र-संघटना का नियामक तो है ही परोक्ष-रूप में, परन्तु प्रत्यक्ष-रूप में वह शालभञ्जिकाओं के अंगों में बँधी डोरी (अथवा लोहे का तार, वेणु-इषीका) का नियंत्रक भी है । शालभञ्जिकाओं का अपटीक्षेपेण प्रवेश, नृत्य, वाकोवाक्य, हस्ताहस्ति, खमुत्पात तथा धराशायित्व-सब कुछ डलंग के हाथों से सञ्चालित **'सूत्र'** का ही इन्द्रजाल है । तुलनात्मक दृष्टि से वायांग-सूत्रधार का व्यक्तित्व संस्कृत-नाटक के सूत्रधार से कहीं अधिक जटिल, रहस्यमय तथा प्रभावशाली प्रतीत होता है । मेक्सिकन विद्वान् माइकेल कबरूवियास (Micuel Covarrubias) ने भी डलंग को **'रहस्यमय-सूत'** (Mystic storyteller) की संज्ञा दी है ।

डलंग (सूत्रधार) के इस रहस्यमय व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि को भी समझ लेना अवश्यक है, अन्यथा भारतीय सूत्रधार की तुलना में उसे स्पष्टतः **परतर** मानना भारतीय विद्वानों को **श्रद्धातिरेक अथवा अनपेक्षित गौरव** का प्रतिफल प्रतीत होगा । वस्तुतः प्राचीनकाल के जावी हिन्दू-समाज में **वायांग** देवों-पितरों तथा मानवों के बीच **सम्पर्कसेतु** के रूप में प्रतिष्ठित था । वायांग अथवा पुतलियाँ हिन्दू देव-देवियों तथा पितरों का प्रतीक थीं तथा डलंग धर्माचार्य अथवा पुरोहित (Pendeta, Pedanda, Pemangku) का प्रतीक । पुरोहितों द्वारा सम्पन्न वही मूर्ति-उपासना की परम्परा लोकानुरञ्जन के लिये वायांग-प्रस्तुति के रूप में विकसित हुई ।

वायांग की वह धार्मिक पृष्ठभूमि, धर्मपरिवर्तन के अनन्तर, इस्लामी विश्वास, परम्परा एवं धर्मचर्या में आसक्त जावा-द्वीप में आज भले ही देखने को न मिले, परन्तु वह परम्परा बालीद्वीप के हिन्दूसमाज में अभी भी विद्यमान है । बाली में वायांग तथा धार्मिक पर्व, संस्कार एवं कर्मकाण्ड एक दूसरे के पर्याय हैं । जावा का वायांग विशुद्ध सामाजिक मनोरंजन है— खेल-कूद (ओलाह रागा), लोकनृत्य

(तारी-तारियान) तथा फिल्म आदि की तरह। परन्तु बाली का वायांग हिन्दूधर्म एवं संस्कार का एक अनिवार्य अंग है। इसलिये सन्ततिजन्म, शुद्धि संस्कार (Metelubulan, Mewinten) दन्तशोधन (Toothfiling or Metatah) तथा श्राद्ध आदि समस्त अवसरों पर वायांग-प्रस्तुति एक अनिवार्य शर्त है बाली द्वीप में।[१] इसी प्रकार गलुंगान, कुनिंगान, हरी राय न्येपी (नववर्षम-होत्सव), हरी राय सरस्वती (सरस्वतीदिवस) तथा ओडालान-पुरा (मन्दिर-महोत्सव) आदि सामाजिक पर्वों में भी वायांग-प्रस्तुति अनिवार्य है, चाहे उसका-जो भी रूप प्रस्तुत हो—वायांग कुलित, वायांग वांग, वायांग बेबेर अथवा गम्बूह आदि।

धर्मचर्या का अविच्छेद्य अंग होने के ही कारण डलंग की प्रतिष्ठा (हिन्दू यवद्वीप तथा) बाली में सदैव पेडण्डा (धर्माचार्य, पुरोहित) के समकक्ष रही। बल्कि जनता-जनार्दन की दृष्टि में वह पेडण्डा से भी अधिक तेजस्वी, तपस्वी तथा दिव्य शक्ति-सम्पन्न महापुरुष के रूप में मान्य था। क्योंकि जिस कठोर-व्रत का निर्वाह डलंग करता है, सामान्य व्यक्ति के लिए वह सर्वथा असम्भव है।

अब प्राचीन-परम्पराएँ भी परिवर्तित अथवा संशोधित हो गई हैं। बाली में भी अब वायांग विदेशी-पर्यटकों के मनोरञ्जन मात्र के लिये, अपाहिज-शैली में प्रस्तुत किये जाने लगे हैं। थोड़ा वायांग-कुलित, थोड़ा वायांग-वांग, थोड़ा वायांग-वेबेर और फिर अन्त में कोई सरस-मसृण लेगांग (लास्य)। रुचि और स्वाद बदलने के लिये कभी-कभी पेशेवर वायांग-प्रबन्धक तरह-तरह के विजातीय-तत्त्व पारम्परिक वायांग में ठूँसते रहते हैं। डलंग भी अब पेशेवर हो गये हैं। बाली की समूची संस्कृति अब मन्दिरों से हट कर समुद्रतटवर्ती फाइव स्टार होटलों के आस्थान-मण्डप में केन्द्रित हो उठी है-**डॉलर** के लोभ में। डेनपसार नगर की गली-गली में ऐसे वायांग-आयोजकों के कार्यालय हैं जो सीधे पर्यटक-विश्रामगृहों के सम्पर्क में हैं तथा हर रात कुछ न कुछ प्रदर्शित करते हैं। इस व्यापारिक कायाकल्प ने वायांगों का स्वरूप तथा उनकी मूल-भावना (पवित्रता) को समाप्त कर दिया है।

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य लेखक का अन्य निबन्ध– **आस्था से जुड़े बालीद्वीप के हिन्दू संस्कार।**

परन्तु इस दु:स्थिति से पूर्व सब कुछ विलक्षण था। माइकेल कबरूवियास ने अपने ग्रन्थ (१९३७ ई०) में जो प्रत्यक्ष अनुभव लिखे हैं; उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वर्तमान शती के चौथे दशक तक भी वायांग-परम्परा अपनी पृष्ठभूमि, परम्परा तथा पवित्रता से पूर्णत: सम्पृक्त थी। यह सारा विकार इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रताप्राप्ति तथा वैदेशिक-सम्बन्धों की बढ़ोतरी के बाद (१९४५ ई०) ही आया है।

जो स्थिति बाली में थी चौथे दशक में, वायांगों की वही स्थिति जावा में भी थी सल्तनत-काल (१८वीं १९वीं शती ई०) में। वायांग शाम ६ बजे प्रारंभ होकर प्रात: सूर्योदय तक चलते थे। बारह घण्टे की इस **दीर्घयामा-त्रियामा** में सारे दर्शक उठते, बैठते, ऊंघते, सोते, जगते थे। पेलेगोगंन (आर्केस्ट्रा) वादक भी यथावसर दम मार लेते थे। गांग (gong), चेञ्चेंग (chengcheng), तवातवा (tawatawa), कञ्जुर (kenjur), क्लेण्टांग (klentong), सुलिंग (suling) तथा रेबॉब (rebab) आदि सभी वाद्य प्राय: कई होते थे। अत: एक-दो नहीं भी बजे कुछ देर तो कोई अन्तर नहीं पड़ता था।[१]।

परन्तु डलंग का व्रत **क्षुरस्य धारा** जैसा ही निशित एवं दुरत्यय था। वह वायांग के प्रारम्भ से अन्त तक एक आसन[२] से बैठता था। एक महामनस्वी साधक के समान, सारे इन्द्रियार्थों के अनुरोध-विरोध से पराङ्मुख, प्रतिपल सक्रिय, प्रतिपल प्रबुद्ध डलंग सम्पूर्ण समाज को विस्मय-विमुग्ध बना देता था अपने धैर्य, संयम, तपश्चर्या, कला तथा व्यक्तित्व की दिव्यशक्ति से। जनपरम्परा में वह दैवी शक्ति से सम्पन्न एक **महातान्त्रिक** माना जाता था, अन्यथा सारी रात पाल्थी मारे एक आसन से बैठे रहना, मुँह से निरन्तर वायांग-कथानक के संवाद बोलना, हाथों से निरन्तर संवादानुकूल वायांगों का सञ्चालन करना तथा मध्ये-मध्ये ऊबती जनता

---

१. बालीद्वीप के पेलेगोगंन तथा उसके अंगभूत वाद्यों का विस्तृत विवेचन लेखक ने अपने अन्य निबन्ध में किया है। द्रष्टव्य:– बालीद्वीप की रंगमञ्चीय परम्परा-अतीत एवं वर्तमान (नाट्यम् अंक-२१)

२. पाल्थी मारकर (Cross-legged)

को बाँधे रखने के लिये चटपटे प्रहसनों की सृष्टि अथवा **सुलुकों** का गायन करना भला किसके वश का है ?

डलंग का महातान्त्रिकत्व अथवा दिव्य व्यक्तित्व कोरी श्रद्धा का ही परिणाम नहीं था । वह सचमुच महान् साधक, देवोपासक, विविधसंस्कार-सम्पन्न तथा तन्त्र-मन्त्र-प्रक्रिया में प्रगल्भ होता था । डलंग बनने की आकांक्षा से पूर्व ही वह श्रेष्ठ गुरु की संगति में रहकर वेद-वेदांग, तुतुर (= तत्त्वग्रंथ, दर्शन), काण्ड (रामायण), पर्व (पुराण तथा महाभारत), ककविन् (रामायण-महाभारताश्रित काव्य), किडुंग (तेगंहान् छन्दों में लिखित वाङ्मय) तथा गेगुरितान् (मचपत छन्दों में लिखित वाङ्मय) का भरपूर अध्ययन करता था ।[१] चूंकि वायांग कुलित की भी **वायांगपूर्व** (रामायण-महाभारत कथानक) विधा जावा तथा बाली में लोकप्रियता के शिखर पर थी अतएव इन आर्षकाव्यों का अध्ययन वह विशेष मनोयोग से करता था ।

इस प्रभावी शिक्षा के बाद प्रारम्भ होती थी डलंग बनने की दीक्षा । दीक्षा का प्रथम चरण होता था-मविन्तेन (Mewinten) अथवा शुद्धिसंस्कार । इस संस्कार के लिये भारतीय पञ्चाङ्ग के **सर्वार्थसिद्धि अथवा अमृतसिद्धि** जैसा कोई शुभ-योग ढूंढ़ा जाता था । बाली-द्वीप में **वुकु-ताउन** (wuku tahun) अर्थात् सप्ताहानुसारी संवत्सर का प्रचलन है । परन्तु ये **सप्ताह**[२] (wuku) एक से लेकर दस दिनों तक के हैं । उदा० एक दिन के सप्ताह में प्रत्येक दिन **लुआंग** (Luang) है, तीन दिन के सप्ताह में दिनों के नाम क्रमशः पसेह (paseh), वितेंग (beteng) तथा कजंग (Kajeng) हैं । पाँच दिनों के सप्ताह में (पंचवार) मनिस्, पेइंग, पोन्, वगे तथा क्लिवोन (Kliwon) आते हैं । सात दिनों का सप्ताह सर्वथा भारतीय-पद्धति के अनुकूल है- (redite अर्थात् आदित्य), सोम, अंगार (मंगल), बुड (बुध), व्रस्पति (वृहस्पति), शुक्र तथा शनैश्चर । सप्ताह के दिनों की यह संख्या दस तक गई है । परन्तु व्यवहार में भारतीय -पद्धति का सप्ताह ही प्रतिष्ठित है ।

---

१. इन छन्दों की विस्तृत समालोचना के लिये द्रष्टव्य लेखक का अन्य निबन्ध– जावा तथा बाली की कविता में छन्दोविधान (गंगानाथ झा विद्यापीठ पत्रिका, इलाहाबाद)

२. यहाँ सप्ताह रूढ़ अर्थ में है, न कि **सात दिन** के अर्थ में ।

तीस सप्ताहों का एक बाली-संवत्सर होता है। अर्थात् ३०X७ = २१० दिनों का। एक से लेकर दस दिनों के सप्ताह, एक ही साथ, अनवरत चलते रहते हैं। हाँ, सामान्य जनता को मात्र सप्तदिवसीय सप्ताह का ही बोध होता है। शेष सप्ताहों की गणना केवल पंचाङ्गों (वार्ता हिन्दूधर्म) से जानी जा सकती है। ज्योतिर्विद् पेडण्डा तथा विद्वज्जन ही उन सूक्ष्मताओं से परिचित होते हैं, क्योंकि अन्य सप्ताहों के दिनों का महत्त्व शुभयोग-निर्माण की ही दृष्टि से होता है। बच्चे को दूध भी छुड़ाना हो तो महिलायें शुभयोग ढूँढ़ती हैं।

जब त्रिदिवसीय सप्ताह का **कजंग** तथा पञ्चदिवसीय सप्ताह का **क्लीयोन** सप्तदिवसीय **शनैश्चर** से समन्वित हो जाय, अर्थात् तीनों दिन इकट्ठे हो जायें तो तो वह किसी भी कार्य के लिये **सर्वोत्तम-योग** बनता है।[१] ऐसे ही दुर्लभ योग में डलंगपदाभिलाषी व्यक्ति का मविन्तेन सम्पन्न होता है। शुद्धि के अनन्तर पुरोहित (पेडण्डा) चम्पक-पुष्प के वृन्त से, मधु में डुबो-डुबो कर दीक्ष्य व्यक्ति की जिह्वा पर मंत्राक्षर उत्कीर्ण करता है (जो संस्कृत मंत्रों जैसे ही हैं, परन्तु प्राचीन बाली भाषा में हैं)।

इस संस्कार की पूर्ति के बाद ही वह **जलोनरंग** नामक मंत्रशक्ति एवं तंत्राभिचार की पीठिका पर आश्रित नृत्यविशेष में भाग लेता है। अब वह पेडण्डा द्वारा शिखाबन्धनोपयोगी तथा भारतीय यज्ञोपवीत की **ब्रह्मग्रंथि** जैसे ही ग्रथिल एक रक्षासूत्र से अलंकृत किया जाता है—अनेक कर्मकाण्डीय औपचारिकताओं के साथ।

फिलहाल, डलंगीकरण की सांस्कारिक औपचारिकतायें यहीं समाप्त हो जाती हैं। परन्तु डलंग की साधना, देवाराधना, तपश्चर्या तथा दिव्यशक्तिप्राप्ति की तंत्रमंत्र प्रक्रिया तो तब तक चलती है, जब तक उसे अपनी पूर्णता का बोध नहीं हो

---

१. पञ्चागविषयक इन सूक्ष्मताओं को स्पष्ट करने के लिये लेखक श्रेष्ठ ज्योतिर्विद ई० केतूत् बम्बाङ्ग ग्दे रवि तथा अपने दुभाषिया मित्र वायान् रेदिग के प्रति आभारी है। तुम्पाक वायांग (Tumpak wayang) नामक पूरा एक सप्ताह ही बाली में नाट्य को अर्पित है। यह पर्व अभी २ अप्रैल ८८ को समाप्त हुआ है।

जाता। अनेक प्रारंभिक वायांगों में लजाते, शरमाते, लड़खड़ाते तथा त्रुटियाँ करते, एक दिन वह पूर्णता के शिखर पर पहुँच ही जाता है।

तपस्वियों, साधकों, विद्वानों तथा कलाकारों की कोई औपचारिक परीक्षा तो होती नहीं, सहृदय-समज्या अथवा लोक ही उनके अधरोत्तरत्व का साक्षी एवं निर्णेता होता है। डलंग की प्रतिष्ठा का भी यही मानदण्ड है। प्रभाव वाणी, हास-परिहास, चाटूक्ति-काकुसमन्वित वचोभङ्गी, वायांग-कथानक (संवाद) पर पूर्ण प्रभुत्व, सुदर्शन व्यक्तित्व, तंत्रमंत्रसाधना का नैपुण्य और अन्ततः अपनी कला की सम्प्रेषणीयता से सामाजिकों को अश्रुविगलित कर देने की क्षमता—ये डलंग की लोकव्यापी कीर्ति के कुछ पहलू हैं। इसी कीर्ति के आधार पर डलंग को आमंत्रण मिलते हैं और ऐसे ही महायशा डलंग के आने के समाचार से वायांग-दर्शकों की भीड़ भी उमड़ती है। प्रायः ऐसे महान् कलाकार देखते ही देखते **देवपुरुष** (मिथकीय) बन जाते हैं। अनेक किंवदन्तियाँ भी उनकी वास्तविक महिमा, गरिमा के साथ जुड़ जाती हैं और वह अपने जीवनकाल में ही सामान्य से **असामान्य** बन जाता है।[१]

डलंग बनने का संकल्प, संकल्पपूर्ति के प्रयास, मविन्तेन आदि के क्रम में ही व्यक्ति इतना चर्चित हो जाता है कि उसके नवीन प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा नहीं रह जाती। सहृदय-समाज तो बस उसकी व्यावहारिक प्रयोगयोग्यता, उसकी अन्तःसारा डलंगकला को देखने और मूल्याङ्कित करने के लिये उत्कण्ठित रहता है। प्रथम वायांग में ही उसकी भावी सम्भावनाओं को कला-वैकटिक आँक लेते

---

१. बालीद्वीप के सर्वश्रेष्ठ डलंग श्री ईदा बागुस ङुराह की मृत्यु १९८३ ई० में हुई। वह बुदुग (Budug) के निवासी थे। वह एक उद्भट तांत्रिक एवं विद्वान ब्राह्मण थे। जीवित डलंगों में अब सर्वश्रेष्ठ हैं— ईदा बागुस बोंकेस्। वह भी बोंकेस् गाँव के निवासी (गियान्यार रिजेंसी) एक विद्वान् ब्राह्मण हैं। परन्तु अतिशय वृद्ध हो जाने के कारण अब वह सक्रिय नहीं हैं। एक युवा डलंग से मेरी भेंट प्रो० बागुस् की माँ के श्राद्ध संस्कार में हुई थी। दूरदर्शन पर तो प्रायः प्रतिसप्ताह जावा के डलंगों की कला देखता रहता हूँ।

हैं। यदि सचमुच उसमें प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की सांस्कारिक तथा प्रयत्नसाध्य स्थेमा है तो लोकप्रियता के शिखर पर आरूढ़ होने में समय नहीं लगता। युवा डलंग भी कभी-कभी जरठों को अपनी विलक्षण कला से न्यग्भूत देता है।

वायांग-वांग में तो डलंग तथा पेलेगोगंन (आर्केस्ट्रा) के सदस्य-सभी जवनिका के बाहर, दाहिने पार्श्वमें बैठते हैं। इस नाट्य में मुखौटा लगाये, पौराणिक पात्र (स्त्री-पुरुष) स्वयं मञ्च पर अभिनय करते हैं—आङ्गिक, सात्त्विक तथा आहार्य। केवल संवाद, उनकी बजाय डलंग बोलता है। डलंग-प्रस्तुत संवादों के संवेदनात्मक उतार-चढ़ाव तथा अट्टहास, कण्ठावरोध व्यक्ताव्यक्त क्रन्दन एवं अन्य मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों की वाचिक अभिव्यक्तियों के साथ वायांगवांग के मंजे कलाकारों का ऐसा अद्‌भुत ताल-मेल होता है कि यदि डलंग प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होता तो जान पाना सर्वथा असम्भव होता कि संवाद कोई और बोल रहा है। **डब** की गई फिल्मों में प्राय: हम देखते हैं कि संवाद तो समाप्त हो गया (जो किसी और ने ब्रोला था) और अभिनेता या अभिनेत्री का मुंह अभी भी खुला है। कभी-कभी पात्र का मुंह दो-एक क्षण पूर्व ही खुल जाता है और संवाद विलम्ब से प्रारंभ हो पाते हैं। बहरहाल प्रयोग की कृत्रिमता ज्ञात हो जाती है। परन्तु मैंने डेनपसार के अर्धचन्द्र रंगमंच (क्षीरार्णव संस्कृति केन्द्र) पर सम्पन्न रामायण का दूरदर्शन-प्रसारण पिछले वर्ष देखा।[१] डलंग के अट्टहास तथा लंकापति रावण की समानुपातिक अट्टहासानुकृति में तिल-तिल साम्य देख मन विस्मय से भर उठा। यह सारा नैपुण्य अहर्निश अभ्यास का परिणाम है।

परन्तु पुत्तलिकाओं के माध्यम से प्रस्तुत वायांग-प्रयोगों में डलंग जवनिका के पीछे बैठता है। जवनिका श्वेतवस्त्र की तथा नातिसान्द्र होती है, ताकि पुतलियों की आकृति सरलता से जवनिका के उस पार (जहाँ दर्शक बैठे हैं) प्रतिबिम्बित हो सके। डलंग जवनिका से प्राय: दो फुट पीछे किन्तु बीचोंबीच बैठता है, ताकि नायक

---

१. यह प्रसारण १९८७ के अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर महीनों में प्रति रविवार को किया गया था।

एवं खलनायक—दोनों ही पक्षों के पात्रों को उपस्थित होने के लिये समान अवकाश प्राप्त हो सके। डलंग के दायें-बायें दो काष्ठमञ्जूषाएं रखी रहती हैं। दायें भाग की मञ्जूषा में नायकपक्षीय तथा बायें भाग की मञ्जूषा में खलनायकपक्षीय पुतलियाँ रखी रहती हैं। दोनों ओर डलंग के दो सहायक बैठते हैं, जो कथानक के घटनाक्रम से पूर्णतः परिचित होते हैं। नाट्यारम्भ से पूर्व ही दोनों सहायक उसी क्रम को दृष्टि में रख कर पुतलियों की आनुपूर्वी बना लेते हैं ताकि डलंग के संकेत मात्र करते ही वे सम्बद्ध-पुत्तलिका उसे थमा सकें। यह सारा दृश्य शल्यक्रिया में लगे डॉक्टर तथा सहायक नर्सों जैसा प्रतीत होता है।

जवनिका के ठीक पीछे तथा डलंग का पुरोवर्ती भाग कदली-स्तम्भ के फलकों से मढ़ा होता है। उन्हें बाँस की पट्टियों तथा लोहे की कीलों से मञ्च पर टाँक दिया जाता है। जिन वायांगों को किसी दृश्यमें कुछ देर तक उपस्थित रहना होता है, डलंग उन्हें इन्ही नरम कदली-फलकों में गाड़ कर खड़ा कर देता है। पुतलियाँ मोटे महिषचर्म (कुलित) या काष्ठ (गोलेक) से निर्मित होती हैं। वायांगकुलित के दोनों हाथ बाहुमूल तथा कुहनी-केन्द्रों पर जुड़े रहते हैं। अतः तार के उठाने-गिराने से वे सरलता-पूर्वक अभिनयशैली में उठते-गिरते हैं। शेष आकृति एवं सज्जा वर्णों एवं वस्त्राभूषणों के प्रयोग से सम्पन्न हो पाती है। वायांगकुलित (Leather puppet) के पृष्ठभाग में बीचोंबीच एक आधारदण्ड दृढ़ता से कीलित रहता है, जिसका निचला सिरा नुकीला होता है और निष्प्रयास केले के गूदे में धँस जाता है।

वायांगकुलितों में केवल पनकवन् (बाली में परेकान्) पात्र ही ऐसा है, जिसका निचला जबड़ा भी **जोड़** (Joint) पर टिका होता है। अतः यह पात्र होंठ को (निरर्थक) हिला कर वाचिक अभिनय को और अधिक जीवन्त बनाता है। अन्य पात्रों का अभिनय केवल हस्तसञ्चालन तथा डलंग द्वारा कार्यान्वित समूची देह के पतनोत्प्लवन आदि पर आधारित होता है।

वायांगगोलेक में भुजाओं के साथ-साथ शीर्ष भी गतिशील होता है। ये सभी अंग अन्तर्वर्ती रन्ध्रों में पड़े तार एवं सरिया से सन्नद्ध होते हैं, अतः निचला

छोर जरा-सा घुमाया नहीं कि सिर दायें-बायें घूम जाता है और अभिनय को अत्यन्त जीवन्त बना देता है। आधारदण्ड वायांग गोलेक में भी कुलित जैसा ही होता है। एक और विशेषता है, वह यह कि **वायांगकुलित** चिपटी होने के कारण मुखाकृति का केवल एक भाग (एक आँख, एक कपोलमण्डल, एक कर्णपाली) प्रदर्शित कर पाती हैं,[१] परन्तु काष्ठनिर्मित होने के कारण **वायांगगोलेक** सम्पूर्ण मुख एवं शरीर को प्रदर्शित करती है।

वायांगबेबेर इन दोनों से भिन्न है। वस्तुत: वायांगबेबेर कथानक के विविध दृश्यों का चित्राङ्कन है— वस्त्रपट्ट पर। डलंग **बाईस्कोप** की तरह क्रमश: एक-एक दृश्य के संवाद बोल कर कथा को आगे बढ़ाता चलता है। इस विधा में भी जवनिका का प्रयोग नहीं होता है। सब कुछ प्रत्यक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

वायांग कुलित में डलंग के ठीक ऊपर प्रकाश (बिजली का बल्ब अथवा उल्टी टंकी की **गेस**) की व्यवस्था होती है, कुछ इस शुल्वसूत्रीय प्रयत्न के साथ कि वायांगों की भरपूर चटक परछाई जवनिका पर पड़ सके। डलंग के पीछे बैठते हैं, पेलेगोंगन के सदस्य तथा महिलापात्रों का **सुलुक** गाने वाली महिलायें। इन सारी व्यवस्थाओं के बाद ही प्रारंभ होता है— वायांग कुलित।

खुले रंगमण्डप में वायांग कुलित का प्रदर्शन होता है। मन्दिर का प्रवेशद्वार, प्रशस्त नगर-वीथी अथवा कोई भी सपाट क्रीड़ाङ्गण हो— वायांगप्रयोग सर्वत्र बड़ी सुविधा से सम्पन्न हो जाता है। बच्चे तथा महिलायें आगे बैठते हैं तथा बड़े-बूढ़े पुरुष पीछे। सम्बुद्ध, सुशिक्षित सहृदय जवनिका के दोनों पार्श्वों में ऐसी स्थिति में बैठाये जाते हैं, ताकि वे पर्दे पर पड़ते वायांग-प्रतिबिम्बों को भी देख सकें तथा पर्दे के पीछे डलंग के वायांग-कौशल को भी। इसप्रकार विशिष्ट सहृदयों के लिये वायांग-कुलित में **दुहरे-आनन्द** की व्यवस्था की जाती है। प्रयोग की सूक्ष्मता का यह सन्दर्भ अभी और व्याख्या-सापेक्ष है, परन्तु विस्तारभय से इसे यहीं छोड़ रहा हूँ।

---

१. कभी-कभी रंगों के प्रयोग से वायांग-कुलित के दोनों पार्श्वों को पूर्ण आकृति में ढाला जाता है।

सुलुक-गायन का सन्दर्भ पिछले अनुच्छेदों में कई बार आया। **सुलुक** क्या है ? इस सन्दर्भ में थोड़ी सामग्री प्रस्तुत करना चाहूंगा, पूरी भूमिका के साथ !

वस्तुत: पूर्व-इस्लामयुगीन वायांग का विवरण जावा में **नहीं** के बराबर उपलब्ध होता है। न उसका कोई विशिष्ट साहित्य था और न ही शास्त्रीय व्यवस्था। सब-कुछ मौखिक-परम्परा पर आश्रित था। डलंग का पद भी आनुवंशिक था। अपने जीवनकाल में ही डलंग अपने पुत्र (अथवा शिष्य) को सारा वायांग-वाङ्मय (Wayang texts), वायांग के नियम, प्राविधिक वैशिष्ट्य एवं पेचीदे-रहस्य समझा-बुझा देता था। इस प्रकार, प्राचीन भारत की वेदसंरक्षण-परम्परा के ही समान जावा की वायांग-परम्परा भी डलंगों के स्तुत्य अध्यवसाय से अक्षुण्ण रही। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य, जैसा कि पहले निरूपित किया जा चुका है, यह था कि इस्लामीकरण से पूर्व जावा का वायांग एक विशुद्ध धर्म-व्यवस्था का अंग—वायांग के माध्यम से भटारों (देवों), भटारियों (देवियों) तथा संघयांग कवितानों (पितरों, मृतात्माओं) को अपने बीच में लाने का उपाय था। यही कारण है कि डलंग का व्यक्तित्व पेडण्डा (पुरोहित) के ही समकक्ष प्रतिष्ठापूर्ण माना जाता था।

इस्लाम का प्रभाव चारों ओर निरन्तर बढ़ रहा था। पारस्परिक वैर-विद्वेष एवं धार्मिक (शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि) असहिष्णुता के कारण बृहत्तर भारत के हिन्दू उपनिवेश, अपने स्वर्णिम वर्तमान को अतीत की स्मृतियों में डुबोते, एक-एक कर पददलित होते जा रहे थे। कालचक्र की इसी वात्या में, १४७८ ई० में हुए भीषण संग्राम में पूर्वी जावा का विशाल मजपहित-साम्राज्य भी विध्वस्त हो गया। सम्राट् मारा गया[१] तथा भावी सम्राट् (पुत्र) भाग खड़ा हुआ—बाली द्वीप में।

छोटी-मोटी रियासतों के अधिकार-वञ्चित शहज़ादे **सुल्तान** बनाये जाने का आश्वासन पाते ही स्वेच्च्छा-पूर्वक इस्लामधर्म में दीक्षित हो गये। राजा के इस आचरण से, प्रजा भी स्वेच्छा अथवा भय-आतंक से इस्लाम के रंग में रंग उठी।

---

१. एक परम्परा के अनुसार विद्वान् राजगुरु से भावी-विनाश की घोषणा सुन, आतंकित नरेश ने स्वयं को (आक्रमण से पूर्व ही) जीवित जला लिया।

कुछ मुट्ठी भर निष्ठावान् हिन्दू या तो प्राण हथेली पर लेकर जावा में रह गये या फिर **अभयारण्य** मान कर बालीद्वीप में भाग आये। इन सारे उद्दाम राजनयिक परिवर्तनों के बावजूद भी पजाजरन् का हिन्दू-साम्राज्य **सुण्डकल्प** (जकार्ता, १५वीं शती की संज्ञा) में अभी भी अवशिष्ट था। पुर्तगालियों से उसके सुदृढ़ सम्बन्ध थे। परन्तु १५२७ ई० में देमाक-सुल्तान के जामाता फतहिल्लाह के दुस्सह आक्रमण ने इस अन्तिम दीप को भी बुझा दिया। पजाजरन्-विजय के उपलक्ष्य में राजधानी का नाम भी बदल कर **जयकर्ता** (जकार्ता) कर दिया गया।[1]

इस प्रकार १६वीं शती के प्रथम-चरण में सम्पूर्ण जावा इस्लाम धर्म, दर्शन तथा जीवनपद्धति के प्रभाव में आ गया। वातावरण सामान्य होते-होते पूरी शती (१६वीं) बीत गई। इस बीच जावा में दो महान् राजशक्तियाँ उभरीं-योग्यकर्ता एवं सुराकर्ता नगरों में। दोनों राजवंशों के सुल्तान अत्यन्त कलाप्रेमी, उदार एवं विद्वान् थे।

इन्हीं दो साम्राज्यों के संरक्षण में जावा में **साहित्यिक पुनर्जागरण** का सूत्रपात हुआ। प्राचीन जावी (कवि) का वाङ्मय, इस्लामीकरण के बावजूद भी लोकप्रियता के शिखर पर था। रामकथा जन-जन के हृदय में थी। अर्जुन अभी भी **पाञ्जी** (प्रेमाख्यान) के सर्वाधिक वाञ्छित भुवन-मोहन **नायक** थे। इस साहित्य सातत्य के रहते हुए भी भाषा में अब संस्कृत के स्थान पर अरबी-फारसी का वर्चस्व स्थापित हो गया था। न प्राचीन दुर्धर्ष कवियों जैसे छन्दोविचिति के पारग थे अब और न ही संस्कृतज्ञ। फिर भी प्राक्तन-वाङ्मय की नवीकृत सर्जना का अभियान दोनों ही दरबारों में प्रारम्भ हुआ। इस कृत्रिम कवि-भाषा को (जिसके संस्कृत छन्द पूर्वकवियों के समान शुद्ध नहीं थे और न भाषा ही उतनी परिनिष्ठित थी) **कविमिरिंग** (Kawi Miring) कहा गया।

---

१. सत्रहवीं शती में पुनः पुर्तगलियों ने नगर को जीता तथा उसे **बटाविया** की संज्ञा दी। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापानियों ने इसे अपने अधिकार में कर लिया तथा संक्षिप्त नाम **जकार्ता** रखा।

१८वीं तथा १९वीं शती, जावा में नवीन साहित्यसर्जना का सुवर्णयुग था। म्पू योगीश्वर के रामायणककविन् के समकक्ष नव्य जावी भाषा (New Jawanese) में यशादिपुर प्रथम द्वारा **सिरत राम** (अथवा सिरत काण्ड) की रचना सुराकर्ता के शासक पाकु भुवन तृतीय के संरक्षण में की गई। प्राय: समस्त पुराने प्रख्यात ककवीनों के नये संस्करण तैयार किये गये।[१] जैसे प्राचीन ककवीनकारों को **म्पू** (सन्त अथवा ऋषि) कहा गया है, वैसे ही सल्तनतकालीन इन श्रेष्ठ रचनाकारों को भी **पुजंग** (Pujangga) कहा गया।

परन्तु सल्तनतयुग में ककविन् से भी कहीं अधिक पल्लवन वायांग का हुआ। वायांग इस युग का सर्वश्रेष्ठ, समर्थतम, हृद्यतम तथा श्रेष्ठ हृदय-संवाद का माध्यम था। गोकि सत्तापरिवर्तन के साथ उसकी धार्मिक पृष्ठभूमि जाती रही। अब वह लोक-परलोक, मर्त्य-अमर्त्य, पृथ्वी-स्वर्ग, भूपति-विडौजा अथवा व्यक्त-अव्यक्त (Microcasm-Macrocasm) के बीच का **सेतु** नहीं रहा, प्रत्युत **सद्य: परनिर्वृति** का माध्यमभूत एक लोकप्रिय उपाय बन गया।

वायांग का यह रूप भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। इसी रूप की दृढ़ व्यवस्था सल्तनतयुग में की गई अनेक स्रोतों से—**कडलंगान्** अर्थात् डलंगशास्त्र तथा वायांग सुलुक, वायांग-कविन् वायांगकाव्य, वायांगगद्य द्वारा। बाली में अभी भी (१८वीं शती ई०) यह परम्परा मौखिक ही थी।[२]

---

१. यशादिपुर प्रथम एवं द्वितीय (पिता-पुत्र) की समन्वित कृति **ब्रतयुद** (म्पू सेडाहप्रणीत भारतयुद्धककविन् १२वीं शती ई०), मिन्तराग (सुल्तान पाकुभुवन तृतीय द्वारा १७७८ ई० में प्रणीत तथा यशादिपुर द्वारा पृथक् रूप में प्रणीत), म्पू कण्वप्रणीत अर्जुनविवाह (१०३५ ई०) पर आश्रित कृति है। म्पू तन्तुलर-प्रणीत अर्जुनविजयककविन् (१४वीं शती ई०) के भी दो नये संस्करण किये गये– अर्जुनसस्रबाहु (यशादिपुर द्वितीयकृत) अर्जुनसस्रबाहु अथवा लोकपालककविन् (सिन्धुशास्त्रप्रणीत, पाकुभुवन सप्तम का राजकवि), कविमिरिंग की कृतियों के ये दिङ्मात्र निर्देश हैं।

२. द्रष्टव्य:– डॉ० पिगॉडकृत लिटरेचर ऑव जावा- पृ० २०४.

जावा तथा बाली के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ कि डलंग की सम्पूर्ण गतिविधियों को शास्त्रीय स्तर पर उपनिबद्ध किया गया। डलंग-पद की योग्यता, डलंग बनने के उपाय, डलंग की शिक्षा, अभ्यास, वैदुषी, कलावत्ता तथा अन्य सारे सम्बद्ध तथ्यों को **कडलंगान्** शास्त्रग्रन्थों में संग्रहीत किया गया। फलत: डलंगपद अब रहस्यमय, दुर्लभ तथा दुष्प्राप्य न होकर सर्वजन-सुलभ हो गया। उसकी **आनुवंशिकता** भी जाती रही। डलंगशास्त्र का अध्ययन कर, कोई भी व्यक्ति अब 'डलंग' बन सकता था।

अभी तक वायांग के कथानक (संवाद) भी मौखिक-परम्परा पर ही आश्रित थे। परन्तु सल्तनत-काल में वायांग-ग्रंथों की भी भरपूर संरचना हुई। ये रचनाएँ पद्य में भी थीं। जैसे-अर्जुनप्रलब्ध (तेंगहान् छन्द), कुन्तीयज्ञ (तेंगहान् छन्द), चन्द्रभैरव (तेंगहान् छन्द), भीमस्वर्ग, पूर्वसंगर तथा दश पाण्डव आदि (मचपत छन्द)।

वायांग-ग्रंथों की संख्या भूयसी है-वायांगभेदों के कारण। वायांगपूर्व, वायांग गेदॉग, वायांग गोलेक, वायांग वांग, वायांग बेबेर तथा वायांग क्लितिक-सबके गद्यात्मक एवं पद्यात्मक ग्रंथों की अहर्निश संरचना हुई। फलत: जावा का वायांगवाङ्मय अत्यन्त विशाल है। प्रस्तुत निबन्ध में इस विवरण की प्रासंगिकता मात्र इतनी ही है कि सबकी प्रस्तुति का दायित्व डलंग को ही प्राप्त है।

जब जावा तथा बाली में वायांग मौखिक परम्परा पर आश्रित था, तब डलंग प्राय: दृश्य-परिवर्तनों अथवा संवेदनात्मक मर्मस्पर्शी स्थलों पर **गीत** प्रस्तुत करता था। ये गीत प्राय: कथानक की भावसंवेदना के पोषक, प्राचीन ककवीनों (रामायण, भारतयुद्ध, अर्जुनविवाह, कृष्णायन, सुमनसान्तक, स्मरदहन, लुब्धक, चक्रवाकदूत, घटोत्कचाश्रय आदि) के चार-छह श्लोक होते थे। उदा० यदि वायांग के नायक-नायिका का विछोह-सन्दर्भ है तो डलंग रामायण ककविन् के राम-विलाप अथवा सीता-विलाप अंशों को गाता था।

गीतों की यह परम्परा संस्कृत एवं यूरोपीय रंगमंच[१] के अनुकूल ही है। संस्कृत नाटकों में भी कवियों ने मर्मस्पर्शी स्थलों पर ही पद्य प्रयुक्त किये हैं। कथा का विकास तो कवि संवादों से करता है। परन्तु रूपसौन्दर्य की अभिव्यक्ति, शाश्वत सत्य की देशना, प्रकृति की रमणीयता अथवा अन्य कोई भावुक-सन्दर्भ आते ही वह संवाद की अधित्यका से लयवाही, संवेदनक्षम पद्य (श्लोक) की उपत्यका में उतर आता है। गद्यात्मक नाटक में पद्य का प्रयोग शैली का अंग नहीं होता बल्कि कवि की समग्र अन्तश्चेतना का अभिव्यक्ति-बिन्दु होता है। चम्पू में भी गद्य के साथ पद्य का प्रयोग होता है, परन्तु वह सुष्वाप की एकरसता का अपनोदन करने के लिये बदले गये **करवट** के समान होता है। वह शैली का अंगमात्र है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त वही श्लोकपरम्परा जावा तथा बाली में **डलंग का सुलुक्** बनकर उभरी। परन्तु आश्चर्य है कि डॉ० पिगॉड **सुलुक** की पृष्ठभूमि खोजने में हैरान होते हुए भी **श्लोक** तक नहीं पहुँचे।[२] उन्हें तो यह भी निश्चय नहीं है कि **सुलुक परम्परा** प्राक्-इस्लामयुगीन है भी या नहीं? यह भ्रान्ति संस्कृताज्ञान के कारण है। उनकी यह धारणा कथमपि मान्य नहीं है कि जावा के वायांगों में गाये जाने वाले सुलुक प्राचीनजावी के ककवीनों से नही **कविमिरिंग**(नव्यजावी में लिखित ककवीनों) से लिये जाते थे। वस्तुत: सुलुक शब्द **श्लोक** का ही अपभ्रंश है।

---

१. विलियम शेक्सपियर के नाटकों में भी यह गीत-परम्परा है। **ऐज़ यू लाइक इट** नाटिका में प्रवञ्चक भाई द्वारा राजसत्ता से च्युत एवं निर्वासित ड्यूक शीतकालीन झंझा के झकोरों से पीड़ित होकर मर्मस्पर्शी गीत गाता है—Blow blow thou winter wind
Thou art not so unkind
As man's ingratitude आदि।

२. It is not known whether this tradition reaches back to pre Islamic times, for old descriptions of wayang performances are very brief. —Literature of Jawa. p.२३८.

सुराकर्ता की वायांग-परम्परा में इन मर्मस्पर्शी गीतों को **सुलुक** तथा योग्यकर्ता की परम्परा में **कविन्** (Kawins) कहा गया। कविन्-वायांग (Kawin Wayang) तथा सुलुक-वायांग (Suluk Wayang) के नाम से अनेक संग्रह १८वीं शती में तैयार किये गये, जिनसे डलंग का कार्य और सरल तथा सुव्यवस्थित हो गया। अब डलंग को यह सुविधा हो गई कि किस संदर्भ में कौन सुलुक प्रस्तुत किया जाय ?

वायांग ग्रंथों तथा सुलुक-संग्रहों के अतिरिक्त ऐसे ग्रंथ भी इसी समय तैयार किये गये, जो वायांग के समस्त तत्त्वों से युक्त थे। इन ग्रन्थों में वायांग का विवरण, मञ्चव्यवस्था, पेलोगोगंन तथा अन्यान्य रंगकर्म-सूचनाओं के साथ ही साथ वायांग कथानक के सम्पूर्ण संवाद भी दिये गये। यथास्थान **सुलुकों** तथा डलंग द्वारा प्रस्तूयमान हास-परिहास (Jokes) को भी दिया गया। पनकवन् पात्रों के कथानुषंगी हास्य संवादों से लेकर उनके रंगावर्जनक्षम **भदेसों** को भी यथापेक्षित प्रस्तुत किया गया संक्षेप में। ये ग्रन्थ महाविराट् वायांग के **सम्पूर्णरूप** (Complete manual) थे। इनकी सर्जना का क्रम प्रारंभ होने पर पृथक् वायांगग्रन्थों (Dramatic texts) अथवा सुलुकसंग्रहों की अपेक्षा ही जैसे समाप्त हो गई। ये ग्रंथ वायांग के सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों पक्षों में समन्वित थे।

इन ग्रन्थों को जावा में **पाकिम** (Wayang Manuals) कहा गया। प्रत्येक विधा के वायांग (वायांग-पूर्व, वायांग गेदॉग आदि) के इतिवृत्तों (texts) से युक्त ये पाकिम-ग्रंथ सुराकर्ता तथा योग्यकर्ता की सल्तनतों में पृथक् रूप से तैयार किये गये। दोनों प्रस्थानों की अपनी विशेषतायें थीं। उदाहरणार्थ योग्यकर्ता की वायांग-परम्परा पनकवन् पात्रों की संख्या चार मानने के कारण (सिमर, गरेंग, पेत्रुक्, बगोंग) सुराकर्ता की वायांग परम्परा की तुलना में अधिक लोकप्रिय थी, जो पनकवन् की **तिकड़ी** का समर्थन करती थी (सिमर, नलगरेंग तथा पेत्रुक्)। इस मतभेद के बावजूद भी सुराकर्ता दरबार का वायांग प्रस्थान अपनी मौलिकता, परिष्कृत अभिरुचि आदि के कारण जावा में कुछ अधिक ही प्रतिष्ठित था।

वस्तुत: जैसे वेद की शाखायें-प्रशाखायें ऋषियों-महर्षियों के मौलिक पृथक् चिन्तन से उद्भूत हुई, ठीक उसी प्रकार वायांग का उत्तरोत्तर- विकास भी प्रतिभा शाली डलंगों के प्रयास से हुआ। पनकवन् पात्रों की तिकड़ी अथवा चौकड़ी भी डलंगों की ही देन थी। दोनों सल्तनतों के **पुजंगों** का चिन्तन पृथक् था।

परन्तु बाली के डलंगों ने जावा की दोनों परम्पराओं को पीछे छोड़ दिया। जावी-वायांग में पनकवन् केवल नायकपक्षीय पात्र थे, तीन या चार की संख्या में। परन्तु धर्मप्राण बाली के डलंगों ने पूरी व्यवस्था ही बदल दी। बाली में इन पात्रों को **परेकान्** (parekan) कहा गया। परन्तु ये नायक तथा खलनायक— दोनों के सहायक रूप में कल्पित किये गये, धर्म तथा अधर्मपक्षधर के रूप में। **त्वालेन** (Twalen) तथा उसका पुत्र **मरदह** (Merdah) तो नायकपक्ष के परेकान् थे, **देलम** (Delam) तथा **संगुत** (Sangut) खलनायक-पक्ष के।

नायक-खलनायक के संघर्ष से भी कहीं अधिक प्रभावी तथा रोचक इन परेकानों का संघर्ष होता था जिसमें दोनों अपनी मायाचातुरी, कूटोपाय, षड्यंत्र, मंत्रशक्ति, तंत्रप्रयोग तथा अतिमानवीय ऊर्जाओं का प्रयोग करते थे। बाली की वायांग परम्परा में सब कुछ दैवत-पृष्ठभूमि से जुड़ा था, अतएव **त्वालेन** भी मिथकों में भगवान् अतिन्तिय शिव का पुत्र माना गया, जो परमेश्वर के कुछ निषेधों की अवहेलना के कारण देवप्रतिष्ठा से च्युत हो गया था। फिर भी वह दिव्यशक्ति-सम्पन्न था। वह सत्य, धर्म, न्याय, पुण्य एवं प्रकाश का प्रतीक था। संघर्ष चाहे कैसा भी हो, दर्शक जानते थे कि विजयी अन्तत: त्वालेन ही होगा। परेकान् का यह अद्भुत रूप बाली के डलंगों के गहन-चिन्तन का ही परिणाम था।

पञ्चदश अध्याय

भारतीय विदूषक, यवद्वीपीय पनकवन् तथा बालीद्वीपीय परेकान् : एक तुलनात्मक दृष्टि

यद्यपि प्रख्यात डच विद्वान् स्टीन कैलेनफेल्स ने अपने शोधप्रबन्ध[1] में यह सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास किया है कि जावा का वायांग रंगमंच, तद्विषयक विद्वानों की सामान्य अवधारणा से कहीं अधिक प्राचीन है, परन्तु दुर्भाग्यवश १२ वीं शती ई० से पूर्व की एक भी नाट्यकृति जावा में न उपलब्ध होने के कारण उनका मत लोगों को स्वीकार्य नहीं हो सका है।

कैलेनफेल्स की स्थापना यह थी कि कडिरीनरेश जयभय (११३५-५७ ई०) के आश्रित कवि म्पू पनुलुह, जिन्हें प्राचीन जावी वाङ्मय में पनकवन् (विदूषक) पात्रों की आदिम अवतारणा का श्रेय प्राप्त है, ने अपने समय में विद्यमान नाट्यग्रंथों की ही विषयवस्तु को ककवीन (अथवा ककविन्) के रूप में परवर्तित कर दिया था। इसका प्रमाण है, उनके घटोत्कचाश्रयककवीन का नाट्य शैली में प्रतिपादन। सम्पूर्ण काव्य संवादशैली में लिखा गया है। शैली यदि पद्य के स्थान पर गद्यमय होती तो रचना के **वायांग** होने में तिलभर भी सन्देह नहीं था। शोधकर्ता का दूसरा तर्क यह है कि पनकवन् पात्र, जो मूलत: वायांग के पात्र हैं, पारम्परिक रूप से भी म्पू पनुलुह की अपनी देन नहीं हैं। इनकी प्रेरणा भी उन्हें समसामयिक वायांग-कथानकों से ही मिली।

---

१. De Sudamal in de Hindu – Javaansche Kunst (verh. KBG Vol. 66, 1925) by van Stein Callenfels.

परन्तु कैलेनफेल्स की इस अवधारणा को समर्थन नहीं मिला, क्योंकि जावा तथा बाली के वाङ्मय पर सारस्वत-श्रम करने वाले प्रो. एच्. कर्न., सी. हुयाकस, प्रो. जुईनबाल, डा. थ्योडोर पिगाड ही नहीं, प्रत्युत् डॉ. आर. गोरिस तथा डॉ. पर्वतजरक सरीखे स्थानीय विद्वानों ने भी जावा के लिखित वायांग-साहित्य का उदय १९ वीं शती के प्रारंभिक चरण में ही माना है,[१] उससे पूर्व कथमपि नहीं। जावा (तथा जावा से आयातित बालीद्वीप का भी) का वायांग, प्रयोग (रंगमंच) एवं प्रतिपाद्य (नाट्यग्रंथ) दोनों ही रूपों में सल्तनत-काल की देन है। सुराकर्ता एवं योग्यकर्ता दरबारों के कलाप्रेमी सुल्तानों ने ही वायांग को, प्राचीन हिन्दू-संस्कारों से अलग-थलग कर, उन्हें सामान्य जन-मनोरंजन का विषय बनाया।

प्रस्तुत निबन्ध के शीर्षक की दृष्टि से यह भूमिका थोड़ी असम्बद्ध-सी लग सकती है, परन्तु जावी पनकवन् तथा बालीद्वीपीय परेकान् पात्रों को सही मायने में समझने के लिए उस मौलिक भावभूमि को समझना आवश्यक है। जिन विद्वानों ने कैलनफेल्स के मत का खण्डन किया, वे भी पनकवन् की अवधारणा को ठीक-ठीक नहीं समझ सके। कोई स्पष्टता से यह नहीं घोषित कर सका कि ये पात्र यवद्वीपीय वाङ्मय में, भारत से उसी प्रकार आये, जैसे डलंग (सूत्रधार) आया है। मैं इस भूमिका को, सन्देहनिवारण की ही दृष्टि से, थोड़ी और व्याप्त करना चाहूंगा।

इस तथ्य को समस्त विद्वान् स्वीकार करते हैं कि लेखन-कला का विकास जावा में भारतीय-स्रोत से ही हुआ। मध्यजावा में शैलेन्द्रसाम्राज्य की स्थापना के साथ ही साथ, भारतीय-वाङ्मय एवं संस्कृति का भी प्रचार-प्रसार जावा में तीव्रता के साथ हुआ। पश्चिमी जावा के केडू प्रान्त में, बुकिर पहाड़ी पर निर्मित शिवमंदिर के ध्वंसावशेषों से प्राप्त, सम्राट् संजय का चंगल शिलालेख अलंकृत संस्कृत-भाषा में है। ७३२ ई० के इस लेख में १२ पद्य हैं, विविध वृत्तों में। इसके प्रामाण्य से प्राप्त होता है कि देवालय का शिवलिङ्ग चोलदेश (वर्तमान तन्जौर) के कुन्जर-कर्ण नामक स्थान से लाया गया था।

---

१. Literature of Java. vol I.p. 186 by Dr. J. Pigeaud.

जावा में भारतीय-साम्राज्य की स्थिरता का साक्षी है चंगल का यह शिलालेख। यही समय था जब संस्कृत एवं स्थानीय यवभाषा के समन्वय से एक नई भाषा जनमी, जिसमें उच्चकोटि का बृहद् वाङ्मय ८ वीं से १५ वीं शती ई० तक लिखा गया। कवियों अथवा कविता की भाषा होने के कारण उसे 'कवि' (Kawi) कहा गया। विदेशी समीक्षकों ने उसे प्राचीन जावी (Old Javanese) नाम दिया। जावा के लोग उसे **जावा-कुनो** (Java Kuno) कहते हैं।

चूंकि हिन्दूसाम्राज्य से पूर्व न तो यवद्वीप में लेखन-परम्परा थी, न ही कोई लिखित वाङ्मय—अतएव उनकी अपनी पृथक् मिथकीय अथवा पौराणिक पृष्ठ-भूमि भी नहीं थी। यही कारण था कि भारतीय वैदिक देवता (भटार इन्द्र, आदित्य, वरुण, स्मर, रुद्र, काल आदि) ही उनके भी आदिदेवता बने। रामायण-महाभारत ही उनके भी आर्षकाव्य तथा समूची संस्कृति के मूलस्रोत बने। जावा में सुमेरु तथा ब्रह्मा (वर्तमान ब्रोमो) पर्वत, सरयू नदी, बाली में अमरावती-क्षेत्र (पेतानू तथा पकेरिसान नदियों का मध्यभाग), मयदानव तथा इन्द्र की संग्रामभूमि (बेदौलु कस्बा) महामेरु (गुनुंग-अगुंग) आदि इन द्वीपों की उसी प्राचीन भारतीयकरण-प्रक्रिया के जीवन्त साक्षी हैं।

जावा में भारतीय पुराकथाओं के विकास के साथ ही साथ हम धार्मिक-संस्कारों में नाट्यपरंपरा का बीज पाते हैं। १२ वीं शती से पूर्व नाट्य ग्रंथ जावा में भले ही नहीं लिखे गये, परन्तु उनका रंगमंचीय स्वरूप, अविकसित, अव्यवस्थित रूप में ही सही, अवश्य विद्यमान था।

प्राय: धार्मिक महोत्सवों तथा संस्कारों के अवसर पर ये रंगमंचीय प्रवृत्तियाँ प्रदर्शित होती थीं। इनका स्वरूप विशुद्ध रूप से धार्मिक था, अतएव सामान्य मनोरंजन के लिए इनका प्रयोग वर्जित था। मयदानव तथा इन्द्र का संघर्ष, समुद्रमंथन एवं देवासुर-संग्राम, निवात कवच एवं अर्जुन का संघर्ष आदि दृश्य वायांगों (पुतलियों) के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते थे। रामायण-महाभारत तथा पौराणिक कथाओं ने इस प्रवृत्ति को और पुष्ट किया। कथानकों के वैविध्य ने पूरी वायांगकला का ही कायाकल्प कर दिया। राम, लक्ष्मण, हनूमान्, बाली, कुम्भकर्ण,

दशास्य, रामभार्गव (परशुराम), अगस्त्य, पञ्चपाण्डव, भीष्म, श्री कण्डी (शिखण्डी), **कर्ण, घटोत्कच**, अभिमन्यु आदि कितने ही नये पात्र वायांग-क्षितिज पर उभरे। सबका व्यक्तित्व धीरे-धीरे रूढ़ होता चला गया। यह रूढ़ि इतनी बलीयसी होती चली कि सैकड़ों वर्षों से जावा तथा बाली में राम, हनूमान्, कुम्भकर्ण, कृष्ण एवं अर्जुन आदि का एक जैसा ही रूप अंकित होता रहा है। यहां तक कि अर्जुन की मूंछ में जितने मोड़ हैं उनमें भी तिल भर का अन्तर सम्पूर्ण बालीद्वीप अथवा जावा में नहीं देखा जा सकता।

इस प्रकार जावा के धार्मिक परिवेश में पुराकथाओं का वायांगीकरण प्रारंभ हुआ। कब हुआ ? निश्चित तिथि तो ज्ञात नहीं, फिर भी हिन्दूसाम्राज्य की स्थिरता (७ वीं शती का उत्तरार्ध) को ही वायांगकला के अस्तित्व का भी प्रारंभ बिन्दु माना जा सकता है। धार्मिक-संस्कारों एवं वायांगों का वह **अविनाभाव सम्बन्ध** इस्लामी यवद्वीप में तो अब नहीं रह गया, परन्तु बाली में हजारों वर्ष पुरानी वह परम्परा आज भी ज्यों की त्यों देखी जा सकती है। बाली में आज भी कोई धार्मिक महोत्सव (गलुंगान, कुनिगांन, न्येपी, हरि रॉय सरस्वती आदि) अथवा संस्कार (मतलूबुलान्, मविन्तेन, मेटाटाह आदि) बिना वायांग-प्रदर्शन के सम्भव नहीं।

बाली के अनेक डलंगों (सूत्रधार) ने मुझे बताया कि मृत पितरों को समय-समय पर अपने बीच लाने के ही लिये **वायांगों** (पुतलियों) का निर्माण प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे मृत पितरों के साथ अदृश्य देवता (इन्द्र, रुद्र, स्मर आदि) तथा पुराकथा के नायक (राम, अर्जुन आदि) भी जुड़ते चले गये। मूलतः पुतलियाँ मृत पितरों का ही प्रतीक थीं।

वायांग की इस परम्परा में एक अत्यन्त आकर्षक तथ्य यह था कि नायक के साथ उसके कुछ **सहायक** भी आते थे, जो कि अपनी तंत्रशक्ति, माया, छलना, बुद्धिबल, षड्यंत्र, प्रेतवारण तथा पराक्रम आदि से पूरी वायांग-प्रस्तुति को जीवन्त बना देते थे। प्राचीनता की दृष्टि से, जावा की वायांग-परम्परा में ऐसा प्रथम पात्र था—**सेमार** (स्मर अथवा कामदेव)।

स्मर, पुराकथानायक इन्द्र का अन्तरंग सहायक, सुख-दु:ख का साथी तथा सर्वसमर्थ था। कभी वह नायक के साथ अकेला आता और कभी अपनी **विडेडर-विडेडरी**[१] (विद्याधर-विद्याधरी) तथा वसन्त-सेना के साथ।

वस्तुत: यह सब भारतीय पुराकथा के अनुकूल ही था। प्राय: समस्त पौराणिक कथाओं में काम एवं वसन्त को मघवा का प्रमुख सहायक निरूपित किया गया है। शिव का समाधिभंग हो अथवा विश्वामित्र का, प्रत्येक संकट में काम उसका एकमात्र वशंवद था।

परन्तु सार्वकालिक मित्रों की यह प्रथा इन्द्र तक ही नहीं सीमित थी। प्राय: समस्त मिथकनायक सहायक-युक्त थे। जय-विजय तथा गरुड़ यदि विष्णु के सहायक थे तो नन्दी-वीरभद्र आदि गण रुद्र के। हनूमान्-अंगद यदि **रामविजय** (म्पूयोगीश्वर) के नर्मसचिव हैं तो शुक-सारण-प्रहस्त-मारीच रावण के। पूरे वायांग-प्रदर्शन में ये नर्मसचिव छाये रहते थे। नायकों, खलनायकों से भी अधिक तत्परता, सक्रियता, सामर्थ्य एवं व्यक्तित्वाकर्षण इन सहायकों में होता था।

मेरी दृष्टि में विदूषक-परम्परा के उदय की यही पृष्ठभूमि है, भारत में भी, जावा तथा बाली में भी। भारतवर्ष में तो नाट्यपरम्परा-प्रयोग (रंगमंच) एवं प्रयोज्य (नाट्य-ग्रंथ) दोनों ही रूपों में, ई० पू० चतुर्थ शती में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आचार्य-भरत के रंगमञ्च-व्याख्यान तथा भास के नाटकों से[२], यह तथ्य सन्देह से परे हैं। भास के अनेक नाटकों में विदूषक पात्र विद्यमान हैं।

मतरामवंशीय नरेश बलितुंग (नवीं शती ई०) के शासनकाल में महाकवि म्पू योगीश्वर द्वारा प्रणीत रामायणककवीन यवद्वीप की प्राचीनतम एवं श्रेष्ठतम काव्यकृति है। इस ग्रन्थ के अध्ययन-क्रम में मैंने महाकवि कालिदास के मेघदूत

---

१. बाली में **देदारी** (विद्याधरी अथवा अप्सरा) तिलोतमा तथा सुप्रभा का उल्लेख है, जो इन्द्रकील-शिखर पर तपस्यारत अर्जुन को विघ्नित करने के लिए जाती हैं।

२. श्री अनुजन् अच्चन् द्वारा सम्पादित बोधायनप्रणीत भगवदज्जुकीयम् को प्रो० विण्टरनित्ज ई० पू० ५ वीं. शती की रचना स्वीकार करते हैं (द्रष्टव्य भूमिका)।

की विश्वसनीय छाया अनेक वर्णनों में देखी । विशेषकर, वैदेही के वियोग में अभिव्यक्त राघव के वचन शतप्रतिशत विरही यक्ष के उद्गारों के अनुरूप है ।[1]

इन सन्दर्भों के आधार पर मैंने म्पू योगीश्वर-विषयक शोधों में एक नया तथ्य, यह जोड़ा था कि कवि न केवल वाल्मीकि, भट्टि से प्रत्युत कालिदास से भी पूर्णत: परिचित था । इसका अर्थ यह हुआ कि यवद्वीप के साहित्यिक-परिवेश में कालिदास नवीं शती ई० में भी लोकप्रिय थे । कालान्तर में कडिरीनरेश जयवर्ष दिग्जय (११ वीं शती ई० उत्तरार्ध) के राजकवि म्पू मोणगुण ने **रघुवंश** महाकाव्य के कथानक पर सुमनसान्तक[2]ककवीन तथा कामेश्वर प्रथम (११०६-३५ ई०) के राजकवि म्पू धर्मज ने **कुमारसम्भव** के आधार पर **स्मरदहनककवीन** की रचना की । परवर्ती रचना, म्पू तनकुंग-प्रणीत चक्रवाकदूत पर भी मेघदूत का शैलीगत प्रभाव है ।

जब कालिदास के समस्त काव्यों की **उपजीव्यता** नवीं से १३ वीं शती ई० के बीच सिद्ध है उपर्युक्त प्रमाणों से, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उनके नाट्य-ग्रंथ यवद्वीप में लोकप्रिय न रहे होंगे ? निश्चय ही रघुवंश, कुमारसम्भव तथा मेघदूत के साथ ही साथ उनके तीनों नाटक भी जावा के विद्वत्समाज में प्रचलित-समादृत रहे होंगे । और तब, मुझे दृढ़ विश्वास है कि घटोत्कचाश्रय के लेखक म्पू पनुलुह् को पनकवन् पात्रों की अवतारणा की मूल प्रेरणा कालिदास के विदूषकों से ही प्राप्त हुई होगी ।

हाँ, यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि कालिदास के नाटकों का परिचय-प्रसार जावा में नवीं से १३ वीं शती के बीच हो चुका था तब फिर जावा १९ वीं शती ई०

---

१. तुलनात्मक अध्ययन के लिए द्रष्टव्य इसी लेखक का निबन्ध—जावा तथा बाली की रामकथा : रामायणककवीन (सम्मेलन पत्रिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) ।

२. सुमनसान्तक का अर्थ है सुमनसा की मृत्यु । इसमें विदर्भ-नरेश अज तथा उनकी पत्नी (देवांगना) का वर्णन है, जिसकी मृत्यु एक पुष्पमाल्य के प्रहार से होती है । कवि ने कथा में मनोऽनुकूल रोचक परिवर्तन कर लिये हैं ।

तक नाट्यकृतियों की सर्जना से च्युत क्यों रहा ? भला एक ही दो नाटक लिखे गये होते !

इस प्रश्न का समाधान यही है कि साहित्य कि किसी भी विशिष्ट विधा की सर्जना युग की साहित्यिक सञ्चेतना, अपेक्षा तथा घटनाचक्र पर आधारित होती है । ऐसे टेढ़े प्रश्न भारत के भी सन्दर्भ में पूछे जा सकते हैं कि भारवि से श्री हर्ष तक अलंकृत शैली के ही महाकाव्य क्यों लिखे गये ? मध्यकाल में कोई रासो क्यों नहीं लिखा गया ? आदि । ध्वनिमार्ग के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा भी देवीशतक सरीखे अलंकृत-काव्य की संरचना भी यही सिद्ध करती है कि लोक की अपेक्षा तथा जनमानस की अभिरुचि के समक्ष शास्त्रीय-सिद्धान्त भी अशक्त सिद्ध हो जाते हैं ।

जावा में भी, काव्यविधा की तुलना में नाट्य के प्रतिष्ठित न होने का मूल कारण वही जनमानस था । रामायण-महाभारत से कन्दलित प्राचीनजावी भाषा की कविता, संस्कृत वृत्तों की मिठास के कारण जनमानस में इतने गहरे उतर चुकी थी कि सहृदयजन उससे कम धीर-गम्भीर, कम उदात्त, कम महिमागरिमा-सम्पन्न साहित्यिक मनोरञ्जन चाहते ही नहीं थे ।

शुद्ध, शास्त्रसम्मत, प्राञ्जल, काव्यगरिमामण्डित, शय्या-मुद्रा-पाक-गुम्फ-भङ्गी-प्रभृति काव्यतत्त्वों से समन्वित उत्कृष्ट काव्यरस-बोध के प्रति जावा के सहृदयों का ऐसा आग्रह हिन्दूशासनकाल (नवीं से १५ वीं शती ई० तक) में ही रहा हो, ऐसा नहीं है । जावा में सत्तापरिवर्तन के बाद, सम्पूर्ण द्वीप का इस्लामीकरण सम्पन्न हो जाने के बाद, संस्कृत के स्थान पर अरबी-फारसी का वर्चस्व स्थापित हो जाने के बाद भी वाङ्मय में ककवीन (काव्य) ही प्रतिष्ठित रहे, वायांग अथवा पर्व (गद्य) या तंत्री (कथासाहित्य) नहीं ।

जावा के उत्तरी पूर्वी सागरतट पर स्थित जनपद (ग्रेसिक, डेमाक, सेरेबोन, सुरावाया) **पसिसिर** कहे जाते थे । १५ शती ई० में यहाँ **वली** कहे जाने वाले मुस्लिम सन्तों की बड़ी प्रतिष्ठा थी । ये वली सन्त मिशनरी प्रवृत्ति के थे । भारतीय सूफी सन्तों जैसा रहन-सहन था इनका । इनमें से अनेक उच्चकोटि के साधक अथवा

साहित्य-संगीत-कला के मर्मज्ञ भी थे । जावा में इस्लाम के प्रचार-प्रसार का श्रेय इन्हीं वलियों को है । सूनान कालीजग, इन वली सन्तों की परम्परा में सर्वप्रथम है । जिसे प्रथम डलंग (वायांग-सूत्रधार) जावी- गमेलन (आर्केस्ट्रा) का आविष्कारक तथ अनेक कविभाषा-ग्रंथों का प्रणेता माना जाता है । वायांगों के पुनरुज्जीवन का भी श्रेय इन्हीं सन्तों को है ।

वली-सन्तों द्वारा १६ वीं १७ वीं शती ई० में उच्चकोटि का स्तरीय साहित्य लिखा गया, जिसे **सिरतकाण्ड** अथवा **पसिसिर-साहित्य**[१] कहा गया है । परन्तु यह समूचा साहित्य भी प्रायः पद्यबहुल ही है । वलियों के प्रयास से वायांग कला में निखार अवश्य आया, परन्तु वाङ्मय सर्जना के स्तर पर नाट्यग्रन्थ पुनः ककवीन से पीछे ही रहे ।

कालान्तर में जब मुस्लिम राजसत्ता, हिन्दुओं के प्राचीन शक्तिपीठ **मतराम** (मध्यजावा) में पुनः केन्द्रित हुई तथा कौटुम्बिक-विवाद के कारण विभक्त होकर सुराकर्ता एवं योग्यकर्ता दरबारों में व्यवस्थित हुई—तब वायांगकला के पल्लवन का चिरप्रतीक्षित अवसर आया । १८ वीं तथा १९ वीं शती जावा में साहित्यिक पुनर्जागरण का अवसर मानी जाती है ।

पुनर्जागरण के प्रारंभिक चरण में, इन दरबारों में भी ककवीन-प्रणयन का ही वर्चस्व रहा । भाषा बदल चुकी थी, भाषा का नाम तक बदल चुका था—कवि के स्थान पर **कविमिरिंग** अर्थात् कृत्रिम कविभाषा । संस्कृत-छन्दों के रहस्य से अनभिज्ञ मुस्लिम साहित्यकार, अब उसे **छन्द** न कहकर **गुरु-लगु** कहने लगे थे । इन सारी विसंगतियों के बावजूद भी, कोई रामायण-महाभारत कथानक के अतिरिक्त कुछ और नहीं लिखना चाहता था । फलतः समस्त प्राचीन ककवीन नये नामों से पुनः प्रणीत किये गये ।[२]

---

१. इस युग का प्रत्येक रचना **सिरत** कही जाती थी जैसे सिरतराम, सिरत भीम आदि । पसिसिर जनपदों का साहित्य होने के कारण डच समीक्षकों ने **इसे पसिसिर-लिटरेचर** भी कहा है ।

२. यशादिपुरप्रणीत व्रतयुद (प्राचीन भारतयुद्ध कक०) पाकुभुवनकृत मिन्तराग (अर्जुनविवाह कक०) आदि ।

मतराम के मुस्लिम सुल्तानों के अनवरत आक्रमणों से पसिसिर कला साहित्य एवं संस्कृति को अपार क्षति पहुंची, परन्तु सुल्तानों को साहित्य-संस्कृति एवं कला के बीज भी वहीं मिले। पसिसिर जनपदों तथा पार्श्ववर्ती मदुरा-द्वीप का सारा साहित्य बटुर कर कर्तासुरा एवं योग्यकर्ता दरबारों में पहुंच गया। दोनों दरबारों में एक विचित्र प्रतियोगिता छिड़ गई प्रत्येक क्षेत्र में। सम्पूर्ण जावा पूर्व (कर्तासुरा) एवं पश्चिम (योग्यकर्ता) के खेमों में बँट गया।

हिन्दू शासनकाल तक वायांग धार्मिक-संस्कारों का अनिवार्य अंग होने के कारण उन्मुक्त वातावरण अथवा सार्वजनिक मनोरंजन का विषय नहीं बन सके थे। इसीलिए उनका वाङ्मय भी नहीं लिखा गया। सब कुछ मौखिक एवं परम्पराश्रित ही रहा। वायांगों (पुतलियों) को दिवंगत पितरों अथवा देवताओं की प्रतिच्छाया मानने के कारण ही, सम्भवतः आस्थावान् धर्मभीरु हिन्दु उन्हें धार्मिकेतर अवसर पर प्रदर्शित करना भी **पाप** समझते रहे होंगे। उनकी दृष्टि में वायांग का अर्थ था—देवमूर्ति।

परन्तु मुस्लिम-राजसत्ता में अब वायांग रूढ़ि-मुक्त थे। परम्परा पुरानी ही थी, बस दृष्टिकोण बदल गया था। परिणाम यह हुआ कि वायांगों का जब सार्वजनिक प्रदर्शन होने लगा। वली सन्तों ने वायांगों की वेष-भूषा आकृति एवं शिल्प में एक नया चमत्कार पैदा कर दिया था। कर्तासुरा एवं योग्यकर्ता दरबारों ने उस परम्परा को और आगे बढ़ाया।

सुराकर्ता राजवंश के ही एक राजकुमार तथा वायांग-कला के महान् पोषक कुसुमादिलग ने जावी रंगमञ्च के इतिहास पर **शास्त्रमिरुड** नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा। इस शास्त्रीय-ग्रंथ ने वायांग के प्रयोग एवं सर्जन को अभूतपूर्व सम्बल प्रदान किया। इस युग में तीन प्रकार के वायांग-ग्रन्थों की रचना हुई। सूचना मात्र देकर इस अवान्तर प्रसंग को यहीं छोड़ता हूं—

१. मूर्वकाल वायांग

हिन्दूशासन-युगीन सारे धार्मिक वायांग-कथानक, एक पवित्र परम्परा के रूप में अपना लिये गये। यह मुस्लिम साहित्यकारों की सहृदयता थी। चूंकि ये वायांग दुष्प्रवृत्तियों के नियामक थे। भूत-प्रेत काल के प्रभावों के संहर्ता थे अतः इन्हें **मूर्वकाल** नाम दिया गया।

२. वायांग-प्रेमाख्यान

वली सन्तों द्वारा प्रणीत जावा-मदुरा की नाट्यपरक प्रेमाख्यान परम्परा। इस परम्परा में प्रणीत समस्त नाट्यकृतियाँ पद्यात्मक हैं। प्रयोग के समय डलंग वायांगों के संचालन के साथ संवादों को गाता भी था।

३. पाकिम ग्रन्थ

वे ग्रन्थ जिनमें वायांग-कथानक के साथ ही साथ मध्यवर्ती **सुलुक-गायन**, डलंगों के हास-परिहास, पनकवन् पात्रों के परिहास-सब दिये रहते थे, **पाकिम** कहे जाते थे। संक्षेप में पाकिम का अर्थ था—साङ्गोपाङ्ग रंगमञ्चीय प्रस्तुति।

इस लम्बी भूमिका के बाद मैं पुनः मूल-विषय पर आता हूं।

पाश्चात्य समीक्षकों ने न तो इस प्रश्न का ही कोई उत्तर दिया है कि जावा में वायांग-कृतियाँ १८ वीं शती से पूर्व क्यों नहीं लिखी गई? और न ही उन्होंने जावी वायांग को (सुस्पष्ट ढंग से) भारतीय नाट्य से उद्भूत एवं विकसित माना है। परन्तु इस सन्दर्भ में दी गई उनकी दलीलें प्रकारान्तर से यही सिद्ध करती हैं कि वायांग-कला जावा में भारत से ही आई।[१]

---

१. One might imagine that in the 12th century, on the one hand Indian tales in a corrupt form penetrated into the orally transmitted folk tales repertoire and on the other hand features of the folk tales appeared in high literature. In the cource of many centuries the folktale repertoire of java. so enriched and combined with the wayang theatre performer's art developed into

इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि म्पू पनलुह पनकवन् पात्रों के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित था। निश्चय ही उसने शाकुन्तल के माढव्य, विक्रमोर्वशीय के माणवक तथा मालविकाग्निमित्र के गौतम की भूमिका का गहन अध्ययन किया होगा। यह भी सम्भावना की जा सकती है कि भास के भी नाटकों से वह परिचित था, गोकि कालिदास की कृतियों के समान, भास की कृतियों की जावी पुनरावृत्ति नहीं प्राप्त होती ! यदि विदूषक के प्रति म्पू पनलुह का इतना दुर्वार आकर्षण न होता तो **ककवीन** कोटि की धीर-गम्भीर रचना में नाट्योचित पनकवनों की अवतारणा कर, वह एक नये प्रस्थान का प्रारंभ क्यों करता ?

क्योंकि पनलुह के इस प्रस्थानारम्भ के बाद ही पनकवन् काव्य में त्वरितगति से लोकप्रिय होने लगे और अगली एक दो शतियों में ही वे वाङ्मय की प्रत्येक विधा (ककवीन, किडुंग, गेगुरितान्, पञ्जी, तंत्री-वाङ्मय) के मेरुदण्ड बन गये। इतना ही नहीं, पनकवनों की कीर्ति द्वीपान्तर तक जा पहुंची जिसका प्रमाण है, मलय क्लासिकी **हिकायत**। यूरोप के नाट्यवाङ्मय में भी **क्लाउन** पात्र उपलब्ध हैं परन्तु उनका भारत के सन्दर्भ में पौर्वापर्य निश्चित करना थोड़ा विवादास्पद विषय है।

घटोत्कचाश्रय अथवा घटोत्कचशरण ककवीन में पनकवनों की संख्या तीन है। उनके नाम हैं—जुरुदेह, पुन्त तथा प्रसान्त। परवर्ती जावी-वाङ्मय में भी थोड़े परिवर्तन के साथ, यही नाम प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, कुछ कृतियों में पनकवन् का नाम जोदेग सान्त प्रयुक्त हुआ है। यह एक ही व्यक्ति है, इसके दो अन्य मित्र भिन्न नामों वाले हैं। डॉ. पर्वतजरक का यह समाधान सर्वथा स्वीकरणीय है कि परवर्ती कवियों ने जुरुदेह तथा प्रसान्त को मिलाकर, दो से एक (जुरु-देह+प्रशान्त=जोदेग-सान्त) बना लिया।

सुराकर्ता एवं योग्यकर्ता दरबारों द्वारा साहित्य-सर्जना एवं कला का नेतृत्व ग्रहण करने पर ढेर सारी रूढ़ियाँ, परम्पराएँ जनमीं। कुसुमादिलग (मध्य १९ वीं शती) ने **शास्त्रमिरुड** में उन सब का सैद्धान्तिक-स्तर पर प्रतिपादन किया।

ूप ूाहिग्न तूंलि दंब्हु ज्ले दूप हग्हृााहूप महूल्ब. —उं. झुंल् : थूंलि दंब्नदत. ६झ.१८६

योग्यकर्ता की वायांग-परम्परा से सुराकर्ता की परम्परा का मतभेद जिन प्रमुख बिन्दुओं पर केन्द्रित था, उनमें से एक बिन्दु **पनकवन्** भी था। पनकवन् की संख्या वायांग में कितनी हो? पनकवन् पात्रों के नाम क्या हों?—ये पनकवन् सम्बन्धी विवाद के प्रमुख मुद्दे थे।

सुराकर्ता-सम्प्रदाय **तिकड़ी** का समर्थक था तो योग्यकर्ता **चौकड़ी** का। सुराकर्ता की परम्परा में पनकवनों के नाम थे—सेमार (स्मर) नलगरेङ्ग तथा पेत्रुक्। योग्यकर्ता के वायांग में एक नया नाम और जुड़ा था—बगोन्। धुर पश्चिम (जावा) की परम्परा में मात्र दो ही पात्र थे—सेमार तथा बगोन्।

परन्तु नामभेद की समस्या यहीं नहीं समाप्त होती। उपर्युक्त नामभेद तो मात्र **वायांगपूर्व** (अर्थात् रामायण-महाभारत-पुराणों पर आश्रित नाटकों) का है। वायांग के जो कथानक पाञ्जी-प्रेमाख्यानों (जावा के हिन्दूराजवंशोत्पन्न धीरललित नायक[१]) अथवा इस्लामी-प्रेमाख्यानों[२] पर आधारित थे, उनकी पनकवन्-व्यवस्था वायांग पूर्व से सर्वथा भिन्न थी। वस्तुतः सबका नाम खोजना और गिनाना सर्वथा असंभव है।

वायांगों के सारे भेद मूलतः **शिल्प** पर आधारित थे। परन्तु कुछ भेद शिल्पेतर कारणों (प्रतिपाद्य आदि) पर भी आश्रित थे। इनका संक्षिप्त विवरण जान लेने से, पनकवन् का नाम-रूप-विस्तार भी समझा जा सकता है—

१. वायांग कुलित:— सर्वाधिक प्रसिद्ध वायांग-भेद जो कि **कुलित** अर्थात् (महिष) चर्मनिर्मित पुतलियों (वायांगों) से सम्पन्न होता है। इसके भी दो भेद

---

१. पाञ्जी प्रेमाख्यान-परम्परा का प्रथम नायक कडिरीनरेश कामेश्वर प्रथम माना जाता है, जो कि धर्मजप्रणीत स्मरदहन ककवीन में संकेतित है। उसकी पत्नी श्री किरण जंगल-राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। दोनों को काम एवं रति का अवतार माना गया है।

२. मेनाक अमीर हम्जा, सुकमादी, अर्दि, कुसुम, रदेन, सपुत्र, जाति कुसुम आदि।

हैं—वायांग पूर्व (रामायण, महाभारत, पुराण कथानक) तथा वायांग गेडॉग् (पाञ्जी प्रेमाख्यान)

२. **वायांग गोलेक्:**— काष्ठनिर्मित वर्तुल शीर्ष वाली पुतलियों से अभिनीत नाट्य। इनकी भुजाएं तथा शीर्ष चल हैं। उत्तरी जावा में आज भी वायांग की यह विधा सर्वाधिक प्रतिष्ठित है।

३. **वायांग वांग :**— यह भारतीय कुचपुड़ि कला के समरूप है। मुखौटाधारी पुरुष एवं महिला पात्रों द्वारा अभिनय किया जाता है, संवाद अन्य वायांगों की तरह यहाँ भी डलंग ही बोलता है।

४. **वायांग बेबेर :**— चित्रपट के माध्यम से नाट्यकथा की प्रस्तुति। यह 'बाइस्कोप' जैसा प्रदर्शन है तथा दक्षिणी-जावा में लोकप्रिय है।

५. **वायांग क्रुचिल् :**— इस वायांग की पुतलियां चिपटे काष्ठफलक से निर्मित होती हैं। मात्र भुजाएँ ही गतिमान होती हैं।

६. **वायांग मध्यः**— १९ वीं शती के उत्तरार्ध में सुराकर्ता के चिन्तकों ने इस नवीन वायांगभेद की प्रतिष्ठा की। कौरव-पाण्डव युद्ध के बाद तथा कडिरी-शासन से पूर्व की मध्यावधि में उत्पन्न नायकों पर आश्रित वायांग को उन्होंने **वायांग मध्य** संज्ञा दी। सचमुच यह चिन्तन अत्यन्त सार्थक था, क्योंकि वायांग पूर्व मूलतः रामायण-महाभारत पर आश्रित था तथा वायांग गेडॉग् पाञ्जी-प्रेम-कथाओं पर, जिनका प्रारंभ कामेश्वर प्रथम (११०६-३५ ई०) से होता है। मध्यवर्ती समस्त मतरामवंशीय नरेश (सञ्जय, बलितुंग, शिण्डोक, धर्मवंश, एरलंग आदि) वायांग की परिधि बहिर्भूत थे।

पनकवन् पात्रों की आवश्यकता प्रत्येक वायांग-भेद में थी, परन्तु प्रत्येक वायांग के पनकवन् भिन्न थे। यदि प्रेतबाधानिवारक अथवा धार्मिक वायांग-कथानकों में सेमार आदि देवकोटिक पनकवन् थे तो रामकथा में हनूमान् एवं अंगदादि। पाण्डवों की कथा में यदि घटोत्कच एवं श्रीकण्डी (शिखण्डी) आदि पनकवन् हैं तो पाञ्जी (प्रेमाख्यान) कथानकों में विविध नामों वाले नये पनकवन्। इस्लामी कथानकों

के पनकवन् भी नायकों के अनूकूल थे । यह कैसे हो सकता है कि प्रेमाख्यान तो हो अरब देश का (मेनाक अमीर हम्ज़ा) और पनकवन् हों उसमें सेमार आदि ?

इतना ही नहीं, इस्लामीकृत जावा में भी पश्चिमी जावा, मध्य जावा तथा पूर्वी जावा के प्रेमाख्यान एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे । सभी कथानकों की मूल प्रवृत्तियाँ, कथा का उतार-चढ़ाव, घात-प्रतिघात, रूढ़ियाँ-परम्पराएँ भी भिन्न थीं । फलत: एक क्षेत्र के वायांग की पनकवन् (तथा अन्य भी) -व्यवस्था दूसरे क्षेत्र से मेल नहीं खाती ।

इन समस्त पनकवन् पात्रों की वेष-भूषा, अलंकरण-विधान एवं उनके वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक अभिनय का यदि सङ्कलन मात्र किया जाय तो एक विशाल ग्रंथ तैयार हो सकता है । अत्यन्त श्रमसाध्य शोधकार्य है यह । अभी तक इस दिशा में, जावा में कोई प्रयास भी नहीं हुआ है ।

अब कुछ तथ्य पनकवन् पात्रों के व्यक्तित्व के विषय में, भारत की नाट्यशास्त्रीय परम्परा में भी विदूषक का स्वरूप लक्षण-श्लोकों से स्पष्ट है । आचार्य भरत, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, सागरनन्दिन्, धनञ्जय तथा विश्वनाथ—सभी ने, थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ, प्राय: विदूषक का व्यक्तित्व एक जैसा ही स्वीकार किया है । वह कुसुम-वसन्त आदि नाम वाला, (नायक-नायिका के) कलह में रुचि रखने वाला, अपने वास्तविक उद्देश्य में केन्द्रित, वाणी[१]-वेशभूषा[२]आङ्गिक चेष्टाओं[३] आदि से हास्य-सर्जना करने वाला तथा कभी-कभी अंगहीन भी होता

---

१. चेटी—यन्निमित्तं पुनर्भर्ता उत्कण्ठितस्तस्या: स्त्रिया नाम्ना भर्त्रा देवी आलपिता । विदू:—(स्वगतम्) कथं स्वयमेव तत्रभवता वयस्येन रहस्यभेद: कृत: ? किमिदानीमहं ब्राह्मणो जिह्वां रक्षितुं समर्थोऽस्मि । (प्रकाशम्) किं तत्रभवता उर्वशीनामधेयेन आमंत्रिता ?—
चेटी—(स्वगतम्) उत्पाटितो मया भेदो भर्तू रहस्यदुर्गस्य । तद् गत्वा देव्यै निवेदयामि ।

२. रत्नावली नाटिका में वसन्तक महिलावेश धारण करता है ।

३. शाकुन्तल का माढव्य **अंगभंगविकलता** का प्रदर्शन करता है (द्वितीय अंक) ।

था । संस्कृत-नाटकों में विदूषक के व्यक्तित्व के समस्त वैशिष्ट्य उदाहृत हैं । सम्भवतः इन्हीं वैशिष्ट्यों के कारण उसकी संज्ञा (विदूषक) भी चरितार्थ होती है ।

परन्तु यह सब तो विदूषक के व्यक्तित्व का बाह्य-पक्ष मात्र हैं । उसका स्वरूप-लक्षण तो कुछ और ही है । वह नायक का सार्वकालिक मित्र है । गुह्य को (यथाशक्ति) निगूहित रखना, गुणों को प्रकट करना, कठिन से कठिन आपत्ति में भी नायक का साथ न छोड़ना, नायक के सुख में सुखी दुःख में दुखी रहना, नायक की मान-प्रतिष्ठा एवं प्राण-रक्षा के लिए अपने सुखों-स्वार्थों की बलि दे देना—यह है विदूषक का पारमार्थिक स्वरूप । उसके तटस्थ-लक्षण तो मात्र लोकानुरञ्जन के लिये हैं, क्योंकि मञ्चप्रस्तुति का वही प्रमुख उद्देश्य है—नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधकम् । (मालविका० १.४) ।

परन्तु जावी पनकवनों का व्यक्तित्व-विकास कुछ और ढंग से हुआ है । जावी वाङ्मय का मेरा अध्ययन सीमित तथा अनुवादाश्रित है । मूल जावी ककवीनों को भी मैंने पढ़ा है, परन्तु दो ही चार । चूंकि इस सन्दर्भ में डच तथा अंग्रेज विद्वानों ने भी कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला है, अतः अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में संकोच नहीं ।

भारतीय विदूषक से जावी पनकवन् की पूरी संगति तब बैठती है जब वह पाञ्ञी (प्रेमाख्यान) कथानकों में अवतरित होता है । दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि वली सन्तों (१६ वीं-१७ वीं शती ई०) तथा सुराकर्ता-योग्यकर्ता दरबारों के **पुजङ्गों**[१] (१८ वीं, १९वीं, शती ई०) द्वारा प्रणीत वायांग-कृतियों में विद्यमान पनकवन् शत-प्रतिशत संस्कृत-विदूषकों जैसे हैं । सम्भवतः इस साम्य का कारण था—वायांगों का लोकानुरञ्जकत्व अथवा सार्वजनिक प्रदर्शन । अन्यथा हिन्दूसाम्राज्य-कालीन वायांग तो देवविग्रहतुल्य होने के कारण, मात्र धार्मिक-संस्कारों में सीमित

१. सल्तनत-कालीन साहित्यकारों को **पुजंग** (Pujangga) कहा गया है जो **भुजंग** (संस्कृत) का ही स्थानीय रूप है । यह प्राचीन श्रेष्ठ कवियों की पदवी (म्पू = ऋषि अथवा सन्त) की तुलना में नये कवियों के हीनगुणत्व का द्योतक हैं ।

जनवर्ग (राजा, पुरोहित, आचार्य आदि) के समक्ष ही प्रदर्शित होते थे। वह परम्परा बाली द्वीप में आज भी ज्यों की त्यों विद्यमान है। आज भी जलोन्-अरंग, बारोंग आदि वायांगों का प्रदर्शन बाली में **विशेषपरिस्थितियों** में ही होता है। इस सन्दर्भ की चर्चा आगे की जायेगी।

मलतकुंग (पाञ्जी प्रेमाख्यानों की अवान्तर संज्ञा) वायांगों में प्राय: पनकवन् नाट्यारम्भ में ही गीत गाते अथवा कोई खेल खेलते हुए प्रवेश करते हैं। इधर डेनपसार दूरदर्शन पर जितने भी वायांग (वाँग) प्रसारित हुए, सब में पनवन् दो ही थे। दोनों कमर के ऊपर सर्वथा निर्वस्त्र। नीचे एक पारम्परिक लुंगी तथा उसके ऊपर काले सफेद चेक का आभिचारिक वस्त्रावरण। यह वस्त्र सम्पूर्ण द्वीप में प्रसिद्ध हैं प्रेतात्माओं के समुत्सारणार्थ। फलत: पेलेगोगंन (आर्केस्ट्रा) के सारे वाद्य, मन्दिरों के समस्त पलिगंह् (देवपीठ) इसी आभिचारिक परिधान से सुरक्षित रहते हैं।

पनकवनों की प्रथम भूमिका होती है—रंगध्यानाकर्षण। लम्बी प्रतीक्षा के कारण, अनवसर उत्थापित प्रतिवेश की कलहकथाओं में उलझी महिलायें, निरन्तर बदलती मुद्राओं के व्याघात से जगे कच्ची नींद वाले दुधमुहों की चीख-चिल्लाहट तथा सयाने बच्चों की हाल से लेकर नेपथ्यगृह तक की सोत्कण्ठ धमाचौकड़ी—पूरे वातावरण को **मछलीबाजार** का रूप दे देती है।

अचानक घनघना उठते हैं तीन चार जोड़े गांग, खनखना उठते हैं कञ्जुर, दनक उठते हैं कण्डाङ्ग (नगाड़े) तथा थाप पड़ने लगती है विशाल घड़ियालों पर। प्रवेश करता है वाद्यवृन्द की धुन पर नृत्य करता पनकवन्। अचानक पेलेगोगंन् मौन हो जाता है और पनकवन् का सारा नृत्योत्साह खटाई में पड़ जाता है। वह दीन हीन नेत्रों में कलाकारों से सहायता माँगता है। परन्तु अन्तत: निराश होकर, आग्नेय नेत्रों से उन्हें देखता, सरापता, पांवों से जमीन पीटता जवनिका के भीतर चला जाता है।

पनकवन् के जाते ही आर्केस्ट्रा पुन: पूर्ववत् प्रारम्भ हो जाता है। सुवर्ण अवसर ताक कर पनकवन् पुन: यथाशक्ति सर्वोत्तम मुद्रा में नृत्य करता मञ्च पर प्रवेश करता है। कलाकार पुन: बीच में साथ छोड़ देते हैं। यह प्रक्रिया तब तक

दुहराई जाती है जब तक कि रोता-चीखता, विक्षिप्त सा पनकवन कण्डांगवादक **केतुआ** (वाद्यवृन्द प्रमुख) को लट्ठ लेकर मारने नहीं दौड़ता और वह कण्डांग छोड़, मञ्च से कूद नहीं पड़ता दर्शकों के बीच ।

एक अन्य दृश्य । ज़ोदेगसान्त तथा पेत्रुक में विवाद छिड़ा है कि पांच दिन बाद अर्थात् शुक्र को नायक (राजा) के घर में उत्सव होगा । जोदेग कहता है कि वह दिन शुक्र नहीं शनिवार है । हर बार वह पेत्रुक की अँगुलियाँ पकड़ कर दिनों के नाम गिनाता है और उसे झाँसा देते हुए एक दिन गुम करके, शनिवार पर पहुंच जाता है और फिर विजयी बन कर, पैत्रुक की पीठ पर चढ़ कर तब तक यात्रा करता है, जब तक कि वह वनमहिष । सा हाँफता, धराशायी नहीं हो जाता !

ये सारे पनकवन्-दृश्य मैंने दि० २३ जुलाई ८८ की रात में उबुद में दूरदर्शन कलाकारों द्वारा अभिनीत नाटक[१] में देखे । ऐसे और भी अनेक रोचक दृश्य थे । सारा रंगमण्डप निहाल था, इन दृश्यों को देख कर । परन्तु हास्य के ये सारे मसाले **प्राइवेट** किस्म के थे । इनका नाटक के कथानक से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं था । जन-मनोरञ्जन ही इन दृश्यों का एकमात्र लक्ष्य है । परन्तु मनोरञ्जन का यह मोह अनेक बार इतना सस्ता एवं भदेसपन से युक्त हो जाता है कि धीर-गम्भीर ऐतिहासिक पाञ्जी प्रेमाख्यान (मलत कुंग) भी **नौटङ्की** प्रतीत होने लगता है । ऐसे प्रत्यक्षीकृत सन्दर्भों की इस निबन्ध में चर्चा करने में भी संकोच का अनुभव होता है । वस्तुतः वह विशुद्ध लोकतत्त्व है ।

परन्तु अधस्तरीय मनोरंजन का यह रोग रामायण जैसे शिष्टतम धीर गंभीर कथानक में भी मैंने देखा । अशोकवन में अकेले हनूमान् जूझ रहे हैं राक्षसवाहिनी से । दस को मारते हैं, बीस आ जाते हैं । तभी प्रारम्भ हो जाती है बजरंग बली की पनकवन्-लीला । वह सायकिल के टायर में हवा भरने का अभिनय करते हैं । पम्प की भोंड़ी आवाज हर बार डलंग बोलता जाता है विचित्र काकु के साथ और प्रत्येक पम्प के साथ मूर्छित राक्षस तिल-तिल उठने लगता है अष्टावक्री मुद्रा में । उसे सीधा

१. चेलेक् इन्द्रालय ।

खड़े होने में प्राय: बीस पम्प लगे और तब हनूमान् ने एक ऐसा धौल मारा उसके नितम्ब पर कि बेचारा फुटबाल सा दूर जा गिरा ।

यह कुछ क्षणों का पनकवनत्व दर्शकों को हर्षविभोर कर गया । नन्हें बच्चे, युवा, प्रौढ़, विद्वान्, स्त्री-पुरुष-सब एक ही मानसिकता में थे ! आनन्द का अखण्ड प्रवाह । उन्मुक्त हास्य के क्षण जो सारी थकान, नींद और ऊब को दूर भगा देते हैं ।

वस्तुत: जावा-बाली के आसूर्योदय प्रवर्तमान लम्बे वायांगों में इस हास्य की अनिवार्य आवश्यकता भी है । पालथी मार कर एक आसन पर बैठा डलंग सारी रात संवाद बोलता रहता है । रोना, गाना, हँसना, फटकारना, ललकारना थू करना, विस्मय प्रकट करना, युद्ध-हुङ्कृतियाँ, परिदेवन-सिसकियाँ—सब कुछ डलंग के ही माथे होती हैं । एक अद्भुत देवत्व-आवेग होता है डलंग के व्यक्तित्व में, जो पूरे विश्व में अन्यत्र उपलब्ध नहीं । नाट्यकला के कुलगृह भारत में भी नहीं । वायांग-अवधि में डलंग पूर्णत: देवव्यक्तित्व होता है ।

इस महान् दायित्व के कारण ही डलंग को जनरुचि का निरन्तर ध्यान रखना पड़ता है । कथानक में वह दृश्य हो अथवा न हो, दर्शकों को उद्विग्न होता देख, डलंग तत्काल पनकवनों को रंगमंच पर ठेल देता है और अगले कुछ ही क्षणों में दर्शक पुन: अगले एक घण्टे के लिए उत्कण्ठित एवं स्वस्थ हो जाते हैं । कलाकार भी इतने मँजे हुए तथा अभिनयपटु होते हैं कि पूरे दृश्य की **असम्बद्धता-अप्रासंगिकता** का बोध तक नहीं होने देते ।

परन्तु वायांग-कला के विकास के प्रारंम्भिक चरण में पनकवन् पात्रों का व्यक्तित्व कुछ और ही था । वे हास्य-सर्जक होने की बजाए अनिष्ट-नाशक, अमङ्गल- शामक एवं प्रेतविद्रावक होते थे । मिथकीय कथानकों का सेमार (कामदेव) एक ऐसा ही महापराक्रमी, दर्पोद्धुर एवं आभिचारिकशक्ति-सम्पन्न पनकवन् था । वह ऋतसत्य भञ्जक **काल** एवं उसके प्रत्यूह का महान् शत्रु था ।

हिन्दूयुगीन यवद्वीप में, विनाशक प्रेतशक्तियों का विद्रावण, धार्मिक संस्कारों का अनिवार्य अंग हुआ करता था। बालीद्वीप में यह प्रक्रिया जावा से भी अधिक बलीयसी थी, क्योंकि इस द्वीप का प्रेततंत्र (Witchcraft) अत्यन्त जटिल, दारुण एवं लोकमानस में संस्कारानुबद्ध था। इन प्रेतविद्रावक (Exorcist rites) संस्कारों ने ही अत्यन्त प्राचीन काल में वायांग-अभिनय को जन्म दिया। इन वायांगों के कथानक प्राय: **काल** के उद्भव-वृत्त पर आधारित होते थे जो कि समस्त दुष्प्रवृत्तियों का सर्जक है। संसार में व्याप्त सारा पाप, अत्याचार, अधर्म, छल-वञ्चना, रक्तपात, रोग-व्याधि ईति-भीति—इस काल की ही तो देन हैं। अतएव इस अन्यायी काल का नियमन तथा विनाश प्रदर्शित करना ही वायांगों का उद्देश्य था। सेमार आदि पनकवन् ऐसे वायांगों में नायक (भटार रुद्र, भटार इन्द्र आदि) के सहायक बन कर आते थे।

जैसा कि कहा जा चुका है, हिन्दुयुगीन वायांग की उस विशिष्ट प्रवृत्ति को परवर्ती युग में भी मुस्लिम रचनाधर्मियों ने जीवित रखा—मूर्वकाल-कोटि के वायांग ग्रंथों की संरचना करके। मूर्वकाल नाट्यग्रंथ, प्राक्-इस्लाम हिन्दू-संस्कारों के बदले परिवेष में, पुनर्जीवित होने के ज्वलन्त प्रमाण हैं बिना किसी विजातीय सम्मिश्रण के। यह जावी मुस्लिमों की सहिष्णुता एवं सहृदयता का अद्भुत प्रमाण है।[१] इस कोटि के जो भी वायांग १८वीं १९वीं, शती ई० में लिखे गये, सभी आभिचारिक एवं रहस्यात्मक हैं। कुछ तो गाँवों के वार्षिक महोत्सव, विवाहादि संस्कारों

---

१. एक ओर भारत में अब्दुल कादिर बदायूंनी जैसे लोग थे जो सम्राट् अकबर द्वारा आदेश दिये जाने पर भी महाभारत को **काफिरों का नापाक** ग्रंथ मान कर छूना भी पाप समझते थे, अनुवाद करने को कौन कहे ? दूसरी ओर जावा के मुस्लिम साहित्यकार थे, जो स्वयं अपनी काव्यभाषा को **कविमिरिंग** (अर्थात् अधःस्तरीय कविभाषा (Sloping Kawi) स्वयं को **पुजंग** (भुजंग अथवा सामान्य) तथा अपनी रचनाओं को **जर्वा** अथवा **सजर्वा** (आर्जव अर्थात् सीधा-सादा, सामान्य) कहते थे। म्पू (ऋषि) कहे जाने वाले प्राचीन कवियों के समक्ष वे स्वयं को नगण्य मानते थे ! यह विनम्रता एवं बौद्धिक ईमानदारी की पराकाष्ठा थी। अपने अतीत का यह स्वाभिमान आज भी मुस्लिम जावा में विद्यमान है।

तथा अन्य धार्मिक रूढ़ियों से सम्बद्ध हैं तो कुछ मूर्वकाल-वायांग भूकम्प-निवारण, भयावह अनावृष्टि में वर्षावाहन तथा महामारी आदि व्याधियों के प्रशमन से सम्बद्ध हैं ।

वस्तुतः मूर्वकालकोटिक वायांगों के पनकवन् **विदूषक** कम **पीठमर्द** अधिक लगते हैं । डच विद्वानों ने सेमार, प्रसान्त (वसन्त ?) आदि को पनकवन् तो अवश्य कहा परन्तु उस विषय में अपना कोई व्यक्तिगत दृष्टिकोण नहीं प्रस्तुत किया । चूंकि म्पू पनलुह ने ऐसा कहा, इसलिये सबने वही कहना प्रारंभ कर दिया । परन्तु यह तथ्य उल्लेखनीय है कि मूर्वकाल-वायांगों के पनकवन् तथा पाञ्जी-वायांगों के पनकवन् में जमीन-आसमान का अन्तर है । हैं तो दोनों सहायक नायक के परन्तु एक **युद्ध सचिव** (पीठमर्द) जैसा है और दूसरा **नर्मसचिव** (विदूषक) जैसा ।

हिन्दूयुगीन वायांगों के पनकवन् सस्ता हास्य कत्तई नहीं सिरजते ! वे तो वस्तुतः बल-विक्रम-पराक्रम, धैर्य, साहस, संयम तथा दुर्धर्ष युयुत्सा के जीवन्त प्रतीक है । पनकवन् का वह स्वरूप बाली के त्वालेन् एवं मरदह में आज भी यथावत् सुरक्षित हैं । इस प्रकार उसके चरित्र-विकास में एक क्रमिक ह्रास परिलक्षित होता है । धार्मिक वायांगों में वह तंत्र-मंत्र-पारग महायोद्धा है तो पाञ्जीप्रेमाख्यानों में नायक नायिका की सरल सुरत केलियों का निर्वर्तक और वर्तमान वायांगों में तो एकदम खिस्सू दारुकौशिक । इन दिनों वह ढेर सारे घटिया प्रदर्शन करने लगा है मात्र लोगों को हँसाने के लिये, जैसे हिन्दी कवि सम्मेलनों में भीड़ को उखड़ती देख, कुछ कवि **सस्ता चुटकुला** प्रारम्भ कर देते हैं !

पनकवन् पात्रों को कोरे धार्मिक-संस्कारों, पुरश्चरणों एवं अनुष्ठानों के बाड़े से बाहर निकाल कर, सर्वप्रथम म्पू पनलुह् ने सरस काव्य का अंग बनाया । घटोत्कचाश्रयककवीन में जुरुदेह, प्रसान्त तथा पुन्त कथानायक अभिमन्यु के प्रिय मित्र एवं अन्तरंग सहायक के रूप में आते हैं । अभिमन्यु, कृष्ण एवं रुक्मणी की पुत्री शितिसुन्दरी के प्रेम में आसक्त हो, उससे विवाह करना चाहता है । परन्तु बलदेव इस सम्बन्ध के विरुद्ध हैं । फलतः अभिमन्यु कार्यसिद्धि के लिये भीमपुत्र घटोत्कच का आश्रय लेता है । संक्षेप में यही ककवीन का कथासार है ।

गोकि म्पू पनलुह की कृति वायांग (नाट्य) नहीं है, वह एक विशुद्ध छन्दोबद्ध काव्यकृति है। फिर भी इस रचना में प्रथम बार हम पनकवन् पात्रों में उसके पीठमर्दीय एवं विदूषकीय गुणों का मिथः संग्रथन पाते हैं। वे कभी उन्मुक्त हास्य की सृष्टि करते हैं, ऐसा हास्य जो कि धैर्य एवं गाम्भीर्य की सीमा पार कर जाता है। परन्तु दूसरे ही क्षण वे समुन्नत मंत्रणाओं के अक्षय-स्रोत प्रतीत होते हैं।[१] इस बिन्दु पर जावी पनकवन् शतप्रतिशत संस्कृत के विदूषकों के समकक्ष हैं। परन्तु जैसा कि पहले भी कह चुका हूं कि विदेशी समीक्षक स्पष्ट शब्दों में भारत की **उत्तमर्णता** नहीं स्वीकार करते। एक ओर वे पनकवनों का उदय, जावा की प्राक् हिन्दुयुगीन मिथकीय कथाओं तथा जन-जातीय प्रवृत्तियों से मानते हैं तो दूसरी ओर उसे आयातित हिन्दू-संस्कृति के जावीकरण का परिणाम भी मानते हैं।[२]परन्तु सत्य सहृदयों से छिपा नहीं है।

एक और विचारणीय प्रश्न है। वह यह कि यदि म्पू पनलुह को पनकवन् पात्र की प्रेरणा सचमुच संस्कृत-नाटकों से मिली तो उसने संस्कृतनाट्यपरम्परा के विरुद्ध उनकी संख्या तीन क्यों रखी? **एक** क्यों नहीं?

इसका समाधान दो प्रकार से सम्भव है। एक तो यह कि आभिचारिक एवं तान्त्रिक हिन्दू-संस्कारों में तथा तदाश्रित वायांगों की प्रस्तुति में भटार इन्द्र, भटाररुद्र,

---

१. The spiritual affiaity between childish foolishness, deceipt and divine wisdom, which surpasses human understanding becomes apparent in these panakawan scenes. – Dr. Pigeaud, Lit of Java, Vol. I.p 185

२. Probably the panakawans of 12th century narrative Court literature are borrowed from centemporaneous folk-tales and folk-tales contain element of ancient myths, explaining the origin of cosmic and social orders in pristine tribal society......By the introduction of the clowns into high literature mpu Panaluh marked the period of Javani = zation of imported Indian Culture. – Dr. Pigeaud, Lit of Java, Vol I.p. १८५

भटार विष्णु आदि के सहायक **एक** नहीं **कई** (स्मर, वसन्त, विद्याधरी) होते थे। अतएव पूर्वपरम्परा के निर्वाहार्थ पनलुह ने भी उन्हें अधिसंख्य रखा, प्रायः उन्हीं नामों (सेमार, प्रसान्त आदि) के साथ।

एक कारण यह भी समझ में आता है कि संस्कृत-नाटकों में भी कई पात्र नायक के **सहायक** होते हैं— जैसे विदूषक, पीठमर्द, पुरोहित, सेनापति। सम्भवतः इस प्रवृत्तिसाम्य के कारण **कई** पनकवनों की अवतारणा पनलुह को युक्तियुक्त प्रतीत हुई हो। यदि हास्य एवं मनोरञ्जन को ही प्रमाण माना जाय तो भी उसका स्रोत अकेला विदूषक ही नहीं, विट-चेट-मारिष-माथुर-सभिक-वर्षवर आदि अन्य पात्र भी हैं।

वस्तुतः जैसे जावा-बाली के वायांग का डलंग, परमार्थिक रूप से संस्कृत नाटकों का **सूत्रधार** नहीं प्रत्युत **सूत्रधार-सरीखा** पात्र है, ठीक उसी प्रकार पनकवन् भी **परमार्थतः विदूषक** नहीं बल्कि **विदूषक-सरीखे** पात्र हैं। भारत से आयातित होने के बावजूद भी इन पात्रों के स्वरूप-विकास में, यवद्वीपीय महान् ककवीनकारों, वलीसन्तों तथा पुजंगों की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का असाधारण योगदान है। यवद्वीप तथा बाली की जनरुचि तथा सामाजिक परम्परा के अनूकूल ही इन पात्रों का चरित्र विकसित हुआ। अतएव भारतीय विदूषक से उनका पार्थक्य होना स्वाभाविक ही है।

जावी मूर्वकाल (आभिचारिक) वायांग के पारम्परिक स्वरूप को बालीद्वीप ने अद्यावधि संजो रखा है। बाली में पनकवन् को परेकान् कहते हैं। जैसे सेमार आदि जावी के आदिम पनकवन् हैं, उसी प्रकार बालीद्वीप में भी **त्वालेन्** आदिम मिथकीय-परेकान् है। बाली के महातांत्रिक डलंगों ने परेकान्-परम्परा का अद्‌भुत ढंग से विकास किया।

बाली के डलंगों की पहली मौलिक देन तो यह है कि उन्होंने परेकान् की व्यवस्था नायक तथा खलनायक दोनों ही पक्षों में की। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दोनों ही पक्षों के परेकान् जोड़े में हैं (तीन या चार नहीं)। दोनों पक्षों के परेकान्-पात्रों के रूढ़ नाम हैं। नायकपक्षीय पनकवन् हैं—त्वालेन तथा मरदह, जो

कि पिता और पुत्र हैं। खलनायकपक्षीय पनकवन् हैं—देलम् तथा संगुत, जिनके सम्बन्ध (पिता-पुत्र अथवा स्वामी-सेवक) स्पष्ट नहीं हैं।

त्वालेन विशुद्ध मिथकीय पात्र है। उसका उद्‌भव भी दिव्य माना जाता है। बाली के **तुतुर्** (तत्त्वशास्त्र, दर्शन) की व्याख्या के अनुसार अचिन्त्य (अतिन्तिय) परमेश्वर ने स्वयं को त्रिदेवों में विभक्त किया—रुद्रशिव, ब्रह्मशिव तथा सदाशिव (विष्णु)। विकास के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ चरण में उन्होंने स्वयं को भटारों (इन्द्रादि देवों), कवितानों (पितरों) तथा सम्पूर्ण मर्त्य प्राणियों के रूप में विभक्त किया।

त्वालेन् भी अतिन्तिय का ही पुत्र था, फलत: बाली की परम्परा में वह शिव का भाई माना जाता है। परन्तु अपनी जिह्वालोलुपता के कारण व्यञ्जनप्रेमी त्वालेन् ने **देवत्व** ग्रहण नहीं किया। उसने देवताओं के लिए निषिद्ध अनेक मर्त्य व्यञ्जन-पकवान खाये। अपने इस प्रमाद के कारण वह भटार-कोटि में नहीं आ सका।

परन्तु **देवत्व** जैसी दुर्लभ-स्पृहणीय प्रतिष्ठा त्यागने की क्षतिपूर्ति, भगवान् अतिन्तिय ने त्वालेन् को अप्रतिहत तंत्रशक्ति देकर की। वह अजेय है। वह बाली के भाग्य को बदलने की क्षमता रखता है। अतिवृष्टि, अवृष्टि, महामारी, भूकम्प, भूभ्रंश, ज्वाला-मुखोद्गार, रोगव्याधि—किसी भी राष्ट्रीय विपत्ति का शमन करने में त्वालेन् समर्थ है।

विभिन्न वायांग-कथानकों में विभिन्न व्यक्ति त्वालेन्-मरदह् तथा देलम्-संगुत् का अभिनय करते हैं। यदि रामकथा है तो हनुमान्-मकरध्वज त्वालेन् एवं मरदह तथा शुक-सारण देलम्-संगुत् का अभिनय करेंगे। यदि वायांग महाभार-ताश्रित है तो व्यवस्था भिन्न होगी। ऐतिहासिक कथानक है तो भी व्यवस्था पृथक् होगी।

परन्तु त्वालेन आदि को दर्शक उनकी पारम्परिक वेषभूषा से ही पहचान लेते हैं। वायांग-कुलित (चर्मपुत्तलिकाओं से अभिनीत नाट्य) में त्वालेन् सिर से

पैर तक काले रंग का, दैत्याकार, कुम्भोदर तथा तांत्रिक भयावहता से ओतप्रोत होता है । उनका प्रतिद्वन्द्वी देलम् भी विस्तृत जबड़ों तथा दारुण नेत्रों वाला, तुन्दिल, ठिगने पैरों वाला तथा एकदम लाल रंग का होता है । यह तो हुआ वायांगों (पुतलियों) का स्वरूप, चाहे वे **कुलित**(चमड़े की) हों, चाहे **गोलेक्**(काठ की), चाहे **बेबेर्**(चित्राङ्कित), चाहे **क्लितिक्** (चिपटे काष्ठफलक की) । यदि वायांग-वांग (मुखौटाधारी पुरुषों एवं महिलाओं द्वारा सम्पन्न) है तो भी परेकान् पात्रों की वेष-भूषा यही होगी ।

त्वालेन् अर्धदेव-सरीखा है । वह ऋत-सत्य का पक्षधर है, दक्षिणपंथी है जबकि देलम् असत्य,अधर्म, अन्याय तथा समस्त निषेधात्मक प्रवृत्तियों का पोषक है । फलतः त्वालेन् अपने संघर्ष में चाहे कितनी ही मार खाये, कितना ही संशयित-प्राण क्यों न हो, अन्तिम विजय उसी की होती है । वस्तुतः बाली के दर्शक नायक-खलनायक को नहीं, मात्र त्वालेन् और देलम् का कौतुक भरा संघर्ष देखने आते हैं । बाली के दैवी-प्रतिभा-सम्पन्न डलंग अपने काकु-करम्बित कण्ठ की शत-शत भंगियों से ऐसा अद्‌भुत वाचिक अभिनय करते हैं कि वायांग-प्रस्तुति में दर्शक विगलित वेद्यान्तर हो उठता है !

बाली की जनता आज भी मलतकुंग (प्रेमाख्यान), बाबद (ऐतिहासिक वृत्त) अथवा वायांग-ओरंग (अभिनेता-अभिनेत्रियों द्वारा सम्पन्न नाटक) में अभिरुचि नहीं रखती । उसकी अभिरुचि एकप्रख्य है—आभिचारिक वायांग की दिदृक्षा ।

बाली की परम्परा में नृत्य, गीत, वाद्य एवं नाट्य-सब कुछ परस्पर समन्वित है । तारी-तारियान् (नृत्य) , लगु (गीत), पेलेगोगंन् (आर्केस्ट्रा) तथा वायांग (नाट्य) एक ही साथ प्रारंम्भ होता है । सम्प्रति बाली में प्राय: सत्रह प्रकार के नृत्य-नाट्य भेद लोकप्रिय हैं—लेगांग, ज़लोन्-अरंग, बारोंग, जौक, जोदेग, मेन्देत, संघयांग, वायांग-कुलित, वायांग वांग, बरीस गांग, टोपेंग गांग, केबियार गांग, गम्बुह, आर्जा, जंगर, केचाक् तथा बारोंग लन्दोंग ।

उपर्युक्त नृत्यनाट्य-विधाओं में से अनेक ऐसे हैं, जिनका आज भी मनोरञ्जन-मात्र के लिए सार्वजनिक प्रदर्शन नहीं होता । जलोन्-अरंग, बारोंग, मेन्देत तथा संघयांग-विशुद्ध रूप से या तो मन्दिर-नृत्य (temple dance) हैं या फिर

किसी धार्मिक संस्कार के अंग । संघयांग-नृत्य पमंकू (पुजारी) द्वारा, दिव्यदृष्टि से चुनी गई, देवत्व के आवेश से ओतप्रोत अल्पवय कन्याओं द्वारा, भावातीत मनःस्थिति में, दहकते अंगारों पर सम्पन्न होता है ।

जलोन्-अरंग नृत्यनाट्य का कथानक प्रेताधीश्वरी रांगडा तथा महातांत्रिक भराड के संघर्ष पर आधारित है । यह वायांग-भेद बाली में सर्वथा निषिद्ध-सा है, क्योंकि कठिन साधना करने के बावजूद भी, रांगडा की भूमिका निबाहने वाले व्यक्ति उसका **आवेश** न सह पाने के कारण या तो जीवन भर के लिए विक्षिप्त हो जाते हैं या फिर कालकवलित हो उठते हैं । मात्र **उबुद** कस्बे के एक मन्दिर में यह नृत्यनाट्य सकुशल सम्पन्न होता है, विशुद्ध धार्मिक-अनुष्ठान् के रूप में । यह प्रस्तुति प्रेताधीश्वरी रांगड़ा (बाली नरेश उदयन की सम्राज्ञी महेन्द्रदत्ता) के ही आशीर्वाद से, उसी के परितोषार्थ वर्ष में एक बार सम्पन्न होती है ।

इन कथानकों के परेकान् (पनकवन्) सर्वथा अतिमानवीय पात्र हैं । अभिनय से पूर्व, मंत्रतंत्र-दक्ष, मविन्तेन् (शुद्धीकरण) आदि संस्कारों से संस्कृत किसी समर्थ पेडण्डा के निर्देशन में अभिनेताओं को प्रभूत साधना करनी पड़ती है, ताकि वे उन अतिमानवीय पात्रों का आवेश बर्दाश्त कर सकें । फिर भी दुर्घटनाएँ घट ही जाती हैं । रांगडा का मुखौटा लगाते ही पात्र के आक्रामक एवं अनियंत्रित होने की बात बाली के अनेक ग्रामवृद्धों ने बताई ।[१]

इसप्रकार रहस्य-रोमाञ्च एवं प्रभावी पुरोहिततंत्र से ओत-प्रोत बालीद्वीप में आज भी **वायांग-प्रस्तुति** मात्र मनोरञ्जन के लिए कभी नहीं होती, फिर भी प्रायः आये दिन होती रहती है यह विचित्र तथ्य है ।

वस्तुतः वायांग (किसी भी कोटि का) का प्रर्दशन बाली में प्रायः **ओडोलान्** (मन्दिरमहोत्सव) के अवसर पर अथवा मतलुबुलान्-मविन्तेन् (शुद्धीकरण), मेटा-टाह् (दन्तशोधन) आदि गृह-संस्कारों के अवसर पर ही होता है । प्रत्येक मन्दिर का ओडोलान् वर्ष में दो बार, उसकी स्थापना-तिथि पर होता है और मन्दिर भी बाली

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य लेखक का अन्य निबन्ध—बालीद्वीप की रंगमञ्चीय परम्परा अतीत एवं वर्तमान (नाट्यम्, संस्कृतविभाग सागर यूनिवर्सिटी) ।

के प्रत्येक गांव में अनिवार्यतः चार होते हैं—पुरा दलिम् (शिवमन्दिर), पुरा पुसेह्, (विष्णुमन्दिर), पुरा देसा (ब्रह्मामन्दिर) तथा पुरा दद्या (प्रत्येक जाति का पृथक् पितरमन्दिर जहां सारे गृहसंस्कार सम्पन्न होते हैं।

अब आप कल्पना करें कि बालीद्वीप की क्या स्थिति होगी ? हर रात द्वीप के किसी न किसी मन्दिर में वायांग-प्रदर्शन होता ही रहता है।

इधर **टोपेंग-गांग** बाली में लोकप्रियता के शिखर पर है। यह विशुद्ध प्रहसन-कोटि की मञ्चप्रस्तुति है। प्लास्टिक के चित्र-विचित्र मुखौटे लगाये चार-पांच पनकवन् जैसे ही पात्र, पेलेगोंगन की ठुमक पर क्रमशः मञ्च पर प्रवेश करते हैं और वर्तमान सन्दर्भों का हवाला देते हुए अद्‌भुत **वाकोवाक्यम्** प्रस्तुत करते हैं। हंसते-हंसते लोग लोटपोट हो जाते हैं। जेम्ब्राना रिजेंसी की राजधानी **नगर** में उदयन यूनिवर्सिटी के छात्रों का एक शिविर कार्यरत था। समापन-समारोह की रात छात्रों के आग्रह पर मैं भी गया—टोपेंग-प्रस्तुति देखने। चतुर कलाकारों ने पता नहीं किस स्त्रोत से मेरे बारे में जान लिया। उन सबने मुझे संकेतित करके, सारे दर्शकों को मेरा परिचय दिया। परन्तु परिचय में जब एक पात्र ने पूछा कि **वही इण्डिया जहां सिख खालिस्तान मांग रहे हैं ?** तो सारे दर्शक अट्टहास करने लगे, परन्तु मेरा मन विषाद से भर गया। हास्य में अन्तर्निविष्ट राष्ट्र की अवमानना चुभ गई। अवसर नाजुक था, मैं कौन प्रतिवाद करता ?

षोडश अध्याय

बालीद्वीप के लोकनृत्य

उत्तर में दक्षिण-पूर्व एशिया के देश— वियतनाम (चम्पा), कम्पूचिया (कम्बुज), थाईलैण्ड (द्वारावती, सुखोदय, अयोध्या), मलेशिया (कटाहद्वीप) तथा बर्मा (सुवर्ण भूमि), दक्षिण में आस्ट्रेलिया, पश्चिम में अन्दमान-नीकोबार, भारत तथा श्रीलंका तथा पूर्वमें हवाईद्वीप एवं अमेरिका— इस विशाल सीमा से घिरा ५१५२ कि० मी० लम्बा (पूर्व-पश्चिम) तथा १७७० कि०मी० चौड़ा (उत्तर-दक्षिण) प्रशान्त महासागर का क्षेत्र सम्प्रति इण्डोनेशिया कहा जाता है। इस सागरक्षेत्र में १९०५४४३ वर्ग कि०मी० क्षेत्रफल के १३६७७ छोटे-बड़े द्वीप इण्डोनेशिया-राष्ट्र के महाव्यक्तित्व के अंग हैं। इनमें प्राय: तीन हजार द्वीप ही आबाद हैं और उनमें भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण द्वीप वे हैं जो राजनैतिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक एवं मिथकीय दृष्टि से महनीय हैं तथा बृहत्तर-भारत के अंग रहें हैं। वे प्रमुख द्वीप हैं— सुमात्रा, जावा, बाली, कालीमन्तान (बोर्नियो), लोम्बोक, सुम्बा, सुम्बावा, सरेस, तिमूर, सुलावेसी, मालुकू तथा ईरियञ्जय।

ईसा की प्रथम शती से लेकर १५वीं तक ये समस्त भूखण्ड हिन्दू राजवंशों के अधीन पुष्पित-पल्लवित होते रहे हैं। अत एव इस्लामधर्म स्वीकार कर लेने के बावजूद भी, इन क्षेत्रों में रामायण-महाभारतमूलक भारतीय संस्कृति, जनजीवन में आज भी यथाकथंचित् प्रभावी है। तीज-त्यौहार, कर्मकाण्ड, उपचार-संस्कार तथा लोकपरम्पराओं में भरतीयता का गहरा रंग अभी भी अवशिष्ट है। इन समस्त द्वीपों में यवद्वीप (जावा) का हिन्दू-साम्राज्य सर्वाधिक स्थिर एवं प्रतापसम्पन्न रहा। मतराम, कडिरी, सिंहसारि तथा मजपहितवंशी यव-भूपतियों ने भारतीय नरेशों के

ही समकक्ष समुन्नत आदर्श स्थापित किये— कला, साहित्य एवं स्थापत्य को संरक्षण प्रदान कर ।

मध्यकालीन इस्लामीकरण की भयावह वात्या में नन्हा-सा बालीद्वीप एकदम सुरक्षित बच गया– यह भी ऐतिहासिक आश्चर्य ही है । आज भी २१०x१२० कि०मी० क्षेत्रफल वाला, प्रायः तीस लाख निष्ठावान् शैव हिन्दुओं का गढ़ बालीद्वीप प्रशान्तसागर का **प्राच्यभारत** कहा जा सकता है ।

मध्यवर्ती मात्र तीन कि०मी० लम्बे समुद्र से पृथग्भूत जावा तथा बाली मात्र शरीर से भिन्न, किन्तु आत्मा से एक हैं । दोनों द्वीपों का चिन्तन-धरातल प्राय: डेढ़ सहस्र वर्षों तक समान रहा है । दोनों द्वीपों का साहित्य तथा संस्कृति भी अभिन्न रही है । प्राचीन सुवर्णद्वीप के नेत्रयुगल के समान जावा तथा बाली सम्पूर्ण बृहत्तर भारत को चिरकाल तक भारतीय जीवन-दृष्टि का सन्देश देते रहे हैं ।

प्रस्तुत अध्याय में दोनों द्वीपों के कुछ प्रमुख लोकनृत्यों की समीक्षा कर रहा हूँ । नवयुगीन यातायात की सुविधाओं के कारण, अनेक लोक-नृत्य, जो मूलतः अन्य द्वीपों की उपज हैं, अब वे भी बाली और जावा में लोक-प्रिय बन गये हैं । कुछ ऐसे भी नृत्यों का समवेश इस निबन्ध में करूँगा ।

लोकनृत्य का क्या तात्पर्य है ? शास्त्रीय नृत्य से वह किस प्रकार भिन्न है ? वस्तुतः सुवर्णद्वीपीय परिवेश में लोक एवं शास्त्र का भेद बहुत स्पष्ट नहीं है । यहाँ उस प्रकार का न तो सैद्धान्तिक-स्तर पर गहन चिन्तन हुआ और न ही व्यावहारिक स्तर पर तदनुकूल दो भिन्न किन्तु समानान्तर परम्पराएँ भी प्रवर्तित हो पाई । साहित्य, संस्कृति, शास्त्र, स्थापत्य एवं मिथक-सब कुछ यहाँ भारत से ही आया । अतएव उन सब की कृत्रिम वाटिकाएँ तो इन द्वीपों में तैयार हो गईं परन्तु निसर्गजात गहन कान्तार नहीं बन सके ।

शास्त्रीय नृत्य सानुबन्ध होता है जब कि लोकनृत्य सर्वथा निर्बन्ध होते हैं । **शास्त्र का अर्थ ही है–सिद्धान्त** अथवा नियमन । परन्तु लोक सिद्धान्त अथवा नियम **कहाँ मानता है ? उसकी स्वच्छन्द** गतिविधि से कितने ही रीति-नियम नित्य प्रति

टूटते रहते हैं। नृत्य के सन्दर्भ में भारतीय प्रज्ञा के आदिपुरुष आचार्य भरत ने कितना सूक्ष्म विवेचन किया है। करण, अंगहार, चारीविधान आदि की अद्भुत वैज्ञानिक समीक्षा नाट्यशास्त्र में हमें मिलती है।

आचार्य भरत ने स्वयं नृत्य के दो भेद स्वीकार किये है— लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी। नाट्यधर्मी नृत्य ही शास्त्रीय नृत्य है, जिसमें ६ अगों, नौ प्रत्यंगों तथा बारह उपांगों[१] के सुव्यवस्थित संचालन का विधान बताया गया है। अंगों में भी, एक-एक अंग के भेद-प्रभेदों की अद्भुत सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक व्याख्या की गई है, उदाहरणार्थ—हस्त (अंग) के अन्तर्गत २४ असंयुतहस्त, १३ संयुतहस्त तथा ३० नृत्तहस्तों की व्याख्या की गई है। इसी प्रकार, नृत्य में शीर्षसञ्चालन के भी १९ भेदों की व्याख्या अत्यन्त रुचिकर एवं सहज प्रतीत होती है।

नाट्यधर्मी अथवा शास्त्रीय नृत्य की ऐसी सुव्यवस्थित, सुचिन्तित एवं वैज्ञानिक पृष्ठभूमि, जावा-बाली में ही क्या, सम्पूर्ण विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं है। परन्तु सामान्य लोकनृत्यों (Folkdances) से सर्वथा पृथक्, भारतीय शास्त्रीय नृत्य के थोड़ा-बहुत निकट, एक अन्य नृत्य-परम्परा भी प्राय: विश्व के समस्त देशों में विद्यमान है, जिसे हम **शास्त्रीय** तो नहीं, परन्तु पारम्परिक नृत्य (Traditional dances) की संज्ञा दे सकते हैं।

पारम्परिक नृत्यों की पृष्ठभूमि प्राय: मिथकीय, धार्मिक अथवा सांस्कारिक होती है। यह तथ्य बाली तथा जावा के सन्दर्भ में शत-प्रतिशत सच है। अधुनातन

---

१. अंगान्यत्र शिरोहस्तौ वक्षः पार्श्वे कटीतटम्।
पादाविति षडुक्तानि स्कन्धावप्यपरे जगुः॥
प्रत्यंगानि त्विह ग्रीवा बाहू पृष्ठं तथोदरम्।
ऊरू जंघे षडित्याहुरपरे मणिबन्धकौ॥
जानुनी भूषणानीति त्रयमभ्यधिकं जगुः।
दृष्टिर्भूपट्ताराश्च कपोलौ नासिकाऽनिलः।
अधरो दशनो जिह्वा चिबुकं वदनं तथा॥
उपांगानि द्वादशेति शिरस्यंगान्तरेषु तु॥—नाट्यशास्त्रसंग्रहः।

सभ्यता एवं संस्कृति की चमक-दमक से सर्वथा अप्रभावित, विश्व के प्राय: समस्त राष्ट्रों की जनजातियों एवं कबीलों ने अपने रहस्यमय संस्कारों तथा मिथकों को नृत्यों के रूप में संजो रखा है । ये मिथकीय अथवा सांस्कारिक नृत्य, भारतीय नाट्यधर्मी नृत्यों के ही समान नियमबद्ध, अपरिवर्तनीय, असंशोधनीय तया रूढ़ हैं ।

बालीद्वीप में प्रतिष्ठित सांघयांग तथा मेन्देत नामक मन्दिर-नृत्य (Temple dances) इसी कोटि के हैं । ये नृत्य मात्र मन्दिरमहोत्सव (Odalan) के अवसर पर तथा मात्र मन्दिर के स्त्री-पुरुष पुजारियों द्वारा (Pamangkus) सम्पन्न किये जाते हैं । इसी प्रकार बाली का विश्वविख्यात आभिचारिक (Exorcist dances) नृत्य **जलोन अरंग अथवा रांगडा नृत्य** भी, जिसकी भयावहता के कारण इण्डोनेशिया-शासन ने उस पर निषेधाज्ञा लगा रखी है, विशुद्ध मिथकीय नृत्य हैं ।

जावा तथा बाली के ऐसे ही मिथकीय, सांस्कारिक अथवा अन्य पारम्परिक नृत्यों को मैं अनौपचारिक रूप से, भारतीय पद्धति के समकक्ष, **शास्त्रीयनृत्य** की संज्ञा देना चाहूँगा । इस सन्दर्भ की विस्तृत समीक्षा एक अन्य निबन्ध में कर चुका हूँ ।[१]

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बाली के सुधी-समाज में अपने शास्त्रीय नृत्यों की स्पष्ट अवधारणा ही नहीं है । सच तो यह है कि अपने देश, काल एवं संस्कृति की सीमा में सीमित रहते हुए भी बाली के कलाविद् आचार्यों ने द्वीपीय नृत्यों का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है । नृत्यों के अनेकविध वर्गीकरण के अनुसार बाली के नृत्य तीन प्रकार के हैं—

१. तारी वाली (Tari wali or Sacred dance)

२. तारी बेबाली (Tari Bebali or Ceremonial dence)

---

१. सविस्तर द्रष्टव्यः—बाली का रंगमञ्च— अतीत एवं वर्तमान । नाट्यम्, २१वीं प्रस्तुति । सागर वि० विद्यालय ।

३. तारी बेवालिहान् अथवा तारी बालीह-बालिहान् (Tari Babalihan, Balih Balihan or Profane dance)

जावा तथा बाली में नृत्य के लिये **तारी** शब्द प्रचलित है। प्रायः बहुवचन में ही प्रयुक्त होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक सहज एवं सुपरिचित संज्ञा है— तारीतारियान (Tari-Tarian), वाली का अर्थ है— नैवेद्य अथवा देवभोग (Banten Jepit)। इसीलिये वाली-कोटि के नृत्य बालीद्वीप में हिन्दू धर्म के अविच्छेद्य अंग हैं। इनकी प्रस्तुति, मात्र मनोरञ्जन के लिये, कभी सम्भव नहीं है। बेबाली-कोटि के नृत्य भी धार्मिक महोत्सवों-ओडालान् गलुंगान्, कुनिंगान्, हरि राय सरस्वती, पूजा पञ्चबलिक्रम (= कर्म) आदि से जुड़े होने के कारण, विशेष अवसरों पर विशेष पात्रों द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, मेन्देत नृत्य में पुरुष तथा महिला मन्दिर-पुरोहित हाथों में **पवित्र-जल** (Toya Amirta) तथा नैवेद्य (Banten) लिये हुए ही नृत्य करते हैं और नृत्य करते-करते ही उन्हें विभिन्न देवपीठों (Palingah) पर अर्पित करते जाते हैं।

बालिहान्-कोटि के नृत्य मिथकों तथा धर्मसंस्कारों से नहीं जुड़े होते। वस्तुतः वे धर्मनिरपेक्ष (Secular or Profane) होते हैं तथा किसी ऐतिहासिक कथानक पर आधारित होते हैं। लेगांग केरातोन् (Legong Keraton) इस कोटि का सर्वाधिक प्रख्यात ऐतिहासिक प्रणय-नृत्य है।

लेगांग नर्तक को कहते हैं। वस्तुतः यह शब्द ओलेग् (Oleg) तथा गांग् (Gong) का समन्वय है। ओलेग् का अर्थ है— कोमल अंगचेष्टा (Tender movements)। यह ओलेग् भरत की नाट्यशास्त्रीय अंग-प्रत्यंग-उपांगमुद्रा के समान सुव्यवस्थित तो नहीं है, परन्तु व्यवहार में शत-प्रतिशत है उसी के समान। नर्तक-नर्तकियां ओलेग् की शिक्षा अनुभवी गुरुजनों से प्राप्त करते हैं। नाट्यशास्त्र जैसा तद्विषयक कोई ग्रंथ बाली में नहीं लिखा गया। प्रत्येक गांव के बंजार में नृत्य की शिक्षा व्यवस्थित रूप से दी जाती है। प्रायः गाँव की प्रत्येक युवती तथा युवक नृत्यकला में दक्ष होता है। गांग एक वाद्य का नाम है।

इस प्रकार, मधुर वाद्यध्वनि पर कोमल मुद्राभिनय करने वाले नर्तक अथवा नर्तकी को बाली-जावा में **लेगांग** कहा जाने लगा।

केरातेन् नृत्य में दो लेगांग मञ्च पर प्रवेश करते हैं— खलनायक लासेम (Lasem) तथा राजकुमारी रंकसारी (Rangkasari)। लासेम ने दह (जावा के कडिरीवंशीय भूपतियों की राजधानी कडिरी का प्राचीन नाम) की राजकुमारी का बलात् अपहरण कर लिया है। उसके सारे प्रयत्नों के बावजूद भी कुमारी उसका प्रणय-प्रस्ताव स्वीकार नहीं करती। अन्तत: राजकुमारी का पति, कहुरिपन् (जावा के सिंहसारिवंशी राजाओं की राजधानी सिंहसारि का प्राचीन नाम) का युवराज रक्षा-हेतु आ पहुँचता है और लासेम को मार कर रंकसारी (रंगश्री) का उद्धार करता है। युद्ध और वध के दृश्य मंच पर नहीं प्रस्तुत किये जाते हैं।[१]

वाली, बेबाली तथा बेबालिहान्— तीनों कोटि के नृत्य बाली में शास्त्रीय कोटि (Classical) के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु इन नृत्यों का स्वरूप कभी-कभी परिवर्तित भी हो जाता है। यह सब, बाली में विदेशी पर्यटकों की भारी भीड़ तथा समाजिक-धार्मिक विघटन के कारण सम्भव हुआ है। प्राय: कलापरिषदों के व्यवस्थापकों ने अर्थोपार्जन के लिये अनेक लोकप्रिय **वाली-बेबाली** कोटि के नृत्यों को बेबालिहान् में बदल लिया है। आज आप कुटा, सानुर, नूसादुआ, चण्डीदास तथा सिंगराजा सागरतटीय विहारक्षेत्रों (Beaches) तथा उबुद कस्बे में, बाली के विशाल पर्यटक-होटलों में प्रति शनिवार की रात में सांघयांग, मेन्देत, बरीस, बारोंग तथा खड्ग नृत्य (Tari Kedutari or Criss dance) जैसे दुर्लभ नृत्यों

---

१. २९ नवम्बर ८८ को मैंने यह नृत्यप्रस्तुति उबुद कस्बे में देखी। यह नृत्य पेलियातन् गांव की प्रख्यात कलापरिषद् के द्वारा प्रस्तुत किया गया था, जिसके अध्यक्ष (Ketua) श्री आनक अगुंग राका, उबुद-राजवंश के कलाप्रेमी सदस्य हैं। उनकी पत्नी श्रीमती बिरयानी उदयन वि० वि० के आर्कियालोजी विभाग में प्राध्यापिका हैं। मैं तीन दिन उनके घर अतिथि रूप में रहा। नृत्यविषयक उपर्युक्त सारी सूचनाएँ मुझे श्री आनक अगुंग ने दी, यदर्थ में उनका हृदय से आभारी हूँ।

को भी, उन्मुक्त वातावरण में देख सकते हैं । परन्तु दोनों स्थितियों में मौलिक अन्तर है ।

वास्तविक मेन्देत तो पुरोहितों द्वारा मात्र ओडालान् के अवसर पर मन्दिर में सम्पन्न होता है, परतु कृत्रिम मेन्देत नर्तक युवतियों द्वारा किसी भी रंगमञ्च पर । नर्तकियाँ **तोय-अर्मित** तथा **बण्टेन्** की जगह हाथ में पुष्पस्तवक एवं कलापूर्ण व्यजन लेकर नृत्य करती हैं तथा नृत्य की समाप्ति पर, दर्शकों पर पुष्पवृष्टि करती हुई, जवनिका में विलीन हो जाती हैं ।[१]

खड्गनृत्य मूलतः बाली के शासन-प्रतिषिद्ध आभिचारिक नृत्य **जलोन् अरंग** का ही एक विशिष्ट दृश्य है । बारोंग (महातांत्रिक भराड) अपने अनुयाइयों को खड्ग लेकर भेजता है, प्रेताधीश्वरी रांगडा (मूलतः बाली नरेश उदयन की पत्नी सम्राज्ञी महेन्द्रदत्ता) के वधार्थ । परन्तु कापालिक तंत्र में दक्ष रांगडा, बारोंग की तंत्रशक्ति का प्रतिविनियोग कर देती है, फलतः बारोंग के अनुयाई खड्गों को अपने ही उदर में भोंक लेते हैं और मर जाते हैं । जलोन्-अरंग की प्रस्तुति जब पूरे विधान से होती है तो (आज भी) बारोंग-पक्षीय नर्तक खड्ग शरीर में भोंक कर रक्तरंजित हो उठते हैं । अनेक सप्ताहों की कठिन तंत्र-साधना के कारण, न उन्हें पीड़ा होती है, न ही भय । बाद में सामान्य उपचार-मात्र से वे भले-चंगे भी हो जाते हैं ।[२]

परन्तु अब पर्यटकों के लिये जो खड्गनृत्य होता है, उसमें खड्ग भोंकने का लोमहर्षक अभिनय मात्र हेता है । कलापटु नर्तक भयावह तथा करुण भावभंगियों से ऐसा स्वाभाविक अभिनय करते हैं मानो खड्ग देह में आर-पार हो उठा हैं । परन्तु ऐसा कुछ होता नहीं है ।

---

१. मेन्देत यद्यपि मन्दिर-महोत्सव से सम्बद्ध एक शास्त्रीय नृत्य है। परन्तु जब उसे धर्मनिरपेक्ष (Profane) रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब यह भी मण्डप में उपस्थित दर्शकों के लिये स्वागतनृत्य (Welcome dance) बन जाता है ।

२. मेक्सिकन यात्री माईकेल कबरूबियास ने वास्तविक खड्गनृत्य देखने का विवरण दिया हैं। अतएव स्पष्ट है कि १९३३ ई० तक बाली में ये नृत्य सचमुच सम्पन्न होते थे।

बाली के शास्त्रीय-नृत्यों का यह रूपान्तर सम्भवत: इण्डोनेशिया-शासन द्वारा बालीद्वीप को पर्यटनकेन्द्र बनाने के साथ हुआ। वर्तमान शती के छठें दशक में (राष्ट्रपति सुकर्ण के समय में) यह सांस्कृतिक विघटन हुआ।[१]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय शास्त्रीय नृत्यों के समान जावा तथा बाली में शास्त्रीय-नृत्य नहीं है तथापि देवसमर्चना एवं मन्दिर-महोत्सवों से जुड़े ऐसे अनेक पारम्परिक नृत्य अवश्य हैं जिनकी कुछ ऐसी रूढ़ियाँ हैं जो प्राचीनकाल से अब तक अपरिवर्तनीय तथा अव्याहत रही हैं। इन नृत्यों की शास्त्रीयता का एक और संकेत ग्रहण किया जा सकता है कि प्रत्येक ऐसे नृत्य का गमेलन् (Orchestra) सर्वथा सुनिश्चित है। गमेलन् बदला नहीं कि सम्पूर्ण नृत्य बदल जाता है। प्रत्येक नृत्य में नर्तक-नर्तकियों की वेषभूषा भी सर्वथा सुनिश्चित है।

बाली में लोकनृत्य का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। वस्तुत: जावा तथा बाली का हिन्दूसमाज अपनी धार्मिक आस्थाओं के निर्वाह में अत्यधिक अनुदार था। पुतलियों को देवमूर्तियों के ही समान पवित्र एवं पूज्य मानकर जावा के हिन्दू सातवीं से १५वीं शती ई० तक उनका अभिनय मात्र धार्मिक अनुष्ठानों, संस्कारों तथा त्यौहारों पर सम्पन्न करते रहे। पुतलियों के नाट्य का सार्वजनिक मनोरंजन के स्तर पर प्रदर्शन, रुढ़िवादी यवद्वीपीय हिन्दू समाज को मान्य नहीं था। यही कारण था कि १५वीं शती तक जावा में न कोई नाटक लिखा गया और न ही नाट्य-प्रस्तुति की परम्परा स्थापित हुई।

जावा के इस्लामीकरण के साथ ही साथ ये रूढियाँ टूटीं। १६वीं शती में उत्तरी जावा के वली मुस्लिम सन्तों ने जावी गमेलन् का आविष्कार किया तथा वायांग (पुत्तलिकानाट्य) का सार्वजनिक प्रदर्शन प्रारम्भ किया। यही वायांग-कला

१. मेरे मित्र श्री वायान् रेदिग ने बताया कि बालीबीच होटल तथा ङ्गराहराइ एयरपोर्ट की स्थापना के साथ ऐसा हुआ। ऐसी स्थिति में १९५३ ई० में ऐसा हुआ होगा।

१८वीं तथा १९वीं शती में, योग्यकर्ता एवं सुराकर्ता दरबारों के कलाप्रेमी सुल्तानों एवं सामान्तों-साहित्यकारों का संरक्षण प्राप्त कर पराकाष्ठा पर जा पहुँची ।[१]

जावा में प्राचीन रूढ़ियों के निरस्त होने का कारण था सत्ता के साथ ही साथ धर्म का परिवर्तन । धर्म परिवर्तित होते ही जनता की समूची जीवनदृष्टि ही बदल गई । परन्तु बाली में तो सत्ता अथवा धर्म का परिवर्तन हुआ नहीं । फलत: सारी की सारी प्राचीन हिन्दू-रूढ़ियाँ अपने स्थान पर अटल रहीं । सम्पूर्ण धर्म व्यवस्था धर्माचार्यों (Pedanda) तथा पुजारियों (Pemangku) के हाथ में निहित होने के कारण, सामान्य जनसमूह को उसका कोई समीक्षात्मक ज्ञान ही नहीं था । यहाँ तक कि मन्दिरों में लगे राजाओं के ऐतिहासिक शिलालेख भी **देवपीठ** (Palingah) के ही समान पवित्र घोषित कर दिये जाने के कारण, बालीवासियों के लिये पहेली बने हुए थे । उन्हें बस पुरोहित ही पढ़ सकता था ।

डचों के शासनकाल में बाली की ऐसी अनेक रूढ़ियाँ टूटीं । रैफिल्स, स्टुटरहीम तथा डॉ० गोरिस आदि प्रख्यात प्रशासकों ने पुरोहितों के इस विशेषाधिकार को बलपूर्वक तोड़ा तथा बाली के राजनैतिक इतिहास का यावच्छक्य परिचय समूचे जगत् को दिया । सम्भवत: डचों के ही प्रशासनकाल में धर्मनिरपेक्ष (Profane dances) नृत्यों का प्रदर्शन भी प्रारम्भ हुआ ।

बाली का रूढ़िग्रस्त समाज शनै: शनै उदार होने लगा । इण्डोनेशिया के स्वतन्त्रराष्ट्र घोषित होने पर (१७ अगस्त १९४५) तथा बाली के स्वतन्त्र प्रान्त घोषित होने पर,[२] उदारता की गति और तीव्र हुई, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है । जब पर्यटकों के मनोरंजनार्थ अनेक रूढ़ धार्मिक नृत्यों को सार्वजनिक रूप से, कृत्रिम ढांचे में, प्रदर्शित किया जाने लगा तो लोकनृत्यों की एक सहज पृष्ठ भूमि

१. सविस्तर द्रष्टव्य, लेखक का अन्य निबन्ध—**जावा की वायांग-परम्परा का उद्भव एवं विकास ।**

२. पहले बाली तथा लोम्बोक **पश्चिमी नूसातंगारा** प्रान्त के अंग थे । बाली की पर्यटकोचित प्राकृतिक-सुषमा एवं आकर्षक हिन्दू परम्पराओं के कारण शासन ने उसे स्वतन्त्र राज्य का दर्जा देकर विकसित किया ।

स्वत: तैयार हो गई । कलापरिषदों के प्रतिभाशाली प्रबन्धक नाना प्रकार के आकर्षक लोकनृत्य निर्मित करने लगे । यह आन्दोलन बाली तथा जावा के साथ ही साथ, देश के अन्यान्य भूखण्डों में भी सक्रिय हुआ ।

अपने दो वर्ष के ब्राली-प्रवास में मुझे बाली के कला-जगत् को समीप से देखने एवं समझने का भरपूर अवसर मिला । पेलियातन कला परिषद् के अध्यक्ष श्री आनक अगुंग राका, डेनपसार के सुप्रसिद्ध नृत्य-विशारद श्री ई० न्योमान् द्यायुस् दोनों ही अपनी कलामण्डली के साथ सम्पूर्ण विश्व का अनेकश: भ्रमण कर चुके हैं । मेरी अभिरुचि जान कर, मेरे ये मित्र मुझे निरन्तर अपनी नृत्य-नाट्य प्रस्तुतियों को देखने के लिये आमंत्रित करते रहे हैं । श्री द्यायुस् के छोटे भाई श्री केतुत् सुवेन्त्र तथा उनकी जापानी पत्नी भी बाली के लोकनृत्य के प्रचार-प्रसार में लगे हैं । प्राय: दस लोकनृत्य मैंने श्री द्यायुस् के गाँव शंकर अगुंग में देखे जहाँ श्री सुवेन्त्र नृत्य की अकादमी चला रहे हैं ।

उदयन वि० वि० के आर्कियालोजी-प्रवक्ता श्री वायान् रेदिग् स्वयं भी एक श्रेष्ठ नर्तक हैं तथा श्री द्यायुस् की कलापरिषद् के साथ जापान, आस्ट्रेलिया में अपनी कला प्रदर्शित कर चुके हैं । यह विश्वविद्यालय से पूर्व **अस्ति** (Akadami Seni Tari Indonesia, नृत्यकला अकादमी, इण्डोनेशिया) के प्रतिभाशाली छात्र रहे हैं । रेदिग से भी मुझे बाली की नृत्यविषयक प्रभूत जानकारी मिली है ।

परन्तु इस निबन्ध में प्रस्तूयमान लोकनृत्यों को देखने एवं समझने का एक तीसरा स्रोत भी है, और वह है— इण्डोनेशियाई दूरदर्शन । इसके माध्यम से, इस महान् राष्ट्र के दविष्ठ तथा दुर्लभ द्वीपों की भी परम्पराओं एवं कलासम्पदाओं को, चाक्षुष-प्रत्यक्ष के माध्यम से हृदयंगम करने का अवसर मिला । मैं प्रारंभ से ही सतर्क रहा । अभिमत नृत्य, नाट्य-प्रस्तुतियों का विवरण तैयार करता रहा । उसी का परिणाम है कि इस निबन्ध में प्राय ६० सुवर्णद्वीपीय लोकनृत्यों का संक्षिप्त विवरण पाठकों को दे पा रहा हूँ । बाली-जावा में भी इन समस्त लोकनृत्यों पर अभी तक कोई संमीक्षापरक ग्रंथ नहीं लिखा गया है । फलत: मेरे कलाविद् मित्र एवं शिष्य श्री वायान् रेदिग को भी मेरी मधुकरी वृत्ति देख, आश्चर्य भी हुआ,

प्रसन्नता भी हुई। काश, मैं चित्रकार होता तो प्रत्यक्षीकृत समस्त नृत्यों की वेषभूषा को सचित्र प्रस्तुत कर पाता। सबका सुस्पष्ट रूपांकन मेरी स्मृति में सुरक्षित है, परन्तु इस निबन्ध में मैं उनका शाब्द-विवरण मात्र दे पा रहा हूँ।

१. **साया केम्बे नृत्य** (Tari Saya Kembe)

यह नृत्य छः युवतियाँ प्रस्तुत करती हैं। वे आप्रपदीन काले रंग का प्रावरण (चोंगा) पहनती हैं, जिसके वक्षभाग पर सफेद धागे से सुन्दर कसीदे कढ़े होते हैं। नर्तकियों के कटिप्रदेश में भी सफेद दुपट्टे बँधे होते हैं जिनके लम्बे दोनों छोरों को हाथों से पकड़ कर, वे मन्दस्मित के साथ मन्दगति से ही नृत्य करती हैं। उनके गले में मोतियों की माला तथा हाथों में शंख की चूड़ियाँ होती हैं।

नृत्य करती युवतियों के एक ओर तीन वादक खड़े रहते हैं, जिनमें से एक बाँसुरी (Suling) तथा अन्य दो गले में लटकी ढपली बजाते हैं। वाद्यध्वनि नृत्य के साथ ही घटती-बढ़ती रहती हैं। नर्तकियाँ कभी तो एकल नृत्य करती हैं, परन्तु बीच बीच में युग्म भी बनाती रहती हैं।

२. **विजय कुसुम नृत्य** (Tari Kipas)

यह लोकनृत्य तिमोर द्वीप की राजधानी कुपांग (Cupang) के पार्श्वस्थ क्षेत्रों में लोकप्रिय है। धारीदार घाघरा एवं ब्लाउज पहने तथा हाथ में फर से बने व्यजन लिये पाँच युवतियाँ, मात्र वंशी की धुन पर कोमल नृत्य करती हैं। नर्तकियों के केश **धम्मिल** के आकार में बंधे रहते हैं तथा पुष्पहार से अलंकृत भी रहते हैं।

३. **फर्सोकात नृत्य** (Tari Farsokat)

इस नृत्य में युवकों तथा युवतियों की पृथक् टोली भाग लेती है। दोनों दल सीधी पंक्ति में आमने-सामने खड़े होकर, नाना गतिविधियों (actions) के साथ मन्द अथवा तीव्र नृत्य करते हैं।

पुरुष वर्ग घुटने तक का काला पैण्ट तथा सफेद कमीज पहनते हैं तथा कमर में काला दुपट्टा बाँधते हैं, जिसका छोर जमीन छूता रहता है। महिला-वर्ग काला स्कर्ट तथा सफेद ब्लाउज मात्र पहनती हैं।

नर्तक-दल के साथ मात्र एक वादक होता है जो भारतीय चंग जैसा एक वाद्य बजाता है।

४. मन्दौ महाराज बालू नृत्य (Tari Mandau Maharaja Balu)

बंजरमसीन[१] क्षेत्र का यह युद्धनृत्य (War dance) एक कथानक पर आधारित है। कथा का नायक सम्भवत: राजकुमार बालू है जिसकी प्रेयसी राजकुमारी को दो योद्धा अपहृत कर लेते हैं। वीर राजकुमार प्रेयसी की रक्षा के प्रयत्न में ही मारा जाता है। परन्तु अचानक ही, राजकुमारी के करुण-क्रन्दन एवं पातिव्रत से प्रभावित एक देवपुरुष आ पहुँचता हैं जिसे देखते ही अन्यायी अपहर्ता भाग खड़े होते हैं। देवता के आशी: से मृत राजकुमार पुन: जीवित हो उठता है तथा दोनों प्रणयी सदा-सदा के लिये सम्पृक्त हो उठते हैं।

इस प्रकार बालू नृत्य में मात्र पाँच पात्र भाग लेते हैं—राजकुमारी, राजकुमार, दो योद्धा तथा एक देवपुरुष। सम्पूर्ण नृत्य भावाभिनय-प्रधान है। नृत्य का प्रमुख वाद्य है— सारंगी, परन्तु युद्ध की भयावहता रूपायित करने के लिये **तवा** (Tawa) नामक वाद्य भी बीच-बीच में बजता है।

दोनों योद्धाओं तथा राजकुमार के हाथ में ढालें तथा तलवारें होती हैं। उत्साह, भय, निराशा एवं व्यथा के क्षणों में अपहृता राजकुमारी का भावाभिनय अत्यन्त जीवन्त प्रतीत होता है।

५. रोंगेङ्ग ब्लान्तेक नृत्य (Tari Ronggeng Blantek)

यह लोकनृत्य पाँच युवतियों द्वारा सम्पन्न होता हैं, जिनकी वेशभूषा है— भव्य घॉघरा, ब्लाउज, ब्लाउज के ऊपर जरीदार जैकेट। शीश पर एक विशेष प्रकार

१ कालीमन्तान (प्राचीन बोर्नियो द्वीप) का प्रान्तविशेष।

का सूती हैट। कमर में सफेद दुपट्टा, जिसके दोनों छोर नीचे तक लटकते रहते हैं। कानों में विशाल रत्नखचित झुमके तथा हाथ की उंगलियों में नोकदार धातुनिर्मित अंगुलि-आवरण।

नर्तकियाँ बड़ी कोमलता एवं साभिप्राय हाव-भाव के साथ, हाथों को विविध मुद्राओं में संचालित करती हुई, मौन नृत्य करती हैं।

नृत्य का नेतृत्व तीन वादक करते हैं जो क्रमशः वायोलिन, झाँझ तथा जावाबाली में लोकप्रिय ढाख (Kentang) बजाते हैं।

६. केम्बाङ्ग मास् नृत्य (Tari Kembang Mas)

यह लोकनृत्य सुमात्रा द्वीप में पल्लवित **श्रीविजय** हिन्दू साम्राज्य की राजधानी पालेम्बंग-क्षेत्र में लोकप्रिय है। चार युवतियाँ हाथ-पैर की विविध गतियों एवं भावभंगिमाओं के साथ मादक नृत्य करती हैं। नर्तकियों के सिर पर पट्टा (शीर्षपट्ट अथवा रिबन) बँधा होता है। कमर में एड़ी तक झूलता, भारतीय मालव-क्षेत्र के घाघरे जैसा, रंग-बिरंगा लँहगा, ब्लाउज तथा जरीदार जैकेट तथा दोनों कन्धों पर स्थापित जरी के काम वाला ही एक उत्तरीय। जूड़े में लम्बी मालाएँ लटकी होती हैं।

७. गरुड नृत्य (Tari Garuda)

बालीद्वीपीय इस पुरुष-नृत्य में मात्र दो पात्र होते हैं— गरुड एवं विष्णु। गरुड सम्प्रति इण्डोनेशिया राष्ट्र का राजचिह्न है। इण्डोनेशिया की राजकीय विमान-सेवा का नाम भी गरुड (Garuda Indonesia) ही है। इण्डोनेशियाई गरुड की एक विशिष्ट आकृति है—क्रोधोद्धुर मुद्रा में खुले चञ्चुपुटों में आरीदार नुकीली दंष्ट्राएँ, विततपक्ष तथा आग्नेय नेत्रयुगल।

गरुड के इसी पारम्परिक मुखौटे को पहन कर एक पात्र अत्यन्त प्रभावशाली अभिनय करता है। इस अभिनय में विहगोचित चारीविधान की अद्भुत प्रस्तुति

मैंने देखी। गरुड की पीठ पर आसीन भगवान् विष्णु की अभय हस्तमुद्रा से नृत्य की समाप्ति होती है।

८. पेरीसोको नृत्य (Tari Peri Soko)

यह नृत्य जावा के सेमरांग जनपद (उत्तरी जावा) का है। इस युगल नृत्य में आठ पुरुष तथा आठ महिलाएँ, युग्मबद्ध होकर नृत्य करते हैं। पुरुष बीच-बीच में हुँकार तथा ललकार जैसी ध्वनि उत्पन्न करते हैं जिसका उत्तर महिलाएँ मन्दस्मित मात्र से देती हैं। नेपथ्य से गायन तथा वादन के स्वर नृत्य की संगत करते हैं।

युवतियाँ, ऊपर पूरे आस्तीन की बाटिक शर्ट, नीचे यवद्वीपीय बाटिक लुंगी (Sarong) तथा कमर में जरीदार सफेद पट्टा बांधती हैं। पुरुष कटिप्रदेश के ऊपर सर्वथा नग्न रहते हैं। नीचे काला तंग पतलून तथा उसके ऊपर, टखनों तक लटकी, चेकदार लुंगी बाँधते हैं।

९. तितली नृत्य (Tari Cuning)

पश्चिमी जावा के बाडुंग जनपदीय इस नृत्य में तीन युवतियाँ तितली के वेष में, पंखे फड़फड़ाती तथा सिर मटकाती हुई वर्तुलाकार गति में मन्दगति से नृत्य करती हैं। विविध जीवजन्तुओं का मुखौटा तथा अन्यान्य वेष-विन्यास रचने में जावा तथा बाली के कलाकार सम्भवत: सम्पूर्ण विश्व में अप्रतिम हैं। बारोंगनृत्य का सिंह अथवा गरुडनृत्य का गरुड इसका जीवन्त प्रमाण हैं।

प्रस्तुत नृत्य में भी, तितली की वेषभूषा अत्यन्त आकर्षक एवं विश्वसनीय प्रतीत हो रही थी। पुष्पासव-पान करने का, नर्तक तितलियों का अभिनय भी अत्यन्त प्रभावी तथा स्वाभाविक था।

१०. तर्वाङ्ग नृत्य (Tari Tarbang)

तर्वांग शब्द का अर्थ है उड़ना। वस्तुत: यह नृत्य भी अपनी निर्बन्ध आनन्दमयता तथा मादकता के कारण नभोविहार का पर्याय ही प्रतीत होता है। मैं इसे **झूमर नृत्य** की संज्ञा देना चाहूँगा। आपातत: यह नृत्य भारतीय **डाँडियारास** सा

प्रतीत होता है। हाथ में छोटी लाठियाँ लिये, चार युवतियाँ, वर्तुलाकार गति में, लाठियाँ बजाती नृत्य करती हैं। बीच-बीच में दृश्यान्तर भी होता है। वे लाठी नीचे रख कर, खिलखिलाती तथा हथौड़ी बजाती नृत्य करने लगती हैं।

वादकों तथा गायकों (स्त्री-पुरुष समवेत) की मण्डली पास ही खड़ी रहती है। प्रमुख वाद्य हैं— हारमोनियम, चंग तथा वंशी।

११. बगुराऊ नृत्य (Tari Bagurau)

लहँगा-कुर्ता पहने तथा सिर पर स्कार्फ बाँधे पाँच युवतियाँ तथा लुंगी, जरीदार वस्त्र की कमीज पहने, सिर पर सुन्दर मुकुट बाँधे तीन पुरुष-मन्दगति से, प्रणय एवं यौवन की मदिरा में बेसुध से हुए, मौन नृत्य करते हैं। युवतियाँ बीच-बीच में, बंगाली युवतियों के समान **उलूलु-ध्वनि** भी प्रकट करती हैं।

वाद्यों में प्रमुख है जावा की महुअर तथा आधुनिक क्लैरनेट जैसा एक वाद्य। महुअर की, मन तथा प्राण को बाँध लेने वाली मादक ध्वनि एक अद्भुत सम्मोहन पैदा कर देती है।

१२.जापिन् नृत्य (Tari Japin)

रंग-बिरंगे लहंगे-कुर्ते में सुसज्जित, केशों में गजरे तथा कटिप्रदेश में सुनहरे तारों से उत्कीर्ण बेलबूटों वाले चौड़े वस्त्रफलक (फेंटा) बाँधे छः युवतियां, मन्द-मधुर वाद्य ध्वनि पर अत्यन्त गम्भीर नृत्य करती हैं। मुख्य वाद्य हारमोनियम हैं।

१३. यापोंग नृत्य (Tari Yapong)

जरीदार तथा रंगबिरंगा सारोंग (अधोवस्त्र) ब्लाउज पहने, कमर में फेंटा बांधे तथा शीश पर आहत सुवर्ण-निर्मित सुन्दर मुकुट बांधे चार महिलाएं, मन्द-स्मित विखेरती इस नृत्य को करती हैं। नेपथ्य से अनेक अव्यक्त मधुर ध्वनियों के साथ ही साथ **उलूलुध्वनि** भी फूटती रहती है।

१४. गगक् मन्दिक् नृत्य (Tari Gagak Mandik)

भव्य मुकुट, जड़ाऊ वस्त्रालंकरण, कमरबन्द, कलाइयों में कंकण तथा वेणीपुष्पहारों से अंग-प्रत्यंग सुसज्जित तीन महिलाएँ पेलेगोगंन् वाद्य पर मधुर नृत्य करती हैं। वाद्यध्वनि पर नियंत्रित पैरों का ठुमका भारतीय भरतनाट्यम् का अकस्मात् स्मरण करा देता है। नर्तकियाँ, भारतीय कत्थकनर्तकों के ही समान चुस्त पायजामा पहनती हैं।

जावा तथा बाली का पेलेगोगंन, गमेलन (Orchestra) का एक सर्वाधिक लोकप्रिय भेद है, जिसमें वंशी (Suling), ढॉख (Kentong), पत्र वाद्य (Gong) झाँझ तथा अनेक आहत-वाद्य-चेगचेंग (Cengceng) कंजुर (Kenjur) तवा-तवा (Tawatawa) आदि सम्मिलित होते हैं। एक नियमित अन्तराल पर, चिरस्थायिनी प्रतिध्वनि पैदा करने वाला, विशाल घड़ियाल भी आहत किया जाता है, जो पेलेगोगंन का प्रमुख आकर्षण है। प्रथम आहतिजन्य प्रतिध्वनि की समाप्ति ही दूसरी आहति का प्रारंभ बिन्दु बनती है।

१५.फंगननान नृत्य (Tari Fangnanan)

इण्डोनेशिया के सुदूर-पूर्वी द्वीप मालुकु (Maluku) का यह नृत्य पारम्परिक वेषभूषा वाली १२ युवतियों द्वारा सम्पन्न होता है। यह महोत्सव-परिधान प्रायः इस क्षेत्र के समस्त द्वीपों में लोकप्रिय हैं। इसमे वक्ष के ऊपर का भाग (दोगों बाहें तथा शीर्ष) पूर्णतः अनावृत रहता है। पयोधरों के ऊपर से ही लम्बे, कौशेय वस्त्र-पट्ट को सोपान-शैली में लपेटते हुए नाभिगर्त तक लाया जाता है, जहाँ वह सारोंग (अधोवस्त्र) की चुन्नटों के नीचे दब कर एकाकार हो जाता है।[१] इस परिधान के कसाव के कारण, जहाँ युवती के अंगों का नतोन्नत भाग अयत्न-स्पष्ट होकर, उसके शरीर-सौष्ठव को प्रकाशित करता है वहीं नृत्य के चारी-विधान में सहायक भी सिद्ध होता है। नर्तकी की देहयष्टि, इस पारम्परिक वेषभूषा में सजी,

---

१. इस परिधान को जावा में **स्तगेन्** (Stagen) तथा बाली में **सबुक्** (Sabuk) कहते हैं।

चंचल शफरी के समान प्रतीत होती है। प्रत्येक युवती के हाथ में पंखा तथा डलिया होती है।

चंग तथा वंशी इस नृत्य का नेतृत्व करते हैं।

१६. पुत्री तेलुक् केम्बांग नृत्य (Tari Putri Teluk Kembang)

मन्द-मन्द गति से प्रवर्तित ढपली, वंशी तथा तवातवा वाद्य पर सात युवतियों द्वारा यह नृत्य प्रस्तुत किया जाता है। पुत्री का अर्थ है लड़की, तेलुक् का अर्थ है खाड़ी तथा केम्बांग का अर्थ है पुष्प। इस प्रकार यह नृत्य उन कन्याओं का है, जो सिन्धु पुष्प के समान हैं—सिन्धुपुष्पा प्रमदानृत्य। बहरहाल, नृत्य के नामकरण की यह व्याख्या मेरी अपनी है।

परन्तु आश्चर्य है कि नृत्य की एक विशेषता भी **तेलुक् केम्बांग** को सार्थक सिद्ध करती है। इस नृत्य में युवतियाँ प्रारंभ से अन्त तक हस्त प्रचार की विविध गतिविधियों के साथ उठती-बैठती रहीं, मानों समुद्र में लहरें उठ-गिर रही हों।

१७. सेकियान सिरिह् नृत्य (Tari Sekian Sirih)

पार्श्वगायन तथा वादन के साथ, सात युवतियाँ यह नृत्य प्रस्तुत करती हैं— सर्पिल गति में दायें-बायें घूमती तथा परिधि बनाती हुई। युवतियों की वेषभूषा पारम्परिक होती है— आवेष्टित कौशेय वस्त्रपट्ट, सारोंग, जड़ाऊ मुकुट, कुण्डल, पुष्पहार आदि।

१८. टिडी लोलिङ्गो नृत्य (Tari Tidy Lolingo)

जरीदार कसीदा कढ़े लहँगे, ब्लाउज तथा मुकुट पहने चार युवतियाँ, दोनों हाथों में व्यजनाकार दो काष्ठफलक लिये मनोहर गतिविधियों में भावनृत्य करती हैं। युवती के पीछे पुरुषनर्तक नायकोचित प्रेमाभिनय करता है। भारतीय नर्तक-दम्पति की युगलबन्दी के ही समान यह नृत्य भी प्रेम की विविध अभिव्यक्तियों को प्रस्तुत करता है।

गायन तथा वादन नेपथ्य से प्रवर्तित होता है।

१९. मा जागे नृत्य (Tari Ma Jage)

ऊपर पूरी बाँह का कुर्ता तथा नीचे जरीदार लुंगी पहने, जूड़े में आभूषण पिरोए, गीत गाती हुई तीन सुन्दरियाँ, चुटकी बजा-कर मन्द नृत्य प्रस्तुत करती हैं। वाद्यध्वनि की व्यवस्था नेपथ्य में होती है।

पूर्वी उत्तर-प्रदेश में सावन आते ही कजरी का माहौल प्रारंभ हो जाता है। युवतियों के दो जोड़े इसमें भाग लेते हैं। युवतियाँ पार्श्वस्थ हाथों से **कँकना** बाँध कर, मुक्त हाथों से चुटकी बजाती हुई, परिधि में घूमती, झूम-झूम कर कजरी गाती हैं। झूमने की इस प्रक्रिया को (कजरी) **ढूँढ़ना** कहते हैं। वस्तुतः इस लोकगीत की पृष्ठभूमि विशुद्ध पौराणिक है।[१] जावा का **माजागे** नृत्य मुझे भारतीय कजरी का संवादी प्रतीत हुआ।

२०. ताबे नृत्य (Tari Tabe)

यह नृत्य ग्यारह महिलाओं द्वारा, बाँसुरी एवं तासे की धुन पर प्रस्तुत किया जाता है। सभी महिलाएँ एक ही वेष में रहती हैं— पूरे आस्तीन की शर्ट, तीन वर्ण फलकों (धारियों) की लुंगी तथा कपड़े का मुकुट।[२]

---

१. द्रष्टव्य—लेखक प्रणीत छन्दोभिराजीयम् का लोकगीत-प्रकरण।

२. वेषभूषा सम्बन्धित ये शब्द परस्पर भिन्न हैं। अधोवस्त्र यदि लुंगी की तरह व्यायत होता तो उसे काम्बोन् (Kambon) कहते हैं और यीद उसके दोनों छोर परस्पर सिले हो वृत्ताकार (मुस्लिम लुंगियों की तरह) तो उसे सारोंग अथवा काम्बोन्-सारोंग (Kambon Sarong) कहते हैं। लुंगी एवं सारोंग शब्दों में यह अन्तर ध्यान में रखना चाहिये। मुकुट भी, यदि कपड़े से निर्मित है तो उसे तेंग्कुलुक् (**Tangkuluk**) कहते हैं। सामान्यतः बाली में **स्कार्फ** शब्द भी प्रचलित हैं। परन्तु यदि मुकुट आहत-सुवर्ण (Beated Gold) के अथवा पुष्प से निर्मित है तो उसे गेलुंगान् (Gelungan) अथवा **मौलि** (संस्कृत) कहते हैं। पूरे अथवा आधे नाप की शर्ट का भी सुप्रचलित नाम बाजू (Baju) है, परन्तु बाली में, सारोंग-बाजू से युक्त पूरे पारम्परिक वेष को **केबाया** (Kebaya) कहते हैं।

परन्तु इस प्रस्तुति को हम एक **विशिष्ट नृत्य** ही कह सकते हैं, क्योंकि एक ही स्थान पर खड़ी युवतियों द्वारा, शान्त वातावरण में, मात्र भाव मुद्राओं का प्रदर्शन किया जाता है । ऐसी स्थिति में प्रस्तुति पाश्चात्य-जगत् के **मूकाभिनय** (Pantomime) सी प्रतीत होती है ।

२१. मदाई-कराई नृत्य (Tari Medai-Keraai)

मछुवारों का यह नृत्य सुलावेसी द्वीप का है । इसमें चार पुरुष तथा चार ही महिलाएँ, हाथ में डाँड़-पतवार लिये, एक ही स्थान पर, पैर उठा-उठा कर आगे बढ़ने का अभिनय करते हुए, नौकाचालन की नृत्य-प्रस्तुति करते हैं ।

पुरुषों तथा महिलाओं की वेषभूषा मत्स्यजीवी समुद्रतटीय क़बीलों की होती है । सबके सिर पर चिड़ियों के पंखों से बना मुकुट स्थापित रहता है । महिलाओं की देह पर मात्र स्तनावरण-वस्त्र तथा आगुल्फ लटकता अधोवस्त्र होता है । पुरुष केवल कोपीन पहने होते हैं जिसके मध्यभाग पर जननेन्द्रियाच्छादक एक अतिरिक्त वस्त्रचूला लटकती रहती है ।

नृत्य के साथ मात्र आहत वाद्य बजते हैं— ढाँख, चंग आदि । अन्त में नृत्य की गति तीव्र हो उठती है तथा स्त्री-पुरुष एक वृत्त बना कर घूमने लगते हैं ।

२२. तुपाई बगलुइक् नृत्य (Tari Tupai Bagaluik)

यह लोकनृत्य पहंग-क्षेत्र (कालीमन्तान द्वीप अथवा प्राचीन बोर्नियो, तञ्जुंग पुर-एरलंगप्रशस्ति) का है । वस्तुत: इस नृत्य की पृष्ठभूमि राजनैतिक है । यह एक **वीरयुद्ध** है जो डच-राजसत्ता के विरुद्ध, इण्डोनेशिया के विद्रोहात्मक रवैये को रूपायित करता है ।

खाकी पैण्ट, बुश्शर्ट, कमरबन्द से लैस तथा सिर पर स्कार्फ बाँधे, योद्धावेष में पाँच युवतियाँ— तीव्र वाद्यध्वनि पर सैनिक-अभ्यास का प्रदर्शन करती हैं । तरह-तरह के कठिन शारीरिक व्यायाम तथा शत्रु पर घातक-प्रकार के अभिनय प्रस्तुत

किये जाते हैं । परन्तु नृत्य के उत्तरार्ध में अकस्मात् वातावरण परिवर्तित हो उठता है और युवतियाँ बाँसुरी की मादक धुन पर भाव-प्रदर्शन करने लगती हैं ।

२३. रांगुक् नृत्य (Tari Rangguk)

मध्यजावा के योग्यकर्ता- क्षेत्र का यह नृत्य मुस्लिमों के महोत्सव से सम्बद्ध है । लुंगी-कुर्ता पहने, सिर पर मुकुट बाँधे बायें हाथ की कलाई में सफेद रंग का स्कार्फ बाँधे तथा उसी हाथ चें चंग (भारतीय नापितवाद्य खझड़ी) थामे, दाहिने हाथ से थाप लगाती, वृत्ताकार घूमती—सात युवतियाँ रांगुक् नृत्य सम्पन्न करती हैं ।

भाषा इण्डोनेशिया में रांगुंग (ranggung) तथा रांकक् (rangkak) शब्द रेंगने (to creep) के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । सम्भवत: यह नृत्य अपनी सर्पाकार वर्तुल गति के कारण ही **रांगुक्** कहा गया ।

२४. गुञ्झिङ्ग नृत्य (Tari Gunjing)

गुञ्झिग का शब्दार्थ है— चर्चा (Slander, Scandal) परन्तु नृत्य की भावभूमि को देखते हुए यह शीर्षक सार्थक नहीं प्रतीत होता है ।

चंग तथा हारमोनियम की मादक धुन पर, अत्यन्त शान्त, मन्द एवं धीर-गम्भीर अंगसंचालन के साथ चार युवतियाँ यह नृत्य प्रस्तुत करती हैं । वे वस्त्राभूषण से सुसज्जित होती हैं । उनके कटिप्रदेश में लम्बा उत्तरीय बंधा रहता है, जिसे दोनों हाथों से चौपतते-खोलते वे नृत्य करती हैं । स्कन्धप्रदेश पर सटाभार (अयाल) के समान नयनाभिराम, श्वेतवर्णी सघन झालर स्थापित रहती है ।

२५. पुकात् नृत्य (Tari Pukat)

मौज-मस्ती भरा यह लोकनृत्य मध्यजावा में लोकप्रिय है । पुकात् का तात्पर्य है— श्रमविनोद अथवा किसी को मूर्ख बनाना । इस प्रकार यह नृत्य अल्हड़ किशोरवय की उमंग का प्रतिनिधित्व करता है ।

दो युवक तथा दो युवतियाँ पाश्चात्त्य तूर्यवाद्य, चंग तथा क्लैरनेट की समवेत धुन पर, पंजाबी भाँगड़ा जैसा उन्मुक्त नृत्य करती हैं । पुरुष आमूलचूड

काले वस्त्र में रहता है । सिर पर नुकीली टोपी तथा कमर में कढ़े बेलबूटों वाला दुपट्टा बँधा रहता है । महिलाएँकाला पतलून तथा सफेद शर्ट पहने होती हैं । उनके हाथ में एक रस्सी होती है—रज्जुलंघन क्रीड़ा के लिये । नृत्यरत दोनों वर्ग एक दूसरे को ललकारते अथवा उत्साहित करते रहते हैं ।

२६. **लबुह गेनी नृत्य** (Tari Labuh Geni)

लबुह-गेनी अर्थात् अग्नि-जवनिका अथवा आग का घेरा । सचमुच यह लोकनृत्य अन्वर्थनामा है, क्योंकि नृत्य के अन्तिम चरण में सात युवतियाँ एक युवती को वर्तुलाकार घेर कर नृत्य करती हैं, मानो शिखायुक्त अग्नि का अलात-चक्र हो । युवतियों का वेष पारम्परिक होता है अर्थात् सिर गेलुंगान (स्वर्णमुकुट) तथा वक्ष से नितम्ब तक सबुक् (Sabuk) अधोवस्त्र के रूप में सारोंग तथा सारोंग के भी नीचे एक अन्तर्वस्त्र (undergarment) जिसे **सिङ्झाङ्ग** (Singjang) कहते हैं ।

वाद्य के रूप में सम्पूर्ण पेलेगोंगन की व्यवस्था होती है । अनेक प्रकार से हस्त-संचालन करती युवतियाँ मन्द-मधुर वाद्यध्वनि पर मौन-नृत्य प्रस्तुत करती हैं । दोनों हाथों को हवा में लहराती हुई, बीच-बीच में वे उच्छ्वास भी छोड़ती हैं ।

२७. **रुम्पम् मेलागू नृत्य** (Tari Rumpam Melagu)

तीन महिलाएं तथा दो पुरुष समवेत रूप से यह नृत्य करते हैं-सुषिर वाद्यों तथा चंग की धुन पर। पुरुष काले पैण्ट तथा शर्ट में रहते हैं। कमर में कसीदाकारीयुक्त वस्त्रपट्ट का फेंटा बांधते हैं । इस सहनृत्य में दोनों पुरुष महिलाओं के बीच में होते हैं तथा हाथ पीछे कर वेणी-शैली में एक-दूसरे को पकड़े रहते हैं ।

२८. **कुन्तीकर्ण नृत्य** (Tari Konti Karana)

बालीद्वीपीय यह उत्कृष्ट नृत्य अपने संविधानक की दृष्टि से तो **शास्त्रीय** अथवा बेबालिहान-कोटि का ही प्रतीत होता है, परन्तु लास्यबहुलता तथा कथाभि-नय के अभाववश मैं इसे लोकनृत्य ही मान रहा हूँ ।

शीर्षक के अनुसार इस नृत्य में कुन्ती एवं कर्ण की कथा (सम्भवतः महाभारत युद्ध से पूर्व कुन्ती द्वारा कर्ण को पाण्डव-पक्ष में ले आने का प्रयास) का भावाभिनय होना चाहिये था । परन्तु ऐसा नहीं है । तीन युवतियों द्वारा भारतीय कथकलि-शैली में, नेत्रों एवं भौहों को संचालित करते हुए अत्यन्त उत्कृष्ट नृत्य मात्र किया जाता है । बाली-द्वीप का प्रख्यात पेलेगोंगन-वाद्य सांगोपांग व्यवस्थित रहता है । वाद्य एवं नृत्य का समानुपात ही इस नृत्य का प्रमुख आकर्षण है । हस्तप्रचार, चारीविधान तथा शिरःकम्प आदि क्रियाएं नृत्यांगनाओं के सतत अभ्यास एवं दक्षता को स्फार बना देती हैं ।

नृत्यांगनाएँ ललित वेष में होती हैं—शीश पर सुवर्ण मुकुट (मौलि) जड़ाऊ वस्त्र, आगुल्फलम्बा कसा हुआ पायजामा, कटि में संयत वस्त्रपट्ट तथा गले में मुक्ताहार ।

पूरे नृत्य में कोई गायन नहीं प्रस्तुत होता । नृत्यांगनाओं के नेत्र एवं भ्रूलता-संचालन को देख, उज्जयिनी में पधारे केरलीय नृत्यविद् श्री मणिमाधव चाक्यार की स्मृति हो आई ।

२९. श्रान्तोक नृत्य (Tari Srantoka)

इस नृत्य में पाँच युवक तथा पाँच युवतियाँ वाद्य ध्वनि पर, कन्धों, बाहों, शीश तथा कटि आदि अन्य अंगों को, मनोरम ढंग से संचालित करते हुए, मन्द-गति से हृदयावर्जक नृत्य करते हैं । कोई गायन नहीं होता ।

युवक लुंगी तथा जरीदार जैकेट पहनते हैं, सिर पर मुकुट बाँधते हैं । युवतियों का भी वेष पुरुषों के ही समान होता है ।

३०. ओलेग तम्बुलिलिङ्गन नृत्य (Tari Oleg Tambulilingan)

बालीद्वीपीय इस रोचक नृत्य को मैं **मधुकर नृत्य** कहता हूँ । इस नृत्य में दो प्रणयी मधुकर-युगल, एक फूल से दूसरे फूल तक पुष्परस पीने का सहज अभिनय करते हुए, परस्पर प्रेम में डूब जाते हैं । वे एक दूसरे का संस्पर्श, चुम्बन

तथा आलिंगन करते हैं तथा नृत्य के अन्त में एक-दूसरे से संसक्त हो पृथ्वी पर सो जाते हैं। सम्पूर्ण प्रणयदृश्य स्त्री-पुरुष नर्तकों की दक्षता के कारण अत्यन्त हृदयावर्जक प्रतीत होता है।

३१. केबियार तेरोम्पोंग नृत्य (Tari Kebiar Terompong)

केबियार-नृत्य का आविष्कार प्रख्यात बालीद्वीपीय नृत्य-शास्त्री श्री मारियो ने वर्तमान शती के चौथे दशक में किया था। मेक्सिकन यात्री श्री माइकेल कबरूबियास के बालीप्रवास-काल में श्री मारियो प्रसिद्धि के शिखर पर थे। दोनों में अच्छी मैत्री भी थी।

प्रस्तुत नृत्य मारियो के ही केबियार का परिवर्धित रूप है। मारियोऽभिमत केबियार आसीन-मुद्रा (Kebiar duduk dance) में ही सम्पन्न होता है जबकि प्रस्तुत नृत्य में एकाकी नर्तक **तेरोम्पोंग** वाद्य बजाता हुआ गमेलन (Orchestra) का साथ देता है। वह वाद्य बजाते हुए नृत्य भी करता है, परन्तु बैठ कर नहीं, गतिशील मुद्रा में। वस्तुतः नृत्य के प्रारंभिक चरण में वह पारम्परिक केबियार की शैली में, बैठा ही रहता है। परन्तु ताल-लय के शिखरारूढ़ होते ही स्वयं भी उठ खड़ा होता है।

३२. मकेपुंग नृत्य (Tari Makepung)

बालीद्वीपीय यह नृत्य पेलोगोंगन के सहारे पाँच युवतियों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। मकेपुंग का अर्थ है—महिषधावन। सम्भवतः नृत्य की उछलकूद एवं क्रीडा बहुलता के कारण ही यह नाम दिया गया होगा। युवतियाँ सारोंग, कटिवस्त्र बाजू तथा मुकुट से अलंकृत होती हैं। वे एक दूसरे के पार्श्वभाग को विविध कोणों से लाँघती फाँदती महिषों की ही मुद्रा में द्रुतगति से नृत्य करती हैं।

३३. हंसनृत्य (Tari Manuk Rawa)

मनुक् का अर्थ है—पक्षी, रवा का अर्थ है—कच्छ अथवा जलयुक्त नतभूमि। इस प्रकार मनुक् रवा, बाली में प्रचलित हंस की संज्ञा है। हंस की वेशभूषा

में सुसज्जित तीन युवतियाँ, पंख खोल कर विविध भाव-भंगिमाओं तथा कमनीय मुद्राओं में यह नृत्य प्रस्तुत करती हैं।

पेलेगोंगन नृत्य का नेतृत्व करता है।

अब तक जिन लोकनृत्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया, वे सब युवकों, युवतियों अथवा (कभी-कभी) प्रौढ़वय के कलाकारों द्वारा सम्पाद्य होते हैं। परन्तु बाली-जावा तथा इण्डोनेशिया के अन्यान्य द्वीपों में **बालनृत्यों** की भी संख्या कम नहीं है। प्रस्तुत है कुछ प्रत्यक्षीकृत शिशु-नृत्यों का विवरण। ये नृत्य पाँच-छः वर्ष की आयु से लेकर १५ वर्ष तक की आयु के बालक-बालिकाओं द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं।

३४. हयंग सारी नृत्य (Tari Hayang Sari)

यह शिशुनृत्य पश्चिमी जावा के शुकभूमि जनपद का है। बारह-तेरह वर्ष वयकी छः बच्चियाँ लुंगी, ब्लाउज, जरीदार जैकेट तथा सुवर्ण-मुकुट से सुसज्जित होकर, वाद्यध्वनि पर मन्द-मन्द गति से नृत्य करती हैं। वे प्रारम्भ में पंक्तिबद्ध परन्तु अन्त में वर्तुल-परिधि में स्थित होकर, हाथों से अनेक मुद्राओं का प्रदर्शन करती हुई नाचती हैं।

३५. गम्बीर नृत्य (Tari Gambir)

गम्बीर का अर्थ है— ताम्बूलवल्ली। इस नृत्य में कुमारवय की आठ कन्याएँ ब्लाउज-स्कर्ट पहने, सिर पर हैट लगाये तथा दोनों ओर हाथों में चँवर जैसा एक अलंकरण लिये, पियानो की मादक-ध्वनि पर सुमधुर नृत्य करती हैं। नृत्य की गति तथा अभिनय (actions) में बड़ी विविधता होती है।

३६. सपुतंगान नृत्य (Tari Saputangan)

दो बच्चे तथा दो बच्चियाँ, दोनों हाथों में स्कार्फ लहराते समवेत वाद्यों की धुन पर, आड़े, तिरछे, वर्तुल-गति से संचरण करते मनोहर नृत्य प्रस्तुत करते हैं। कन्याएँ ब्लाउज एवं स्कर्ट तथा लड़के पैंट एवं शर्ट में होते हैं।

३७. इतिक नृत्य (Tari Itik)

यह शिशुनृत्य मध्यजावा के योग्यकर्ता नगर का है, जो अतीत में कला-संस्कृति का महान् केन्द्र रहा है । गरुड की आकृति का मुकुट सिर पर बाँधे, मनोहर वेषभूषा वाले चार बालक समवेत वाद्यध्वनि पर नृत्य करते हैं । नृत्य करते-करते ही बच्चे आगे-पीछे, दायें-बायें—स्थान भी परिवर्तित करते रहते हैं ।

३८. दोलनान् नृत्य (Tari Dolanan)

सुन्दर रंग-बिरंगे लहँगों तथा ब्लाउजों से सुसज्जित, केशों में पुष्पालंकरण धारण किये, सात कुमारिकाएँ पेलेगोंगन वाद्य तथा प्रौढ़ महिलाओं द्वारा प्रस्तुत गायन पर समानुपातिक आकर्षक नृत्य करती हैं । लहंगों के ऊपर बँधे सफेद दुपट्टे के दोनों आँचल जमीन छूते रहते हैं ।

नृत्य करती बालिकाएं पारम्परिक-शैली में चिबुक-कम्पन एवं करण-अंगहार आदि प्रस्तुत करती हैं । उनकी पदगति पेलेगोंगन की गति के साथ-ही-साथ द्रुत एवं मन्द होती रहती है ।

३९. बटोबोह् नृत्य (Tari Batoboh)

लहंगा तथा पूरे आस्तीन का कुर्ता पहने दस लड़कियाँ, अनेक पदगतियों के साथ मौन-नृत्य करती हैं । भारतीय जुझाऊ बाजे जैसा मात्र एक दमामा (नगाड़ा) बजाता रहता है । वृत्ताकार घूमती कन्याएँ नगाड़े की धुन पर अनेक शारीरिक व्यायाम (drills) प्रस्तुत करती हैं । वस्तुतः यह नृत्य कम, स्कूली-कसरत अधिक प्रतीत होता है ।

४०. बटार नृत्य (Tari Batara)

जावा-बाली में देवता को भटार अथवा बटार (संस्कृत भर्तृ = भर्ता = भतार) कहते हैं । यह नृत्य देवनमस्या-परक हैं, यह नृत्यरत कन्याओं के प्रणाममुद्रा में सम्पुटित हाथों से ही सिद्ध हो जाता है ।

बाली के इस नृत्य में सारोंग, बाजू पहने, कमर में फेंटा बाँधे, हाथों में शंख की चूडियाँ, कानों में झुमके तथा शीश पर पञ्चशिखरीय सुवर्ण-मुकुट पहने सात कन्याएं भाग लेती हैं । वे ढाख, बाँसुरी, तवातवा तथा कञ्जुर आदि वाद्यों की समवेत मादक ध्वनि पर, प्रणाम-निवेदन मुद्रा में मौन नृत्य करती हैं ।

४१. लेगांग केरातोन् नृत्य (Tari Legong Keraton)

जावा-बाली के शास्त्रीय नृत्यों के सन्दर्भ में हमने धर्म-निरपेक्ष (Profane) बेबालीहान् नृत्यों की-चर्चा की थी तथा निदर्शन रूप में जावा की ऐतिहासिक प्रेम गाथा (राजकुमारी रंकसारी) का सन्दर्भ भी प्रस्तुत किया था । परन्तु बाली द्वीप का लेगांग केरातोन्, जावा के लेगांग केरातोन् से सर्वथा भिन्न है । इसमें न कोई कथा-भिनय है और न ही शास्त्रीयता ।

इस लोकनृत्य में, भव्य पारम्परिक वेषभूषा (Sabuk) में सजी-सँवरी एक बालिका मन्दिर के गोपुर से निकल कर मंच पर आती है । वह पृष्ठभूमि में प्रस्तुत पेलेगोंगन वाद्य तथा किसी सान्दर्भिक प्राचीन जावी भाषा के ककवीन-गायन के साथ संगत करती मन्द-मन्द नृत्य प्रस्तुत करती है । थोड़ी ही देर बाद दो और समवयस्क कन्याएँ आती हैं तथा प्रथम नृत्य-बाला के साथ-साथ नाचने लगती हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि केरातोन् के इस बालीद्वीपीय संस्करण में भी कोई स्थानीय कथानक है । इसका प्रमाण है— ककवीनगायन । प्रथम नर्तकी सम्भवत: कोई राजकन्या है तथा बाद में आने वाली नर्तकियाँ, उसकी सखियाँ हैं । सम्भव है कि बाली का यह लोकनृत्य रंकसारी-कथा का ही कोई अन्य अंश हो ।

४२. रेंगाली नृत्य (Tari Renggali)

सात-आठ वर्ष वय की चार लड़कियाँ-लहँगा, ब्लाउज़ तथा मुकुट से सुसज्जित होकर मन्दगति से नृत्य एवं शारीरिक-व्यायाम प्रस्तुत करती हैं। पृष्ठभूमि में दो प्रौढ़ महिलायें गायन करती हैं तथा कर्णसुखद वाद्यध्वनि निरन्तर प्रवर्तित होती रहती है ।

४३. गोपाल नृत्य (Tari Gopal)

बाली की जेम्ब्राना कमिश्नरी में, शंकर-अगुंग गाँव में मैंने यह मनोहर नृत्य १५ सितम्बर ८८ को देखा, बहुत अच्छा लगा। यह लोकनृत्य भगवान् श्रीकृष्ण के गोचारण पर आश्रित है (गोकि बालीवासियों को नृत्य की इस पृष्ठभूमि का कोई ज्ञान नहीं है। वे तो बस **चरवाहों का नृत्य** समझते हैं इसे)।

कछनी-मुकुट पहने, पैरों में मोटे कड़े डाले, हाथ में ठिगनी लाठियाँ लिये, आठ बच्चे लँगड़ाते, फुदकते, छलांग मारते, गोचारण के विभिन्न पक्षों का अभिनय करते निर्बन्ध नृत्य करते हैं। नेपथ्य में वाद्यध्वनि गूंजती रहती है, परन्तु कोई गीत नहीं गाया जाता।

बाली के समस्त स्थानीय कार्यक्रम डेनपसार दूरदर्शन केन्द्र से प्रसारित होते हैं। परन्तु तारी गोपाल को सर्वप्रथम मैंने जकार्ता दूरदर्शन से देखा। इसका अर्थ यह हुआ कि गोपाल नृत्य जावा में भी लोकप्रिय है।

४४. तेपेरी क्रियासी नृत्य (Tari Teperi Kreasi)

लुंगी, कमीज, कमरबन्द तथा मुकुट पहने, सात बच्चियाँ बायोलिन तथा ढोलक की धुन पर मन्द-मन्द गति से नृत्य करती हैं। सिर मटकाते हुए, बाहों को बीच-बीच में कम्पित करते रहना—मुझे इस लोकनृत्य का सर्वाधिक रोचक वैशिष्ट्य प्रतीत हुआ।

नृत्य करती कन्याएँ नाना प्रकार की रेखाकृतियाँ बनाती हैं— कभी सीधी पंक्ति तो कभी समरेख दो पंक्ति तो कभी क्रॉस।

४५. पेलांगी नृत्य (Tari Pelanggi)

हारमोनियम की श्रुतिमधुर धुन पर सात कन्याएँ खुले आतपत्रों के साथ, विविध मुद्राओं में नृत्य करती हैं। कुछ समय बाद, छत्ता जमीन पर रख कर वृत्त बना कर नाचने लगती हैं। एक-दूसरे का हाथ पकड़े वे दो कन्याओं के बीच में

निकलती-भागती अनेक शिशु क्रीडाएँ सम्पन्न करती हैं। इन क्रीडाओं के अनन्तर वे पुनः अपने सतरंगी छत्ते उठा लेती हैं।

पेलांगी का अर्थ है— इन्द्रधनुष, जो सतरंगी छत्तों के कारण सार्थक ही प्रतीत होता है।

४६. कुसुम सरबय नृत्य (Tari Kusum Sarabaya)

संस्कृत शब्द सुवर्णद्वीपीय उच्चारण में इतने विकृत हो उठे हैं कि उनका प्रत्यभिज्ञान सम्भव नहीं जैसे Saudar (सहोदर), Sendi (सन्धि), Bijaksana (विचक्षण), Memariksa (परीक्षा), Atintiya (अचिन्त्य) आदि। मुझे पूर्ण विश्वास है कि **सरबय** शब्द भी मूलतः संस्कृत सौरभ्य ही है।

प्रायः १२ वर्ष वय की पाँच कन्याएँ जड़ाऊ वस्त्र, आगुल्फ घाँघरा, कटिवस्त्र, मुक्ताहार, ताटंक, वलय से सुसज्जित तथा कन्धों पर नयनाभिराम उत्तरीय डाले, सिर, नेत्र तथा चिबुक-कम्पन के साथ मनोमोहक नृत्य सम्पन्न करती हैं। सुप्तोत्थित निद्रालस केसरी की तरह बीच-बीच में कन्धरा को झकझोरना इस नृत्य का वैशिष्ट्य है।

नेपथ्य से वाद्यवृन्द की समवेत ध्वनि प्रस्फुटित होती रहती है। पूरे नृत्य में गायन नहीं होता है।

४७. एगर् मरह् नृत्य (Tari Egar Marah)

यद्यपि मूलरूप में बाली का यह नृत्य नैवेद्यकोटिक अथवा शास्त्रीय है। परन्तु अब इसे धर्मनिरपेक्ष अथवा लोकनृत्य के रूप में भी प्रस्तुत किया जाने लगा है, मन्दिर-परिसर से बाहर।

सांगोपांग पेलेगोंगन की धुन पर एक वयःसन्धिरूढ़ा कन्या करण-अंगहार के साथ भव्य नृत्य प्रस्तुत करती है। वाटिक सारोंग, पूरी बांह की जरीदार कमीज, कमरबन्द, सौवर्ण गेलुंगान तथा नितम्बावलम्बी स्कन्धोत्तरीय—यह है नर्तकी की वेषभूषा। वह अंग-प्रत्यंग अलंकरण धारण किये रहती है। नेत्रों (कटाक्ष) बाहों

तथा उरोजों का कमनीय रिङ्गण इस नृत्य की विशेषता है । पूरे नृत्य में गायन नहीं होता ।

४८. टोपेंग नृत्य (Tari Topeng)

चुस्त पायजामा, जरीदार वस्त्र-निर्मित कोट, जरीदार कमरबन्द, मुकुट तथा मुक्ताहार पहने तीन कन्याएँ वाद्यध्वनि पर, विविध मुद्राओं में नृत्य करती हैं । मुकुट से जुड़ी मोती झालरें परितः लटकती रहती हैं, ठीक यूं ही जैसे भारतीय (पंजाबी) विवाह में घुड़चढ़ी करते वर के मुकुट की पुष्पमालाएं । गायन नही होता ।

यह लोकनृत्य, बाली-जावा में इन दिनों लोकप्रियता के शिखर पर पहुंचे उस **टोपेंग** से सर्वथा भिन्न है, जिसमें कुछ मसखरे (और कभी-कभी एक क्लीब भी) भदेस की सीमा तक लाँघते हुए राष्ट्र अथवा समाज की किसी समस्या का विद्रूप प्रस्तुत करते हैं । टोपेंग का अर्थ ही है—मुखौटा (mask) । क्लीब पात्र के अतिरिक्त समस्त मसखरे प्लास्टिक के मुखौटे लगाते हैं, जिन्हें देखते ही हँसी का फौव्वारा छूटने लगता है ।

टोपेंग का कोई पूर्वनिश्चित सन्दर्भ अथवा लिखित संवाद नहीं होता । यह जावा तथा बाली के नर्मपेशल, प्रत्युत्पन्नमति तथा सधे हुए विलक्षण कलाकारों का बुद्धि-विलास मात्र है । वे इसे दस-पन्द्रह मिनट से लेकर घण्टे-दो-घण्टे तक चलाते रह सकते हैं ।[१]

४९. वीरयुद्ध नृत्य (Tari Virayuda)

शीर्षक के अनुरूप ही, यह नृत्य प्राचीन काल के युद्धोन्मुख वीरों का दृश्य प्रस्तुत करता है । चार, पाँच या छः बच्चे वीरवेश धारण कर, हाथ में भाला लिये— वाद्यध्वनि पर युद्ध की अनेक गतिविधियों का जीवन्त प्रदर्शन करते हैं ।

---

१. २९ अप्रैल ८८ ई० को मैंने जेम्ब्राना के मुख्यालय **नगर** में एक भव्य टोपेंग अपने मित्र आदिकेशव के साथ देखा । फोटोग्राफी करते समय, मेरा परिचय यथाकथञ्चित् प्राप्त कर मसखरों ने अपने संवाद में मेरी भी विस्तृत चर्चा की तथा भारत के सन्दर्भ में **सिक्ख-समस्या** का भी उल्लेख किया ।

दूरदर्शन पर जो नृत्य मैंने देखा था, उसमें चार बच्चे मात्र सात-आठ वर्ष वय के थे। परन्तु पेलियातन् गाँव के प्रदर्शन में पाँच बच्चे प्रायः चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु के थे।

५०. अश्वनृत्य (Tari Kuda)

चिपटे काष्ठफलक से निर्मित तथा वर्णप्रयोग से जीवन्त प्रतीत होने वाले घोड़ों को जाँघों के बीच दबा कर अश्वारोहण का अभिनय करते सात-आठ वर्ष की अवस्था के चार शिशु अश्वनृत्य सम्पन्न करते हैं। घोड़े को चाबुक मारने, सरपट दौड़ाने तथा अचानक रुक जाने अथवा अगले पैरों को हवा में लहराते हुए पिछले पैरों पर खड़े हो जाने की स्वाभाविक क्रियाओं का प्रदर्शन, नृत्यपटु बच्चे बड़ी तन्मयता के साथ प्रस्तुत करते हैं।

नेपथ्य में वाद्यध्वनि प्रवर्तित होती रहती है। कुडा (कुर्द ?) का अर्थ है अश्व।

५१. पुष्प नृत्य (Tari Bunga)

बुंगा का अर्थ है पुष्प। पांच-सात वर्ष वय की तीन बच्चियाँ काला ब्लाउज तथा बाटिक स्कर्ट पहने, शीश पर सघन पुष्पमाला धारण किये तथा दोनों हाथों में तीन-तीन गुलाब के फूल लिये, हारमोनियम आदि वाद्यों पर कोमल नृत्य प्रस्तुत करती हैं, मानो पुष्प स्वयं वातान्दोलित होकर अपने वृन्त पर झूम रहे हों।

५२. कुपुकुपु नृत्य (Tari Kupukupu)

पश्चिमी जावा के बाडुंग-क्षेत्र में प्रचलित तितली नृत्य (Tari Cuning) की चर्चा कर चुका हूँ। कुपुकुपु का भी अर्थ है- तितली (butter fly)। यह नृत्य बाली द्वीप का है। सम्भवतः इसीलिये नृत्य को यह अभिनव संज्ञा दी गई है। सात-आठ वर्ष वय की पाँच बच्चियाँ वाद्यध्वनि पर, तितली का अभिनय करती हुई नाचती हैं।

सिर पर गेलुंगान, सफेद फ्रॉक पहने तथा दोनों हाथों में रुपहले मोटे कागज से बने विशाल पंख पड़फड़ाती हुई, फूल-फूल पर बैठने, रस पीने तथा अचानक फुदक कर भाग खड़े होने का नयनाभिराम अभिनय करती नन्हीं बच्चियाँ मनोहर नृत्य करती हैं ।

प्रमुख वाद्य हैं— हारमोनियम, तवातवा, कञ्जुर तथा ढॉख ।

५३. कोप्पेक् नृत्य (Tari Koppek)

१२; १३ वर्ष अवस्था की सात कन्याएँ, हाथ में एक पोला (पतला) वेणुदण्ड लेकर, उठती-बैठती तथा वर्तुलाकार घूमती हुई, वाद्यध्वनि पर नृत्य करती हैं । पूरी प्रस्तुति गुर्जरप्रदेश के **डाँडिया रास** जैसी प्रतीत होती है ।

कन्याएँ वाटिक सारोंग, बाजू, कमरबन्द तथा मुकुट से सुसज्जित रहती हैं । प्रमुख वाद्य हैं ढॉख, वंशी तथा झाँझ !

५४. शशनृत्य (Tari Kilinci or Rabbit dance)

यह नृत्य अभी हाल में ही **नृत्यकला अकादमी** डेनपसार (ASTI) के एक स्नातक द्वारा आविष्कृत किया गया है । पेलियातन् गाँव में मञ्च पर इसे पाँच-छः वर्ष आयु के सात नन्हें-मुन्नों (बच्चे-बच्चियाँ) ने प्रस्तुत किया । यह नृत्य अनिवार्यतः बच्चों का है, क्योंकि बड़े आयु के लोग खरगोशों जैसा नैसर्गिक अभिनय कर ही नहीं सकते । यह नृत्य भोले-भाले खरगोशों का शान्त एवं उछाहभरा जीवन रूपायित करता है ।

खरगोशों के ही समान झबरीले कञ्चुकों से युक्त तथा ऊर्ध्वकर्ण कण्टोपों का मुखौटा लगाये एक-दूसरे को प्यार करते, खुजलाते, खदेड़ते, नासापुट उठा-उठा कर सूंघते तथा प्रणययुद्ध करते इन शशों की दैनन्दिन केलियों का एक सहज प्रदर्शन था । इसमें वाद्य अथवा गीत का प्रयोग नहीं था, परन्तु शशों की धमाचौकड़ी तथा लड़ाई-भिड़ाई को विविध ध्वनियों के माध्यम से प्रकट किया गया था ।

५५. मयूर नृत्य (Tari Merak or Peacock dance)

यह बाली का सुप्रसिद्ध समूह-नृत्य है तथा बच्चे बच्चियों के विशाल दल द्वारा प्रस्तुत किया जाता है । पेलियातन् मञ्च पर इसे छः किशोरियों ने प्रस्तुत किया । नृत्य का प्रमुख आकर्षण है— पीठ पर बंधे मयूर-पिच्छ की बंधी डोरियों को खींच कर व्यायत (विस्तीर्ण) करना तथा उसी मुद्रा में घुटनों के बल बैठकर मयूर जैसा ही स्वाभाविक नृत्य करना ।

बीच-बीच मे मयूरों के ही समान उद्ग्रीव होकर चारों ओर देखना तथा कभी अकेले-कभी युगल मुद्रा में नृत्य करना, इस नृत्य का वैशिष्ट्य है । पूरे नृत्य में अत्यन्त मन्दगति से गांग तथा वंशी-वादन चलता रहता है ।

५६. काञ्चनमृग नृत्य (Tari Kijang Kencana)

यद्यपि इस नृत्य का शीर्षक रामकथात्मक पृष्ठभूमि का स्मरण कराता है, परन्तु इसमें रामायण का सुवर्णमृग-उपाख्यान नहीं रूपायित है । यह भोले-भाले हिरनों के आतंकरहित शान्त-सुस्थिर जीवन-क्रम पर आधारित है । नृत्य में दिखाया गया है कि एक हिरन के बीमार पड़ते ही कैसे सारे के सारे हिरन मन मारे उदास खड़े, अश्रुपूरित नेत्रों से ताकते— उसे घेर कर खड़े हो जाते हैं, बीमार मृग को सूंघने, चाटने, खुजलाने तथा प्यार करने लगते हैं ।

प्रेम की शक्ति महान् है । सचमुच बीमार मृग स्वस्थ हो उठता है और पुनः अपने सहचरों के साथ चौकड़ी भरने लगता है ।

इस नृत्य में भी गांग तथा वंशी मात्र बजते हैं— धीमी गति से ।

५७. घुँघुरू नृत्य (Tari Gentorag)

घुटने तक का चुस्त पायजामा, जड़ाऊ बाजू तथा गेलुंगान पहने, पैरों में घुँघुरू बाँधे तीन कुमार वय के बच्चे पेलेगोंगन की धुन पर यह नृत्य प्रस्तुत करते हैं । जावा-बाली के समस्त लोकनृत्यों में **घुँघुरू** (Gentorag) का प्रयोग मैंने इसी नृत्य में देखा ।

५८. गबोर नृत्य (Tari Gabor)

धर्मानुष्ठानों में प्रयुक्त शास्त्रीय नृत्य **पेण्डेत** (Pendet) का लोकनृत्यात्मक रूप ही गबोर नृत्य है । बाली की पारम्परिक वेषभूषा (सबुक्, गेलुंगान आदि) में सजी दो कन्याएँ, हाथों में रजतपात्रों को थामें, परमेश्वर की प्रार्थना करती हुईं नृत्य करती हैं । सांगोपांग पैलेगोंगन बजता रहता है । नृत्य के अन्त में वे रजतपात्र से फूल निकाल कर, दर्शकों पर फेंकती हैं ।

५९. स्वागत नृत्य (Tari Penyambutan)

गबोर नृत्य जहाँ मन्दिर नृत्य (Temple dance) पेण्डेत का परिवर्तित रूप है, वहीं तारी पेन्याम्बुतान आधुनिक नृत्य-समारोहों का स्वतंत्र स्वागत नृत्य है । वस्तुतः प्रत्येक नृत्य महोत्सव में प्रारंभ एवं समापन-नृत्य का विधान है । तारी पेन्याम्बुतान प्रारंभ नृत्य अथवा स्वागत नृत्य (Welcome dance) है। इसमें नृत्यकिशोरियों की संख्या निश्चित नहीं है ।

शंकर-अगुंग गाँव के महोत्सव में पारम्परिक वेषभूषा में सुसज्जित तीन किशोरियों ने, पेलेगोंगन के साथ इस नृत्य को सम्पन्न किया । गबोर की ही तरह इस नृत्य में भी कन्याएँ अन्त में पुष्प-वर्षा से दर्शकों का स्वागत-अभिनन्दन करती हैं ।

६०. समापन नृत्य (Tari Joged)

इस नृत्य में बारी-बारी से कई किशोरियाँ नृत्य करती हैं। बाली की पारम्परिक वेषभूषा में सुसज्जित किशोरी, हाथ में छोटा-सा व्यजन लिये हुए, दर्शकों से घिरे मञ्च पर प्रविष्ट होती हैं । यह पेलेगोंगन की मादक धुन पर नाना भावभंगियों के साथ आकर्षक नृत्य करती हैं ।

इसके बाद ही नृत्य एक लोकपरम्परा (Tradition) की ओर मुड़ता है । नाचते-ही-नाचते किशोरी किसी भी बूढ़े, बच्चे, युवक अथवा युवती को पंखे से छू देती है । फिर तो तत्काल ही उस व्यक्ति को उठ कर किशोरी के साथ, जैसा भी

सही, नाचना पड़ता है । ऐसे अवसर पर न कोई शरमाता है और न ही पलायन करता है ।

प्राय: चार-छ: मिनट नृत्य करने के बाद आमंत्रित व्यक्ति कुछ पारितोषिक (धनराशि) देकर किशोरी से विदा लेता है । प्राय: समापननृत्य का यह क्रम घण्टों चलता है । एक किशोरी के थकते ही दूसरी आ जाती है । आनन्द-उछाह का यह क्रम पराकाष्ठा पर तब जा पहुंचता है, जब नर्तकी जानबूझ कर किसी पोपले मुँह, धँसी आँखों तथा आभुग्नकटि रसिक-वृद्ध को छू देती है । परन्तु ताव खाये, बूढ़े कलाकार भी ऐसा ठुमका लगाते हैं कि सारा गाँव लोट-पोट हो जाता है ।

शंकर-अगुंग गाँव की किशोरी ने जापानी दर्शकों की टोली में बैठे एक ऐसे 'मोटे' को छू दिया कि उसे दो लोगों ने सहारा देकर खड़ा किया । बेचारा क्या करता ? नृत्यमण्डप तक गया और एक हजार रुपियाह (भारतीय दस रुपया) का नोट थमा कर, हाथ जोड़ कर लौट आया । मेरे मित्र वायान् रेदिग तो सिद्धहस्त बरीस-नर्तक हैं ही । उन्हें छू कर बेचारी किशोरी गलती कर बैठी, क्योंकि रेदिग ने उसे शास्त्रीय-पद्धति से अपने ही समानान्तर नचा कर थका दिया ।

अब तक के जीवन में प्रथम और अन्तिम बार मैं भी वहीं नाचा । विश्व विद्यालय में प्रायः एक दशक का नाट्याभिनय-अनुभव अन्तत: बाली में काम आ गया ।

जावा तथा बाली के लोकनृत्यों का यह विवरण यहीं समाप्त होता है । परन्तु यह विवरण अन्तिम नहीं है । यदि मैं बीच में भारत न लौटा होता अथवा बाली पहुँच कर पुन: **दूरदर्शन** देखने लगा होता– तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि दसियों नवीन लोकनृत्य पुन: परिचय-परिधि में आये होते । परन्तु अब मैं भारत लौटने की मनःस्थिति एवं त्वरा में हूँ । दूरदर्शन-यंत्र भी पिटक में बँध चुका है, जिसे पुन: मुक्त करना व्यवहार में लाना संभव नहीं ।

जावा तथा बाली आज भी सुवर्णद्वीपीय गन्धर्व-संस्कृति का उर्वर-केन्द्र है । नित्यप्रति नये-नये लोकनृत्यों का अविष्कार हो रहा है । इण्डोनेशिया-शासन

ने **नृत्यकला अकादमी** (Akadami Seni Tari Indo) स्थापित कर रखी है, जिसकी शाखाएं प्रत्येक द्वीप के प्रत्येक काबूपातन् (कमिश्नरी) में हैं। फलत: लोकनृत्यों का विकास बड़ी तीव्रता से हो रहा है।

नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते। इस निबन्ध का समग्र विवरण मेरे व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है। शंकर अगुंग (जेम्व्राना) तथा पेलियातन् (उबुद) मञ्चों की प्रस्तुतियों को देखने का अनेक अवसर देने के लिये मैं अपने वरिष्ठ मित्र श्री द्याउस तथा श्री आनक अगुंग राका के प्रति आभारी हूँ। प्रिय श्री वायान् रेदिग ने निबन्ध लिखने में उठी आशंकाओं का यथावसर, स्थानीय-सूचनाओं द्वारा समाधान किया है। तदर्थ उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

आशा है इस परिश्रम से भारतीय रंगकर्मियों, नाट्यशास्त्रियों, सहृदय विपश्चितों एवं नृत्यानुरागियों का बौद्धिक मनोरंजन होगा।

सप्तदश अध्याय

बालीद्वीप का महामेरु : गुनुंग अगुंग

पूर्णवर्मा के शिलालेख से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि चंपा (वियतनाम) कंबुज (कंपूचिया) द्वारावती, सुखोदय, अयोध्या (थाईलैंड) सुवर्णभूमि (वर्मा) तथा कटाहद्वीप (वर्तमान केडाह, मलेशिया) की ही तरह सुवर्णद्वीप (जावा तथा बाली) में भी हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की स्थापना ईशा की प्रथम शती में ही हो चुकी थी। सुमात्रा का श्रीविजय-साम्राज्य, जिसकी राजधानी पालेम्बंग थी, चीन तक प्रख्यात हो चुका था अपनी सैन्यशक्ति एवं समृद्धि के लिए। उधर मलय प्रायद्वीप में शैलेन्द्रों का उत्कर्ष भी पराकाष्ठा पर था। भारत के दक्षिणापथ-नरेश राजेन्द्र चोल से इन शैलेन्द्रों का दशकों तक संघर्ष होता रहा। शैलेन्द्र दो बार चोलों के दुर्धर्ष जहाजी बेड़े से छिन्न-भिन्न हो गये, परंतु अंततः संघर्ष स्थायी मैत्री में परिणत हो गया।

संस्कृत काव्य में विजय-वर्णन— शैलेन्द्रों की एक शाखा ने मध्यजावा के मतराम नगर में अपना राजवंश सातवीं शती के अंतिम चरण में स्थापित किया। सन्नाह इस वंश का प्रथम शासक था। सन्नाह के दिग्विजयी पुत्र संजय ने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया। मध्यजावा के केडू प्रांत में स्थित बुकिर पहाड़ी पर एक विशाल शिवमंदिर के ध्वंसावशेष में संजय का चंगल प्रशस्ति लेख मिला है, जिसकी तिथि शक संवत् ६५४ (७३२ ई०) है। इसके १२ संस्कृत-पद्यों में संजय की विजयों का काव्यमय वर्णन है। मजपहित-वंशी अंतिम जावा-नरेश १४७८ ई० में मुस्लिम-आक्रमण में मारा गया। इस प्रकार, सातवीं शती से पंद्रहवीं शती के अंत तक जावा निरंतर हिन्दू-संप्रभुता के अधीन रहा। मतराम, कडिरी, सिंहसारि तथा मजपहित नामों से विख्यात चार राजवंशों के शासन-काल में भारतीय शैव, वैष्णव तथा बौद्ध

धर्मों का जावा तथा पास के अन्यान्यं द्वीपों में भी प्रभूत विकास हुआ। भारतीय पुराणों के संपूर्ण **भुवनकोश** को जावा के श्रेष्ठ कवियों, विचारकों एवं दार्शनिकों ने यवद्वीप में ही रूपायित कर दिया। सुमेरु, हिमालय, अमृततोया गंगा, विंध्य— सभी जावा में स्थापित हो गये।

पूर्वी जावा में विद्यमान सुमेरु पर्वत (वर्तमान माउंट सुमेरु) द्वीप की संपूर्ण पराभौतिक चेतना का केन्द्रबिन्दु था। अर्जुनविजय ककविन् के लेखक **बौद्धकवि** तंतुलर ने (१४वीं शती ई०) ग्रंथ के मंगलाचरण में ही इष्टदेवता के रूप में **'ओम् श्रीपर्वतराजदेव हुरिपिङ् सर्वप्रमाणेङ्गगत्'** कहकर सुमेरु की वंदना की। नागरकृतागम के कवि प्रपंच (तंतलुर का ही समकालीन) ने भी **पर्वतनाथ एवं गिरींद्र** के रूप में, कौरवाश्रम ककविन् के लेखक ने **राजपर्वत** के रूप में तथा अर्जुनविवाह के लेखक म्पू कण्व ने वीरअर्जुन की तपस्यास्थली के रूप में (**इन्द्रपर्वत** के रूप में) सुमेरु की वंदना की। महाभारत में वर्णित हिमालय का **इन्द्रकील**शिखर ही कण्व-कल्पित इन्द्रपर्वत है। पंतरन् शिवमंदिर (पूर्वजावा) में भी **अचलपति** की प्रतिमा प्रतिष्ठित थी जिसके दर्शनार्थ मजपहित का सार्वभौम सम्राट् हयम वुरुक (राजसनगर) प्रतिवर्ष आता था, ऐसा उल्लेख प्रपंचकृत नागरकृतागम में मिलता है।

पिछले दस महीनों के गहन अध्ययन एवं अध्यापन-क्रम में मैंने अनुभव किया कि इन समस्त द्वीपों में स्थायी शांति कभी नहीं रही। भारत की ही तरह राज्यलिप्सा के मोह में, इन द्वीपों में भी निरंतर षड्यंत्र, हत्या, युद्ध, पलायन, छल, छद्म एवं सत्तांतरण का बोलबाला रहा। जनता कभी सुख की नींद नहीं सो सकी। हाँ जावा में सम्राट् एरलंग, कृतनगर तथा हयम वुरुक के शासनकाल अपवाद माने जा सकते हैं।

बालीद्वीप और भारत की समानताएं

परंतु जावा का पड़ोसी बाली द्वीप प्रथमशती के आरम्भ से ही सुख की नींद सो रहा था। यहां न तो राजसत्ता का उतार-चढ़ाव था, न ही रक्तपात। यहां की

हिन्दू-संस्कृति जावा से तो प्रभावित थी ही, परंतु भारत के साथ उसका अपना सीधा संबंध भी था । बालीद्वीप में विकसित शैव, वैष्णव तथा बौद्ध धर्म जावा की तुलना में कहीं अधिक परिष्कृत, मौलिक एवं अपनी मूलभूमि के समीप था । यहाँ की भाषा **प्राचीन बालीभाषा** (ओल्ड बालीनीज़) जावा की कवि-भाषा (ओल्ड जावा-नीज़) के ही समान संस्कृत-बहुल थी । प्राचीन बाली भाषा की लिपि भी दक्षिण भारतीय पल्लव लिपि पर आश्रित थी । जावा के साथ इन सारी समानताओं के बावजूद बाली का शांत, निष्कंटक वातावरण दार्शनिक, चिंतन एवं कर्मकांडीय व्यवस्था के सर्वथा अनुकूल था ।

फलतः बालीद्वीप ने जावा से एकदम अलग होकर अपनी अस्मिता स्थापित की । बाली का मानचित्र भी अद्‌भुत रूप से मूलभूमि भारत के समान था । यहां तक कि हिमालय-जैसा **गनुंग-अगुंग** तथा लंका जैसा **नूसा-पनीडा** द्वीप भी क्रमशः बाली के उत्तर एवं दक्षिण में थे । इस प्रकार बाली को **अपना** भारतीय भुवनकोश स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई । सुमेरु, अमरावती, गंगा—बाली के धर्माचार्यों ने अपने ढंग से, अपने ही द्वीप में स्थापित किये । जावा से महान् धर्मचिंतक कुतुरान सम्राट् उदयन के शासनकाल (१०वीं शती ई०) में तथा प्रसिद्ध तांत्रिक धर्माचार्य नीरार्थ (उपनाम द्विजेन्द्र, बहुराहु) सोलहवीं शती में, गेल्गेलनरेश बाटुरेंगांग के समय में आया । इन्हीं श्रेष्ठ आचार्यों ने बाली के हिंन्दू-धर्म, कर्मकांड एवं आचार-संहिता को एक मौलिक रूप दिया ।

१०५६० फुट ऊंचा गुनुंग-अगुंग बाली प्रांत की राजधानी डेनपसार से, ईशान कोण में प्रायः ७० कि.मी. दूर है । नगर के पूर्वी छोर पर, समुद्र एवं तटवर्ती सानुरबीच राजमार्ग पर पहुंचते ही पर्वत का भव्यभाल स्पष्टतः दीखने लगता है ।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा ! कविकुलगुरु कालिदास कुमारसंभव का प्रारंभ करते हुए ही कहते हैं—उत्तर दिशा में देवतात्मा (हिमालय नामक नगाधिराज) है । वर्ष के प्रथम दिन अर्थात् पिछली एक जनवरी (१९८८ ई०) को भी मैं अपने कनिष्ठ मित्र वायान रेदिग के साथ बाली द्वीप के अपने महामेरु के दर्शनार्थ चला तो, नगर से बाहर निकलते ही सुमेरु-शिखर दृष्टिपथ में आ गया और मैं

स्वभावतः कुमारसंभव का उपर्युक्त श्लोक गुनगुनाने लगा । गुनुंग-अगुंग के विषय में काफी कुछ पढ़ रखा था । बाली के पुराणों, मिथकों तथा जनश्रुतियों में रचे-बसे महामेरु के सारे संदर्भ मेरी स्मृति में थे । बस भावना, कल्पना एवं सपनों की उस चिर-संस्तुत पर्वत-प्रतिमा का चाक्षुष प्रत्यक्ष भर करना बाकी था ।

बाली इंडोनेशिया गणतंत्र का सत्ताईसवां राज्य है । पूर्व-पश्चिम में प्रायः २१० कि.मी. तथा उत्तर-दक्षिण में १२० कि.मी. विस्तृत, पूरा द्वीप आठ **कबूपतान** (कमिश्नरियों) में विभक्त है—बुलेलेंग, जेंब्रान, तबानान, बादुंग, गियान्यार, बांगली, क्लुंगकुंग तथा करंगसम । गुनुंग-अगुंग द्वीप के पूर्वोत्तर भाग में करंगसम में स्थित है । डेनपसार से गियान्यार होते हुए क्लुंगकुंग तक हम थोड़ा उत्तर झुकते हुए, सीधे पूर्व दिशा में गये । क्लुंगकुंग से वाहन बदलकर १६ कि.मी.सीधे उत्तर दिशा में बढ़े । इसके बाद ही प्रारम्भ हो गयी महामेरु की चढ़ाई ।

वाहन जैसे-जैसे ऊँचा उठ रहा था धरातल वैसे ही वैसे और अधिक खुलता जा रहा था । पहले तो पार्श्ववर्ती सीमाएँ दिखीं, फिर दूरवर्ती सीमाएँ भी दिखने लगीं और **तीर्त-जांबुल** पहुंचने पर तो सारा द्वीप ही **कंदुक**-जैसा प्रत्यक्ष दीखने लगा । यह अपनी ही दृष्टि की अक्षमता एवं विवशता थी कि हम संपूर्ण बाली को नहीं देख पा रहे थे । फिर भी द्वीप की दक्षिणी, पूर्वी सीमांत-भूमि, मध्याह्न रवि की ऊष्मा से उद्दीप्त प्रशांत महासागर की कल्लोल-बहुला जलराशि के साथ, प्रत्यक्ष दीख रही थी ।

तीर्त-जांबुल : सुमेरु उष्णीष

गुनुंग-अगुंग के मुख्य शिखर से प्रायः सात कि.मी.पूर्व ही एक छोटे शिखर की पूरी परिक्रमा करनी पड़ती है । इसे बुकिर जांबुल अथवा जांबुल शिखर कहते हैं । परन्तु बाली के पुराण ग्रंथों में इसे सुमेरु का उष्णीष (पगड़ी) मानकर एक पवित्र तीर्थ का महत्त्व दिया गया है । उष्णीष विशुद्ध संस्कृत शब्द है तथा जांबुल उसका स्थानीय पर्याय । दोनों ही शब्द उशना बाली तथा जतूर योग आदि बाली के ग्रन्थों में प्रयुक्त हैं ।

तीर्त-जांबुल में प्रकृति का अखंड वैभव है । लतावितानों एवं घने झुरमुटों की अटूट परंपरा, हजारों रंग की वनस्पतियां जिन्हें मैंने दक्षिण भारत अथवा हिमालय की अंतरंग यात्राओं में भी नहीं देखा था—वे सब यहां दिखीं । बाँस, केले और नारियल तो मानो **द्वीप-पुरुष** के शरीर की रोमराजियां हैं । बाली द्वीप में आप एक कि.मी. भी ऐसा मार्ग नहीं चल सकते जो सघन वेणुवनों अथवा केले के झुरमुटों से न गुजरता हो । संपूर्ण द्वीप अक्षय हरीतिमा से ओत-प्रोत है । यद्यपि तीर्त-जांबुल शिखर पर भी अनेक भव्य स्थान हैं देखने योग्य, फिर भी समयाभाव के कारण हम वहां नहीं रुके । बस, वाहन में बैठे-ही-बैठे **पर्वत-उष्णीष** का बाह्यरूप देखते सुमेरु की ओर बढ़ गये ।

महामेरु के दिव्य-दर्शन

मध्याह्न से कुछ पूर्व हम **सुमेरु-धाम** पहुंच गये थे । टैक्सी बस-स्टेशन पर रुक गयी । यहां से महामेरु के श्रीचरणों (स्लोप) की दूरी प्राय: दो कि.मी. है । एकदम पूर्वाभिमुख चलना पड़ता है । किराये पर मोटर साइकिलें, स्कूटर्स तथा मोपेड उपलब्ध हैं । परंतु मैंने पैदल चलना ही ठीक समझा । सड़क उत्तरोत्तर ऊंची होती जा रही थी, परंतु सड़क के दोनों ओर पोर-पोर गदराये चंपक-पुष्पों की तीव्र गंध मानो सारी थकावट निगलती जा रही थी । सारा वातावरण महमहा उठा था । चंपा की घनीभूत गंध, गाढ़े रस-जैसी मीठी एवं मूर्त प्रतीत हो रही थी ।

कुछ ही क्षणों में मैं और रेदिग महामेरु के श्रीचरणों में आ पहुंचे । अब पूर्व दिशा में हमारे समक्ष बाली के अचलदेवता का भव्य भाल था और हमारे चारों ओर स्थित थे इस पवित्र तीर्थ के प्राय: २५ मंदिर । इतने समीप आ जाने पर भी हम शिखर से प्राय: पांच-सात कि.मी.दूर थे । पर्वत का निचला प्राय: दो तिहाई भाग तो सांद्र हरीतिमा से भरा-पूरा दीख रहा था । परन्तु ऊपर का एक तिहाई भाग एकदम उजाड़ एवं वनस्पति-शून्य । शिखर पर एक विशाल दरार भी स्पष्ट दीख रही थी, जिसका रहस्य मैंने रेदिग से यात्रापथ में ही सुन चुका था ।

सन् १९६३ ई. में एक दिन अचानक महामेरु राख,लावा तथा शिलाखंड उगलने लगा। सारा द्वीप यह दृश्य देखकर कांप उठा। खौलते लावे की नदी हजारों घरों को निगल गयी। सब कुछ इतना अप्रत्याशित था कि लोग भाग भी नहीं सके । और भागते भी कहां? राख के बादल इतने घने थे कि बाली में तीन दिन तक सूर्य दीखा ही नहीं। दिन एवं रात का भेद ही मिट गया। रेदिग का गांव शिवांग महामेरु से प्राय: ७० कि.मी. दूर है, परंतु वहां भी जमीन पर एक इंच मोटी महीन राख की पर्त जम गयी थी।

करंगसम रिजेंसी का शहर अमलापुर पुराने स्थान से काफी दूर दक्षिण में पुन: बसा है। पुराना नगर लावे की चपेट में ढह गया । **तीर्तगंगा** की यात्रा में मैंने उस भैरव विनाश-लीला के अवशेष देखे। राख के विशाल पर्वत चारों ओर बिखरे पड़े हैं। यदि उस राख का भवन-निर्माण में उपयोग किया जाय तो पूरी शती में भी शायद ही उसका दशांश खर्च हो सके। मेरे मित्र रेदिग तब प्राइमरी स्कूल के छात्र थे। परंतु द्वीपवासियों की दहशत तथा स्वयं अनुभूत महामेरु-कोप की स्मृति अभी भी उन्हें है।

कौन जाने महामेरु का **ज्वालामुख**कितना लंबा-चौड़ा है? फिर भी उसे दूर से ही स्पष्टत: देखा जा सकता है। तीन दिनों की उसी अजस्र अग्निवर्षा में महामेरु का शिखर दग्ध हो गया। सारी वनस्पतियाँ जलकर राख हो गयीं। जब मैं शिवांग में रेदिंग के दादा से मिला तो उन्होंने बताया कि अपने बचपन में उन्होंने एक बार पहले भी महामेरु का यही रूप देखा था, परंतु वह **उजान अओन** अर्थात् राख-लावा की वर्षा इतनी भयावह तथो संहारक नहीं थी। दादाजी प्राय: अस्सी वर्ष के हैं अत: सुमेरु का पुराना ज्वालामुख वर्तमान शती के प्रथम दशक में फूटा होगा।

वस्तुत: पूरा बाली द्वीप भयंकर ज्वालामुखियों की पेटी में स्थित है। गुनुंग-अगुंग के पश्चिमोत्तर कोण में स्थित माउंट बाटुर भी १९१७ तथा १९२६ में बुरी तरह सक्रिय हो उठा था। एक अधिकृत विवरण के अनुसार इस पर्वत के सन् १७ के ज्वालामुखी में पैंसठ हजार घर, ढाई हजार मंदिर तथा १३७२ व्यक्तियों का विनाश हुआ था।

चूंकि बालीवासियों की दृष्टि में महामेरु भगवान् **अतिंतिय** अर्थात् अचिंत्य (परमेश्वर शिव) का ही विग्रहभूत है, अत: द्वीप की धर्मप्राण जनता ने इस ज्वालामुखी को भी प्रलयंकर शिव का **महासंहारक कोप** ही माना। बाली के गाँव-गाँव में अतिंतिय की कोपशांति के लिए पुरा पुसेह (विष्णु-मंदिर), पुरा देसा (ब्रह्मा-मंदिर), पुरा दलेम (शिव-मंदिर) तथा पुरा दद्या (पितरों का मंदिर) में महीनों पमंकू (पुजारी) तथा पेडंडा (वेदज्ञ आचार्य) विशिष्ट पूजा संपन्न करते रहे।

मिथकीय व्यक्तित्व : जनश्रुतियों का आवरण

यह कहना कठिन है कि गुनुंग-अगुंग को महामेरु अथवा सुमेरु की गरिमा कब प्राप्त हुई, परंतु बाली के विद्वान्, पंडितों, शास्त्रविदों एवं प्रबुद्ध लोगों की दृष्टि में वह एक शाश्वत देवनिलय है। भारतीयों के लिए जो महिमा कैलास अथवा मेरु की है, जावावासियों के लिए जो महिमा माउंट-सुमेरु की है, वही गरिमा एवं महिमा माउंट-अगुंग की भी है बाली के लिए। बाली के **तुतुर** ग्रंथों (= तत्त्व अर्थात् दर्शन, धर्मशास्त्र) में तो इसे संपूर्ण पृथ्वी मंडल की नाभि (केंद्रबिंदु) माना गया है। तुतुर-व्याख्याओं के अनुसार यह **ब्रह्मांड-पर्वत** (कॉस्मिक माउंटेन) है तथा संपूर्ण मानवता का पिता (संरक्षक) है। निश्चय ही बालीवासियों की माउंट-अगुंग के प्रति ये धारणाएँ भारत से ही आयातित हैं, क्योंकि श्रीमद्भागवत आदि अनेक पुराणों में उपलब्ध भुवनकोश में **सुमेरु** की परिकल्पना भी इसी रूप में की गयी है।

परंतु इन मिथकों पर जनश्रुतियों का आवरण भी कम नहीं है। एक जनश्रुति के अनुसार जावा के इस्लामीकरण के बाद, माउंट-सुमेरु पर रहने वाले, संस्तब्ध हिंदू देवताओं ने बाली-द्वीप जाने का निश्चय किया। तब बाली द्वीप एकदम समतल तथा जनशून्य था। देवों को अपने रहने के लिए प्रतिष्ठा एवं गरिमा के ही अनुकूल, ऊंचे स्थानों की आवश्यकता थी। फलत: उन्होंने चारों दिशाओं में चार पर्वत बाली में निर्मित किये—उत्तर में बाटुर, पश्चिम में बटुकरु, पूर्व में अगुंग तथा दक्षिण में पर्वत-जैसा ही एक ऊँचा पठार-बुकित पेजातू।

एक अन्य जनश्रुति, जिसका कुछ अंश **जतूरयोग** नामक एक **लोंतार** (ताड़पत्र-लिखित पांडुलिपि) में भी मिलता है, के अनुसार बाली एवं लोंबोक द्वीप के पर्वत जावा से ही स्थानांतरित होकर यहाँ आये । इस विवरण के अनुसार महामेरु गुनुंग-अगुंग केंद्रीय पर्वत है । इसके पश्चिम में बटुकरु, उत्तर में बाटुर, पूर्व में माउंटरिंजानी (लोंबोक द्वीप का एकमात्र पर्वत) तथा दक्षिण में बुकित पेजातू अवस्थित है ।

पुराकथाओं एवं जनश्रुतियों का शब्दार्थ नहीं अपितु संकेत ही ग्रहण करना चाहिए । अगस्त्य की आज्ञा से दंडवत् लेटा विंध्य, प्रत्येक वृक्ष को चंदन बना देने वाला मलय अथवा भारत-लंका के बीच समुद्र में छिपा बैठा मैनाक कम आश्चर्य नहीं पैदा करते । मानी बात है कि जावा का इस्लामीकरण एक ऐतिहासिक घटना है, जो १५ वीं शती के अंतिम चरण में घटी । पिता की मृत्यु के बाद, भयभीत मजपहितवंशी राजकुमार अपने कुटुंबियों, पुरोहितों एवं सामंतों के साथ, सागर पार कर बाली द्वीप भाग आया और वर्तमान क्लुंगकुंग रिजेंसी में स्थित गेल्गेल नगर में उसने स्वयं को **देव अगुंग** नाम से बाली का अधिपति घोषित कर दिया ।

परंतु १५ वीं शती में ये पर्वत बाली में निर्मित हुए हों अथवा जावा से उठकर बाली द्वीप में आये हों—दोनों ही लोकपरंपराएं सार्थक प्रतीत नहीं होतीं । संभवत: इनकी परिकल्पना गाँव-गिराँव के अर्धशिक्षित किस्सागो ग्रामवृद्धों द्वारा जनता के मनोरंजनार्थ की गयी होगी । अन्यथा सत्य यही है कि माउंट-अगुंग तथा बाली के अन्य पर्वत सृष्टि के प्रारंभ से ही यथास्थान स्थित हैं । भारत तथा जावा के हिंदुओं की ही पद्धति पर बाली द्वीप के हिंदुओं ने भी, संभवत: आव्रजन के प्रारंभिक चरण में ही (प्रथम शती ई.) माउंट-अगुंग को अपना **महामेरु** मान लिया होगा ।

देवभूमि : तपोभूमि

प्राचीन जावी तथा प्राचीन बाली भाषाओं में गुनुंग का अर्थ है—**पर्वत** और अगुंग का अर्थ है श्रेष्ठ, महान् । इस प्रकार गुनुंग-अगुंग का अर्थ है—श्रेष्ठ पर्वत,

पर्वतराज ! यह शब्द हिमालय के लिए प्रयुक्त **नगाधिराज** अथवा जावी कवियों द्वारा अपने सुमेरु के लिए प्रयुक्त पर्वतराज, राजपर्वत, गिरींद्र अथवा अचलपति से कतई भिन्न नहीं है । बाली द्वीप के पुराणों (ब्रह्मांडपुराण) तथा पर्वों (गद्य ग्रंथों) में उपलब्ध विवरणों के अनुसार हिंदू धर्म इस द्वीप में महर्षि मार्कण्डेय एवं अगस्त्य (शिवगुरु) द्वारा लाया गया । दोनों महर्षियों ने महामेरु अगुंग पर घोर तप किया । कालांतर में कुतुरान तथा बहुराहु (द्विजेंद्र नीरार्थ) ने भी यहाँ तपस्या की तथा अनेक मंदिरों का निर्माण किया ।

परंतु महर्षि मार्कण्डेय द्वारा स्थापित पंचदेवता मंदिर सर्वाधिक प्राचीन है । राजमार्ग की समाप्ति के बाद जब हम प्रशस्त समतल भूमि पर पहुंचते हैं तो मंदिर-शिखरों का एक अद्‌भुत दृश्य हमें चारों ओर दीखता है । जावा के समस्त हिंदू-मंदिर (प्रांबवान् बोरोबुदुर, पंतरन् आदि) भारतीय मंदिरों—जैसे ही शिखर-शैली के हैं । परंतु बाली के सभी मंदिर **मेरुशैली** के हैं । ये मेरु निश्चित रूप से विषम-संख्या में होते हैं तथा उत्तरोत्तर छोटे होते जाते हैं । इनका निर्माण पत्थर, लकड़ी अथवा द्वीप में उपलब्ध एक चिरस्थायी **खस**-जैसी घास से होता है ।

यद्यपि बाली में शैव, वैष्णव तथा बौद्ध तीनों ही संप्रदायों के लोग हैं । प्रत्येक गाँव में अनिवार्यतः शिव, ब्रह्मा एवं विष्णु के मंदिर हैं । फिर भी व्यवहारतः शैव संप्रदाय का वर्चस्व सर्वोपरि है । भगवान् अतिंतिय (परम शिव) ही द्वीपाधीश्वर हैं । वही स्वयं को त्रिधा विभक्त कर ब्रह्मशिव (ब्रह्मा), सदाशिव (विष्णु) तथा परम शिव (शिव) रूप में अवस्थित हैं । भटार गुरु, भटार इंद्र, भटार वायु आदि सब देवता अतिंतिय के ही अंश हैं । इन समस्त देवों के साथ, अचिंत्य परमेश्वर शिव महामेरु गुनुंग-अगुंग पर निरंतर निवास करते हैं । इस प्रकार माउंट-अगुंग बाली द्वीप की शाश्वत देवभूमि एवं तपोभूमि है ।

वैसाकीह मंदिर एवं त्रिमूर्ति

समतल प्रांगण के समक्ष सर्वप्रथम जो पर्वताकार विशाल मंदिर दीखता है, उसे **वैसाकीह** मंदिर अथवा मदर **टेंपल** कहते हैं, क्योंकि यही देवालय संपूर्ण

द्वीपवासियों का मूल देवालय है । वस्तुत: यह महामेरु का **पुरा दलेम** (शिव मंदिर) है, परंतु इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके प्रांगण में शिव, ब्रह्मा तथा विष्णु (त्रिमूर्ति) के पद्मासन (अधिष्ठान-पीठ) परस्पर समन्वित-शैली में स्थापित किये गये हैं । यह त्रिदेव-ऐक्य तथा भूतभावन शिव की सर्वदेवमूलकता का रूपांकन है । अन्यथा संपूर्ण द्वीप में, प्रत्येक गाँव में तीनों देवों के मंदिर एक-दूसरे से प्रभूत दूर तथा पृथक् होते हैं । शिव मंदिर तो अनिवार्यत: **शेत्र** (क्षेत्र अथवा श्मसान) के पास होता है ।

महामेरु पर भी ब्रह्मा के पृथक् मंदिर हैं । फिर भी ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को हम एक साथ वैसाकीह मंदिर में देख सकते हैं । मंदिरों में प्रवेश सर्वथा वर्जित हैं । केवल पर्वों पर प्रवेश संभव है, वह भी मंदिर की वेषभूषा में (बाली द्वीप की लुंगी, कमर में फेंटा तथा सिर पर मुकुट-जैसी भव्य पगड़ी) अपनी अन्य यात्राओं में तीर्थ एंपुल (तंपाक सिरिंग) पेतरन् ससीह मंदिर (पेजेंग) तथा दुर्गा महिषमर्दिनी (कुतरी गाँव) के दर्शनार्थ मुझे भी कार्यालय से ये पारंपरिक वेष-भूषाएं लेनी पड़ी, गो कि रेदिग से मेरा परिचय हो जाने के बाद किसी ने मुझ से 'शुल्क' नहीं स्वीकार किया ।

गुनुंग अगुंग के प्राय: २५ मंदिरों को भली भाँति देखने के लिए कई दिन चाहिए, क्योंकि प्रत्येक मंदिर जानलेवा चढ़ाई पर है । सारे मंदिर सात-आठ कि. मी. की परिधि में हैं । पर्वों के अवसर पर इन देवालयों की शोभा देखते ही बनती है । संपूर्ण द्वीपवासी भक्तगण तथा हजारों पर्यटक, महामेरु पर केंद्रित हो जाते हैं । पारंपरिक पूजाएं, प्रतिमाभिषेक तथा सारे कर्मकांडीय उपचार संपन्न किये जाते हैं । ब्रह्मा तथा शिव के अतिरिक्त पंचदेव, नवग्रह तथा एकादश रुद्र के मंदिर, क्लुंगकुंग के राजवंश का पुरा दद्या (पितर मंदिर, फेमिली टेंपल) सबका अद्‌भुत श्रृंगार किया जाता है ।

अपराह्न दो बजे तक मैं इन भव्य देवालयों को परखता रहा । मंदिरों की बस्ती में, सर्वाधिक ऊँचे स्थल पर पहुंच चुका था । यहाँ से पश्चिम दिशा में बटुकरु

पर्वत के शिखर प्रत्यक्ष दीख रहे थे । महामेरु के सैंकड़ों मंदिर-मेरुशिखर ध्वजों की तरह फहराते प्रतीत हो रहे थे । सारा दृश्य गंधर्वनगर-सा प्रतीत हो रहा था ।

लौटने की चिंता होने लगी थी, क्योंकि लोगों ने बताया था कि डेनपसार के लिए क्लुंगकुंग में वाहन चार बजे तक ही मिल पाते हैं । मैंने विनत भाव से महामेरु को अपनी प्रास्थानिक प्राणामांजलि अर्पित की और रेंदिग के साथ चल पड़ा बस-स्टेशन की ओर ।

अष्टादश अध्याय

बालीद्वीप का इन्द्रतीर्थ (तीर्त एम्पुल)

ऋग्वेद का प्रधानतम देवता इंद्र है। विभिन्न ऋग्वेदीय सूक्तों में देवराज इंद्र के अमोघ शौर्य-पराक्रम, देवकल्याण, मर्त्यलोक-कल्याण तथा अन्यान्य सद्गुणों की चर्चा की गयी है। उसने देवशुनी सरमा को अपना गुप्तचर बनाया **पणियों** का पता लगाने के लिए। पणि नामक इन नृशंस दानवों ने गायों को चुराकर, पर्वत-कंदराओं में बाँध लिया था। वे ऋत एवं सत्य के निसर्ग-विरोधी तथा लोकपीड़क थे। चतुर सरमा ने बड़ी तत्परता से उनके गुप्त शिलादुर्गों का पता लगा लिया, परंतु गुप्तचरी के प्रयास में ही अंततः पकड़ी भी गयी। पणियों ने उसे बहुत मारा। मुंह से खून उगलती सरमा किसी प्रकार वज्रधारी वीर इंद्र के पास पहुंची।

सरमा के रुधिर-वमन की लीक के सहारे पुरुहूत इंद्र पणियों के गुप्त नगर में जा पहुंचा और उन सबका संहार कर डाला। बहुक्षीरा तथा समृद्धि की प्रतीकभूता गायें मुक्त हो गयीं। महर्षि गृत्समद ऐसे ही युद्धवीर, ऋत एवं सत्य के रक्षक, लोकाभ्युदयी इंद्र के विषय में बताते हुए, यज्ञसत्र में पधारे ऋत्विजों को संबोधित करते हैं—स जनास इंद्रः ! हे ऋत्विजों ! (जनासः) वही है इंद्र। (स इंद्रः)

देवराज इंद्र बाली-द्वीप में

वेदों एवं पुराणों में देवराज इंद्र को त्रैलोक्य का अधिपति कहा गया है। उसका नामार्थ ही है—ऐश्वर्यवान् (इन्दि धातु ऐश्वर्यार्थक, मत्वर्थीय र प्रत्यय) वर्षा एवं कृषि का देवता होने के कारण वह सर्वलोकव्यापी है। ऐसे महामनस्वी, प्रख्यात एवं दुर्धर्ष देवनायक इंद्र को जब मैंने बाली द्वीप के इतिहास, भूगोल, पुरातत्त्व,

देवशास्त्र एवं लोकमानस में भारत से भी कहीं अधिक प्रतिष्ठित पाया तो मन आत्मीयतापूर्ण उल्लास से भर उठा। गोया कि बालीवासी हिंदू स्वयं को किसी का अधमर्ण (कर्जदार) नहीं अनुभव करते। उनकी दृष्टि में उनका अपना महामेरु, तीर्थामृत, तीर्थगंगा, शाक्यान देवालय, दानव-द्वीप **नूसापनीडा** सृष्टि के प्रारंभ से ही यथावत् स्थित हैं, कहीं और से नहीं आये हैं। परंतु ऐसी मानसिकता प्राय: अशिक्षित अथवा अल्पशिक्षित ग्रामवासियों की है। विचारशील तथा सुशिक्षित लोग अथवा बाली द्वीप के कर्मकांड-प्रवण पैंडडा (पुरोहित) भी यह अच्छी तरह जानते हैं कि बाली द्वीप का हिंदुत्व भारत की देन है।

वानरराज बाली की क्रीडाभूमि

अपने बाली-प्रवास के प्रारंभिक चरण में ही अनेक स्रोतों से मुझे ज्ञात हुआ कि बाली के विद्वज्जन द्वीप के नामकरण का श्रेय रामकथा के एक श्रेष्ठ पात्र 'वानरराज-बाली' को देते हैं।

वाल्मीकि-रामायण में सीतान्वेषणार्थ विनत नामक वानर-सेनापति के सुवर्णद्वीप (जावा, सुमात्रा, बाली) आने की बात कही गयी है। रामायणककविन (जावी-रामायण) के अंग्रेजी अनूदक डॉ. सुवितो सन्तोसो ने भी ग्रंथ की भूमिका में द्वीपवासियों के इस विश्वास को पुष्ट किया है। अपने मत की पुष्टि-हेतु उन्होंने एक अत्यंत रोचक प्रमाण भी दिया है कि आज भी, विशेष रूप से बाली द्वीप में ही ये भयावह वानर हजारों की संख्या में विद्यमान हैं। अन्य पार्श्ववर्ती द्वीपों में इनकी संख्या नहीं के बराबर है। अत: द्वीप का नामकरण दुर्धर्ष योद्धा, रावणजयी बाली के नाम पर होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

वानरों के ये परिवार बाटुर पर्वत के वनों में, सांगेह नामक वन में तथा डेनपसार नगर के दक्षिण सागर तटवर्ती **तनाह लाट** नामक मंदिर से जुड़े वनों में रहते हैं। आकृति इनकी सचमुच-भयावह है। भारतीय वानरों जैसे ये शंकु-मुख नहीं हैं। इनकी दाढ़ें अत्यंत चौड़ी तथा मुंह के आसपास घनी मूंछें हैं। रंग भूरा या कपिश है परंतु इनके लंगूर भारतीय काले लंगूरों-जैसे लंबे हैं।

मय-इंद्र संग्राम का मिथक

बेदौलु से तम्पाक्सिरिंग की दूरी प्राय: १८ कि. मी. है । यह सम्पूर्ण क्षेत्र इंद्र तथा मय दानव के विविध संघर्ष स्थलों का जीवंत साक्षी है । पौराणिक युग में मय दानव बेदौलु का शासक था । वह परम मायावी, दुर्मद, नृशंस तथा देव-विरोधी था । उसने बेदौलु की प्रजा को **अतिंतिय** (अचिंत्य शिव) की पूजा-अर्चना न करने का आदेश दिया । धर्मप्राण जनता संत्रस्त हो उठी इस कठोर राजाज्ञा से । मय दानव के खूंखार सैनिक प्रजापर कड़ी दृष्टि रखने लगे । चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गयी ।

भटार महादेव **तोहियांकिर** गाँव के मंदिर में स्थापित थे । भक्तों ने रो-रो कर जब मय के अत्याचारों की कथा उन्हें सुनायी तो वह द्रवित हो उठे और पहुंच गये **महामेरु** (यवद्वीप के पर्वत) पर अवस्थित भटार पशुपति के पास । उन्होंने मय दानव के वध की याचना की । भटार पशुपति ने अपने अधीनस्थ युद्धदेवता, सेनानायक भटार इंद्र को मय दानव के विनाशार्थ आज्ञा दी । देवराज इंद्र चल पड़े देव-सेना के साथ मय से लोहा लेने ।

बेदौलु नगर के पूर्वोत्तर कोण में केन्द्रान नामक गांव के पास मय तथा इंद्र का प्रथम भीषण संग्राम हुआ । महाबली इंद्र की दुर्वार शरवर्षा से दानव छिन्न-भिन्न हो गये । पराजित मय, सेनापति कलवंग के साथ भाग निकला तथा अपनी आसुरी माया से, नये-नये रूपों में स्वयं को छिपाने का यत्न करने लगा । प्रथम रण-पलायन के बाद वह घने वन में एक **तिंबुल** वृक्ष बनकर खड़ा हो गया ।

देवराज इंद्र भी कम मायावी नहीं था !

तिंबुल वृक्ष बने मय दानव को भी इंद्र ने अपने 'इंद्रजाल' से पहचान लिया । बेचारा फिर प्राण लेकर भागा और **केंद्रान** गांव में पहुंचकर एक विद्याधर बन गया । इंद्र ने पुन: पहचान लिया तो पास के दूसरे गाँव में नारियल का नवजात किशलय बनकर बैठ गया और अंतत: क्रोधांध इंद्र के भय से, वहाँ से भी भागकर मय

मनुकाया गाँव में पहुंचा तथा **पेगुलिंगान** नामक सघन वन के बिरिञ्जिन (बरगद की जाति का एक प्ररोह-संकुल वृक्ष) पर विशाल पक्षी बनकर बैठ गया।

इंद्र यहाँ भी आ पहुंचा सैनिकों के साथ। परंतु तब तक सूर्य देवता अस्तोन्मुख हो उठे थे। प्यास से व्याकुल देवगण प्रकाश रहते किसी सरोवर का अन्वेषण करने लगे। मय दानव ने अच्छा अवसर देखा शत्रु-विनाश का। उसने अपनी माया से विषाक्त जल (आइर चेतिक) का एक स्रोत पार्श्ववर्ती गिरिशृंखला में प्रकट कर दिया। तृषार्त देवसेना ने आकंठ वही जल पिया और सब के सब कालकवलित हो गये।

तीर्त एम्पुल : देवों को पुनर्जीवन

प्रातः देवराज इन्द्र ने जब अपने सैनिकों को पेगुलिंगान वन में मृत पाया तो मय दानव की प्रवंचना का अनुभव कर वह उद्दीप्त हो उठा। पंरतु प्रथम कार्य था देवों का पुनर्जीवन। महातेजस्वी मघवा ने अपने वज्र से वन की पृथ्वी को विदीर्ण किया और अमृत का एक दिव्यस्रोत तत्काल वहीं प्रकट कर दिया। यही अमृतस्रोत **तीर्त-एम्पुल** कहा गया।

रक्तस्रोतस्विनी : पेतानू नदी

पृथ्वी के अंतराल से फूटी इसी अमृतधारा के छिड़कने मात्र से मृत देवगण तत्काल जीवित हो उठे। यह विलक्षण कौतुक देख, बिरिंगिन पर बैठा पक्षिवेषी मय भयभीत होकर पुनः भागा। परंतु अबकी बार महाबली इंद्र ने कोई अन्य रूप धारण करने से पूर्व ही बातुर-पर्वत के शिखर पर उसे धर दबोचा। मय दानव मारा गया। उसके विशाल रक्त-प्रवाह से एक नदी ही फूट निकली जिसे **पेतानू** कहते हैं। बाली के धर्मभीरु ग्रामीण कृषक आज भी पेतानू के पानी से अपने 'सावाह' (धान के खेत) नहीं सींचते। उनकी दृष्टि में पौराणिक पेतानू मयदानव के रक्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं। रक्त और वह भी एक नृशंस दानव का। भला उससे **अन्नमय कोश** का अलंकरण कौन करना चाहेगा ?

गुनुंग-अगुंग (महामेरु) इंद्रालय

बटुकरु, बाटुर तथा गुनुंग-अगुंग—ये तीन पर्वत मध्य बाली द्वीप में क्रमशः पश्चिम से पूर्व दिशा में हैं। गुनुंग-अगुंग को बाली का **महामेरु** भी कहा जाता है। यही महामेरु मयहंता देवसेनानायक इंद्र का भी निवास स्थान है। मय तथा इंद्र अब भारत की ही तरह बाली में भी **मिथकों** में कहीं खो गये हैं। परंतु बेदौलु एवं तीर्थ एम्पुल सरीखे भूखंड तथा पेतानू-पकेरिसान नदियाँ आज भी उनके संघर्ष को बाली के जनमानस में जीवित किये हैं। मनुकाया गाँव के मंदिर में सुरक्षित १० वीं शती के एक शिलालेख में चन्द्रभयसिंह वर्मदेव द्वारा वर्तमान **तीर्थ-एम्पुल** के निर्माण का उल्लेख है। तीर्थ-एम्पुल मंदिर का प्रांगण तीन खंडों में विभक्त है—उत्तर से दक्षिण की ओर। प्रथम खंड में **इंद्र-पलिंगह** (देवपीठ) है। इसमें मात्र पुरोहित ही प्रवेश कर सकता है।

तीर्त एम्पुल : अमृत-सरोवर

द्वितीय प्रांगण में पचीसों देवपीठों, आस्थानमंडपों तथा लघुचैत्यों के साथ ही साथ वह पौराणिक सरोवर है, जिसमें अनंत काल से पृथ्वी के गर्भ से जलप्रवाह ऊपर फूट रहा है। अमृतसरोवर का यही जलप्रवाह मन्दिर प्रांगण से बाहर निकलकर अमृततोया पकेरिसान नदी का रूप धारण कर लेता है जिसे बालीद्वीप की गंगा कहा जाता है। पकेरिसान तथा पेतानू नदियों की अन्तर्वेदी को ही 'अमरावती-क्षेत्र' माना जाता है।

मय दानव एक या अनेक ?

भारतीय पुराकथाओं में भी मय-दानव का उल्लेख है। वह रावण की राजमहिषी मन्दोदरी का पिता एवं एक महान् भवन-शिल्पी है। परंतु इंद्र के साथ उसके संघर्ष का कोई प्रमुख संदर्भ नहीं मिलता। इंद्र के प्रमुख बैरियों में पुलोमा, वृत्र, बल, नमुचि, पणि एवं शम्बर आते हैं। भारतीय पुराकथाओं का मय हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, हयग्रीव, रावण तथा कंस—जैसा नृशंस एवं व्यवस्था-विरोधी नहीं है। वह एक सहृदय कलाकार, उच्चकोटि का स्थपति एवं उदात्त प्रणयी है। वह

हिरण्यकशिपु, हिरण्याकक्ष की ही तरह दिति एवं प्रजापति कश्यप का पुत्र है । अपने घोर तप से उसे अप्रतिम स्थापत्य-कला, विलक्षण मायानैपुण्य एवं वैभव ब्रह्मा से प्राप्त हुआ । देवताओं की कृपा से ही सर्वांग सुंदरी हेमा नामक अप्सरा भी उसे पत्नी रूप में प्राप्त हुई । अपनी प्रियतमा के अनुराग में डूबा मय, विंध्य की उपत्यका में अपने ही बनाये हुए वज्रवैदूर्य-मंडित सौवर्ण प्रासाद में निर्विघ्न कामोपभोग का सुख प्राप्त करता रहा । हेमा से उसे मन्दोदरी नामक रूपवती कन्या तथा मायावी, दुन्दुभि नामक दो महाबली पुत्र प्राप्त हुए । वाल्मीकि रामायण में देवकार्य-वश हेमा के अमरावती लौट जाने, चौदह वर्षों तक न लौटने तथा मय दानव के प्रियावियोग-जनित हृदय-संताप का संकेत मिलता है ।

द्वापरयुगीन मय

मयपुत्र दुन्दुभि एवं वानरराज बाली का संघर्ष भी रामायण में वर्णित है । दुन्दुभि अंततः बाली द्वारा मारा गया । इस प्रकार मय त्रेतायुगीन सिद्ध होता है । परंतु अर्जुन एवं कृष्ण द्वारा खाण्डववन-दाह किये जाने के संदर्भ में मयकथा का सूत्र पुनः प्रकट होता है । अर्जुन द्वारा निर्मित बाणों की चहारदीवारी के कारण खांडव-वन का कोई भी प्राणी बाहर नहीं भाग सका । परंतु शरणागत मय को कृष्ण ने बचा लिया । इसी महान् उपकार के बदले कलाशिल्पी मय ने इंद्रप्रस्थ नगर में धर्मराज युधिष्ठिर के लिए एक अद्भुत सभाभवन निर्मित किया, जिसमें स्थल जल—जैसा और जल (सरोवर) स्थल—जैसा प्रतीत होता था । कुरुराज दुर्योधन इसी भ्रांति का शिकार होकर द्रौपदी के उपहास का पात्र बना था ।

ऐसा प्रतीत होता है कि मय तथा इंद्र के संघर्ष का मूल कारण हेमा अप्सरा ही थी, जिसे इंद्र ने पुनः अमरावती से मय के पास नहीं लौटने दिया । देवराज इंद्र जितना ही दुर्धर्ष पराक्रमी योद्धा था, उतना ही विलास-परायण भी । अतः सुंदरी देवांगना हेमा के लिए दो प्रेमियों का प्राणांतक युद्ध होना असंभव नहीं प्रतीत होता ।

वाल्मीकि रामायण के सीतान्वेषण-प्रसंग में वानरयूथ के ऋच्छबिल में पहुंचने तथा स्वयंप्रभा से मिलने का वृत्तांत वर्णित है । हेमा के निमित्त हुए युद्ध में मय देवराज इंद्र के वज्र-प्रहार से मारा गया ।

अब प्रश्न यह है कि यदि त्रेतायुगीन मय इंद्र के हाथों मारा जा चुका था तो द्वापरयुगीन अर्जुन एवं कृष्ण का शरणागत मय दानव कौन था ?

मिथक एवं इतिहास का समन्वय

भारतीय वाङ्मय का मय तो मिथकीय पात्र बनकर रह गया। परंतु बाली-द्वीप के मय ने प्रामाणिक ऐतिह्य-परंपरा को जन्म दिया । ताड़पत्र-लिखित बालीद्वीप के अनेक **लोंतारों** (पांडुलिपियों) में यह तथ्य सुरक्षित है । नीरार्थ (१६ वीं शती ई०) ने **उशना बाली** में इस संघर्ष की कथा लिखी तो एक अन्य विद्वान् ने 'जतूरयोग में ।

मयकथा का एक लोककथात्मक पक्ष भी है । उस कथा के अनुसार, मय-वध के बाद भी इंद्र ने उसकी आत्मा को नारियल के फूल में सुरक्षित रखा । बालीद्वीप शासक-विहीन था, अत: इसी **मय-आत्मा** को परिष्कृत करके इंद्र ने दो जुड़वे बच्चों की सृष्टि की—**मेसुला और मेसुली** अर्थात् लड़का और लड़की । युवा होकर दोनों पति-पत्नी बने तथा पेंजेंग (बेदौलु क्षेत्र) का शासन करने लगे। चारों ओर सुख-शान्ति स्थापित हो गयी ।

मेसुला-मेसुली के बाद भी कई पीढ़ियों तक जुड़वाँ शिशुओं के जन्म लेने तथा पति-पत्नी बनने का क्रम चलता रहा । परंतु सातवीं पीढ़ी के मेसुला ने अपनी काली एवं कुरूप भगिनी से विवाह करना अस्वीकार कर दिया । उसने एक अन्य सुंदरी से विवाह किया । पेंजेंग का यह राजवंश १४ वीं शती तक अक्षुण्ण रहा । मय की संतति होने के कारण ये नरेश दैवीशक्ति से संपन्न थे । सिर काटकर पुन: यथास्थान जोड़ लेना इनके लिए साधारण मनोरंजन था । बाली द्वीप के जनमानस में ऐसी अनेक दंतकथाएँ सुरक्षित हैं ।

पेजेंग-नरेश एक दिन शिकार खेलने गया। उसके आग्रह पर सामंत ने उसका सिर धड़ से अलग तो कर दिया, परंतु दुर्भाग्यवश वह लुढ़ककर पार्श्ववर्ती नदी की तेजधारा में खो गया। सामंत हतप्रभ हो उठा। राजा के पुनर्जीवित होने के क्षण बीते जा रहे थे अत: निरुपाय सामंत ने पास में ही खड़े एक सुअर का सिर काटकर राजा के धड़ में जोड़ दिया। पेजेंग-नरेश **नर-वराह** के रूप में जीवित हो उठा। तब से वह कभी भी प्रजाजनों के समक्ष नहीं आता था। सदैव मुखौटा (मनुष्य का) लगाकर ही बाहर आता था। दुर्भाग्यवश एक छोटे बच्चे ने कभी उसे असली रूप में देख लिया तथा भाग-भागकर सबको बताने लगा कि राजा तो **बेद** (परिवर्तित) **हुलु** (शीश) है। धीरे-धीरे सारी प्रजा को रहस्य का ज्ञान हो गया और तभी से पेजेंग-नरेश को बेदहुलु अथवा बेदौलु (मानवभिन्न सिर वाला) कहा जाने लगा। नगर का नाम भी बेदौलु हो गया।

स्थानीय इतिहासकारों की दृष्टि में बेदहुलु नामकरण का कारण किसी राजा का **शीर्ष-परिवर्तन** नहीं, अपितु बाली द्वीप पर **हुलु** अर्थात् शासन का परिवर्तन है। चूंकि पेजेंग-नरेश के मारे जाने से बाली का स्वामित्व बदल गया, वह जावा के अधीन हो गया—इसीलिए नगर को बेदौलु कहा गया। इस बिंदु पर पहुंचकर मिथक, जनश्रुति तथा इतिहास एक हो जाते हैं।

ऊनविंश अध्याय

पाप और पुण्य की परीक्षास्थली—गोवा लवाह

दैवी-विधि से पाप एवं पुण्य के निर्णय के आख्यान प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भरे पड़े हैं। कृतयुग में भक्त प्रह्लाद ने होलिका की गोदी में बैठकर अग्नि-परीक्षा दी थी। होलिका तो जलकर स्वाहा हो गयी, परंतु विष्णुभक्त बालक प्रह्लाद सर्वथा अक्षत बचे रहे। पतिव्रता-शिरोमणि देवी सीता की **अग्नि-परीक्षा** तो भारतीय नारी की शुचिता का प्रतिमान ही बन गयी। किङ्कर नामक राक्षस द्वारा अपने सौ पुत्रों का भक्षण कर लिये जाने पर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने भी अनेक बार आत्महत्या के प्रयास किये। स्वयं को लताओं से बाँधकर नदी की गहरी धारा में धकेल दिया। परंतु तपस्या एवं सत्य के प्रभाववश वरुणदेवता (जल) उनके प्राण नहीं ले सके। वसिष्ठ के सारे **पाश** (बंधन) स्वंय खुल गये। तबसे उस नदी का नाम ही पड़ गया—विपाशा अर्थात् पाशमुक्त कर देने वाली (पंजाब की वर्तमान व्यास नदी) संतप्त वशिष्ठ ने एक अन्य अगाध-सलिला नदी में डूबने की कोशिश की। परंतु वह भी उनके तप एवं सत्य के कारण, सैकड़ों धाराओं में छिन्न भिन्न होकर बहने लगी। इस घटना ने उस नदी का भी नामकरण किया—शतद्रु (शतैः प्रवाहैः द्रवति इति शतद्रुः, वर्तमान सतलज)।

इस प्रकार प्राचीन युगों में पर्वत, अग्नि, जल तथा दुर्विष आदि अतिमानवीय तत्त्व पाप-पुण्य के अपराध-अनपराध के निर्णायक रहे हैं। मनुस्मृति एवं अन्यान्य धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में भी दैवी-परीक्षा के इन स्रोतों की विस्तृत समीक्षा की गयी है। कौटिल्य अर्थशास्त्र भी किसी सीमा तक इस दंडविधान का समर्थन करता है।

रहस्यमयी मृत्यु-कंदरा : गोवा लवाह

बालीद्वीप की राजधानी डेनपसार से अमलापुर जाने वाले प्रशस्त राजमार्ग पर, क्लुंगकुंग नगर से मात्र १० कि. मी. आगे पूर्व दिशा में एक विशाल गुफा का मुखद्वार, यान में बैठे ही बैठे सरलता से दीख जाता है। प्राय: प्रत्येक यानचालक गुफा के समक्ष गाड़ी रोककर, पुरा गोवा लवाह् के देवता वासुकि नाग को प्रणाम कर अथवा उनके नाम नारियल फोड़कर ही आगे बढ़ता है।

यह गुफा, पूर्वाभिमुख आगे बढ़ने पर सड़क के वामपार्श्व में स्थित है। सड़क से तीन-चार गज उत्तर में ही, गुफा को मिलाकर बनाये गये मंदिर-परिसर का विशाल गोपुर (प्रवेशद्वार) दीखता है। बाली के सभी मंदिर तीन प्रांगणों से युक्त होते हैं—प्रवेशद्वार से जुड़ा प्रथम विशालतम आँगन मात्र पर्वों, समारोहों में जुड़े भक्तों के विश्रामार्थ, उससे आगे का दूसरा आँगन नैवेद्य तैयार करने के लिए होता है। इसमें अनेक देवपीठ (पलिंगह) तथा मंडप (बाले अगुंग) भी होते हैं—संघयांग मंदिरनृत्य, कुक्कुट-युद्ध, वायांगकुलित (कठपुतली नृत्य) आदि के लिए। तीसरा एवं अंतिम प्रांगण मात्र प्रमुख देवता का पलिंगह (देवपीठ) होता है। इस भाग में पमंकू (पुजारी) के अतिरिक्त और कोई प्रवेश नहीं कर सकता। इस भाग में केवल देवता प्रतिष्ठित होते हैं फलत: इसे **गर्भगृह** की संज्ञा दे सकते हैं।

गोवा लवाह् प्राकृतिक दृष्टि से तो एक विशाल पर्वत-कंदरा है, परंतु बालीद्वीप से उसे **पुरा गोवा लवाह्** अर्थात् **गोवा लवाह् मंदिर** की प्रतिष्ठा प्राप्त है। जनश्रुति के अनुसार नागराज वासुकि ही इस गुहामंदिर के प्रतिष्ठित अधिदेवता हैं। मंदिर के दूसरे प्रांगण में पूरब की ओर एक विशाल पलिंगह (वेदी) पर नागराज वासुकि की एक भयावह पाषाण प्रतिमा भी स्थापित है, जो उपर्युक्त जनश्रुति का समर्थन करती है।

परंतु गोवा लवाह् का यह परिचय उसके **सनसनीखेज** होने का आधार बिलकुल नहीं। वस्तुत: उस विलक्षण गुहामंदिर के रहस्य-रोमांच अथवा महान् आकर्षण का कारण कुछ और ही है।

विदेशी पर्यटकों की भीड़ तो उमड़ती है **लवाह्** देखने के लिए। लाखों की संख्या में काले चमगादड़ इस गुफा में बाहर से भीतर तक लटके दीखते हैं। गुफा का एक मिलीमीटर स्थान भी ऐसा नहीं, जिसमें ये अद्भुत प्राणी न हों। प्रतिक्षण कलरव करते, चिंचियाते, गुफा में एक छोर से दूसरी छोर तक उड़ते, लड़ते-भिड़ते, प्रणय्-विहार करते, घायल होकर नीचे गिरते ये 'बालखिल्य तापस' पर्यटकों का अद्भुत मनोरंजन करते हैं।

गोआ (संस्कृत शब्द गुहा) का अर्थ है—गुफा, कंदरा। लवाह् (बाली भाषा का शब्द) का अर्थ है—चमगादड़। अंग्रेजी में इसे **बैट्स केव** (Bats cave) कहते हैं।

गोवा लवाह् का रहस्य-रोमांच पक्ष उसकी मिथकीय पृष्ठभूमि पर आधारित है। प्राचीनकाल से ही यह पाप-पुण्य की दैवी परीक्षास्थली के रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है। वस्तुतः बाली में इसे **मृत्यु कंदरा** के रूप में ही जाना जाता है। जो इसमें प्रविष्ट हुआ, वह कभी लौटा नहीं। उसके न लौटने से ही उसका पाप भी प्रमाणित हो जाता था। लोगों का यह विश्वास था कि पापी अथवा अपराधी व्यक्ति गोवा लवाह् में प्रवेश करते ही गुहादेवता नागराज वासुकि का भक्षण बन जाता था।

मिथक एवं इतिहास का समन्वय

बालीद्वीप के भुवनकोशीय लोन्तारों (ताडपत्रांकित ग्रंथों) में पृथ्वी की संरचना के संदर्भ में नागराज वासुकि (प्रचलित संज्ञा वैसाकीह) का स्थान सर्वोपरि है। कच्छप की पीठ पर स्थित तथा दो वासुकियों की कुंडली में जकड़ी हुई पृथ्वी की धातुनिर्मित ताबीजें, तंत्रमुद्राएं, पाषाणधातु-मूर्तियाँ अथवा चित्र अभी भी बाली द्वीप में हजारों की संख्या में उपलब्ध हैं। इन नागों को वासुकि तथा अंतवोग (अनंत भोग) भी कहते हैं। वस्तुतः भारतीय पुराणों का भुवनकोश ही बाली में भी प्रतिष्ठित हैं, परंतु सामान्य बालीवासी बाली को ही संपूर्ण पृथ्वी की धुरी (तनाह पुसेह् अथवा न्यूक्लियस्) मानता है और इस धुरी को शीश पर धारण कर रखा है नागराज

वासुकि ने । बाली के प्रख्यात पर्वत महामेरु (गुनुंग-अंगुग) पर स्थापित, द्वीप का सर्वाधिक प्रसिद्ध मंदिर भी **पुरा-वैसाकीह्** कहा जाता है ।

इस प्रकार मिथकीय दृष्टि से वासुकि बालीद्वीप के आधारपीठ हैं । गोवा लवाह् से महामेरु गुनुंग-अगुंग प्राय: ४० कि. मी. उत्तर में अवस्थित है । फिर भी बाली की लोक-परंपरा के अनुसार, यह रहस्यमयी मृत्युकंदरा पृथ्वी के भीतर ही भीतर, सुरंगनुमा मार्ग द्वारा, महामेरु तक चली गयी है ।

महामेरु पर भी एक **वासुकि मंदिर** है, जिसके भीतर दिखायी पड़ने वाले एक संकरे रंध्र को गोवा लवाह् का उत्तरी प्रवेशमार्ग माना जाता है । इस भयावह मान्यता एवं विश्वास का परीक्षण करना तो सर्वथा असंभव है, तथापि चिरकाल से ही बालीद्वीप के जनमानस पर जमी आस्था एवं विश्वास की घनी, मोटी पर्तों को उखाड़ पाना भी कम दुष्कर नहीं । इन दंतकथाओं को सुनकर मुझे भारत के रहस्यमय दुर्गों का स्मरण हो आया । ग्वालियर, जयपुर, चुनार तथा कालंजर के रहस्य-रोमांच भरे दूरगामी गुप्तमार्ग कुछ कम तिलस्मी नहीं हैं । देवकीनंदनखत्री के उपन्यास चंद्रकांतासंतति में चरणाद्रि (चुनार) एवं रोहिताश्व (रोहतास) दुर्गों के रहस्यमय भूगर्भ-मार्गों का अद्भुत वर्णन हम पाते हैं ।

परंतु महामेरु एवं गोवालवाह् का यह रहस्यमय रंध्रमार्ग केवल मिथक मात्र हो, जनश्रुति मात्र हो—ऐसा नहीं है । इसका एक अद्भुत ऐतिहासिक दस्तावेज भी बाली में सुरक्षित है, जिसको झुठलाया नहीं जा सकता ।

मेंग्वी का उत्तराधिकार-विवाद

सन् १४७८ के निर्णायक युद्ध में जब पूर्वी जावा का महान् मजपहित-साम्राज्य इस्लामी आक्रमण से छिन्न-भिन्न हो उठा तो वहाँ के युवा राजकुमार ने भागकर बाली-द्वीप में शरण ली । अपने स्वामिभक्त सामंतों, पुरोहितों, सेनापतियों, कलाकारों, विद्वानों तथा राजपरिवार के साथ वह बाली के पूर्वी भाग में पहुंचा तथा ऐतिहासिक नगर गेल्गेल में देव अगुंग के नाम से स्वयं को बाली का सार्वभौम अधिपति घोषित कर दिया ।

बाली-द्वीप सन् १३४८ से ही मजपहित का अंग था जब कि प्रख्यात जावी महापतीह् गजहमद ने वहां के स्थानीय सम्राट् अष्टासुरा रत्नभूमि बंटेन का विनाश कर, उसे जावा-सम्राट् हयमबुरुक (राजसनगर) को अर्पित कर दिया था। इस प्रकार, अपने जावी-सम्राट् को अपनी ही भूमि में पाकर बाली की प्रजा ने देव अगुंग का अभिनन्दन ही किया।

समुद्र के उत्तरीतट पर स्थित राजधानी गेल्गेल कुछ वर्षों बाद ही क्लुंगकुंग नगर में स्थानांतरित हो गयी, समुद्री तूफानों से त्राण पाने के लिए। देव अगुंग ने बाली के अन्य क्षेत्रों में अपने आठ सामंत नियुक्त कर दिये। कालांतर में उचित अवसर पाकर ये सभी सामंत उन क्षेत्रों के स्वतंत्र शासक बन बैठे, परंतु गेल्गेल नरेश को ही सभी अपना अभिभावक मानते थे। प्रत्येक राजनयिक विवाद में क्लुंगकुंग-नरेश को ही अंतिम निर्णायक माना जाता था। इस प्रकार १७ वीं शती में बाली नौ राज्यों में विभक्त था—क्लुंगकुंग (गेल्गेल) करंगसम, बुलेलेंग, बांगली, गियान्यार, बाडुंग, तबानान, जेंब्राना तथा मेंग्वी।

पाप-पुण्य की परीक्षा

सत्रहवीं शती में मेंग्वी-नरेश की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए दो राजकुमारों—ई. गुस्तीगुराह् मदे अगुंग तथा ई. गुस्ती केतुत् अंगुग- के बीच संघर्ष छिड़ा। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि केतुत् स्वयं को मृत नरेश का वैध पुत्र नहीं सिद्ध कर सका। फलतः विवाद क्लुंगकुंग दरबार में प्रस्तुत किया गया।

गोवालवाह् क्लुंगकुंग राजवंश का विशिष्ट तीर्थ था। इसे राजवंश के पूजागृह की प्रतिष्ठा प्राप्त थी। यहाँ पाप-पुण्य की परीक्षा तो होती ही थी, अपराध सिद्ध हो जाने पर, गुफा में धकेलकर अपराधी को मृत्युदंड भी दिया जाता था।

राजकुमार केतुत् भी अपना पक्ष सिद्ध न कर पाने के कारण अपराधी था। स्वयं को मेंग्वी-नरेश की संतान सिद्ध करने का प्रयास कर उसने न केवल मेंग्वी-नरेश का चरित्र कलंकित किया था, बल्कि एक महान् राजद्रोह भी किया था। फलतः क्लुंगकुंग-नरेश ने उसे मृत्युकंदरा में प्रवेश करने का दंड दिया।

पंरतु राजकुमार केतुत् सत्यनिष्ठ था । वह सचमुच मेंग्वी नरेश का वैध पुत्र था । मदे अगुंग के भय से अथवा धन लोभ से प्रभावित दरबारी सत्य कहने से मुकर गये थे अन्यथा सच्चाई सब को ज्ञात थी । केतुत् अपनी परीक्षा में सफल हुआ । वह न केवल गोवा लवाह् में प्रवेश कर बाहर-निकला, बल्कि कंदरा के मुखभाग (गोवालवाह्) से पृष्ठभाग (पुरा वैसाकीह्) तक की रहस्य-रोमांचभरी साहसिक यात्रा भी उसने संपन्न कर डाली ।

मेंग्वी के शासकीय लेखों में यह तथ्य भी सुरक्षित है कि इस दैवी परीक्षा में केतुत् ने अपनी सत्यनिष्ठा तो अवश्य प्रमाणित की, परंतु वह जीवनभर के लिए **बधिर** (बहरा) हो गया था । इस दैवी-परीक्षा में खरा उतरने के बाद क्लुंगकुंग-नरेश ने केतुत् को ही मेंग्वी का शासक घोषित किया । बाली की धर्मप्रवण जनता की आँखों में केतुत् (अब) एक देवपुरुष के रूप में प्रतिष्ठित था । महामेरु पर प्रकट होने के कारण उसका संपूर्ण नाम पड़ा—**ई गुस्ती केतुत् अगुंग वैसाकीह्** । यही नाम उसकी मुद्राओं, शिलालेखों तथा हस्ताक्षरों में भी उपलब्ध होता है ।

बाली में मेंग्वी-नरेश केतुत् को वासुकि का महान् कृपापात्र अथवा अवतार माना जाने लगा, गोवालवाह् से अक्षत-सकुशल बच निकलने के कारण ।

समुद्र-मंथन से थका वासुकि

५ अगस्त, ८८ की शाम को भारतीय दूतावास (जकार्ता) के कलासंस्कृति अनुभाग के नवनियुक्त निदेशक श्री बालकृष्णन् ने फोन पर मुझे सूचित किया त्रिवेंद्रम (केरल) के इवानियोस् महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. थॉमस कोट्टरथिल एक दिन के लिए बाली पहुंच रहे हैं । मैं उन्हें द्वीप के कुछ महत्त्वपूर्ण स्थान दिखा दूं । बालकृष्णन् जी उसी कालेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर हैं । मेरी ही तरह कुछ वर्षों के लिए इस पद पर नियुक्त होकर इंडोनेशिया आये हैं ।

अगले दिन ही पहली फ्लाइट से डॉ. थामस आ गये । अपने मित्र दामोदर की कार से मैंने उन्हें तमन् आयून्, तनाह लॉट, गोवा गजा तथा गोवा लवाह्-चार स्थान दिखाये । गोवालवाह् की मिथकीय पृष्ठभूमि से डॉ. थॉमस बेहद प्रभावित

हुए। इंडोनेशिया, प्रोपिंसी (प्राविंस अथवा प्रांत) रिजेंसी अथवा कबूपातन् (कमिश्नरी) कचामतान् (जिला) तथा देसा (देश अर्थात् गाँव) में विभक्त है।

पुरा गोवालवाह् क्लुंगकुंग रिजेंसी के **दवन** नामक जिले में स्थित है। अद्भुत प्राकृतिक सौन्दर्य है यहाँ। राजमार्ग के उत्तर में विशाल सर्पमुखाकार गुफा और दक्षिण में सड़क से मात्र कुछ ही गजों की दूरी पर हिमशुभ्र फेन उगलता, निरंतर अशांत प्रशांत महासागर। सागरतट पर पहुंचते ही २५ हजार की जनसंख्या वाला नन्हा-सा **नूसा-पनीडा** द्वीप दीखने लगता है, जो कि बालीवसुंधरा से प्राय: पाँच-छः कि. मी. दूर है।

गोवालवाह् से कुछ ही कि. मी. आगे पूर्व में कुसांबे नामक मनोरम **बीच** (विहारभूमि) है, जहाँ पर्यटकों का हुजूम देखते ही बनता है। सारा सागर-तट नारियल के सघन वनों तथा पारंपरिक ढंग से नमक बनाने वाले किसानों की झुग्गियों से भरा पड़ा है। सन् १९६३ में फूटे महामेरु के ज्वालामुख की संहारलीला के जीवंत साक्षी, काली राख के पहाड़ भी पूरे गोवालवाह् क्षेत्र को अद्भुत आकर्षण देते हैं।

सड़क से ऊँचा मंदिर का प्रवेशद्वार। उससे भी ऊँचे प्रथम एवं द्वितीय मंदिर-प्रांगण और अंतत: उनसे भी ऊँचा मृत्युकंदरा का व्यायत मुखमंडल ! सहृदय आँखों से देखने पर ऐसा लगता है मानो किसी क्रोधांध नाग के दोनों जबड़े खुले हों। जिस पर्वत के छोर पर यह मिथकीय गुफा है, वह अनेक गिरिशृंखलाओं से जुड़ती हुई महामेरु गुनुंग अगुंग तक चली गयी है।

यह सारा दृश्य देख पौराणिक **सागरमंथन** का दृश्य मेरी आँखों में तैर गया। प्रशांत महासागर में उभरा नूसा-पनीडा मुझे मंदराचल (मथानी) सा तथा गोवालवाह् से महामेरु तक लेटा पड़ा नागराज वासुकि मंथन-रज्जु-सा प्रतीत होने लगा। मानो मंथनजन्य संघर्षण-वेदना एवं थकान के कारण, मुंह खोलकर हाँफता हुआ वासुकि चैन की साँस ले रहा हो। अपनी सरस कल्पना का सुख मैं ही अनुभव कर रहा था।

विंश अध्याय

बालीद्वीपीय हिन्दुओं का महाकुम्भ

पूजा पञ्चबलिकर्म

गंगा-यमुना एवं अंत:सलिला सरस्वती की पवित्र संगमभूमि में तीर्थराज प्रयाग का महनीय महाकुंभ पर्व देख-सुनकर तथा संक्रान्ति, अमावस्या के दिनों आकाशवाणी की ओर से उसका आंखों देखा हाल प्रसारित कर २४ फरवरी ८९ई० को बालीद्वीप लौटा ही था कि यहाँ के चिरप्रतीक्षित **महाकुंभ-पर्व** प्रत्यासन्न होने का सुखद समाचार प्राप्त हुआ। दो-तीन दिन बाद बाली की हिंदू धर्म परिषद् का आग्रहपूर्ण आमंत्रणपत्र भी प्राप्त हुआ। डॉ. ईदा बागुस मंत्र (बाली के गवर्नर तथा भारत में सद्य: नियुक्त इंडोनेशिया के राजदूत) ने भी इस ऐतिहासिक महोत्सव को किसी भी मूल्य पर न छोड़ने की सलाह दी, क्योंकि यह दस वर्ष बाद ही लौटता है, ठीक उसी प्रकार जैसे भारत के हिंदुओं का बारहवें वर्ष लौटने वाला महाकुंभ पर्व। यह महान् पूजा आयोजित थी बाली द्वीप के महामेरु गुनुंग अगुंग-स्थित वैसाकीह् मन्दिर के प्रांगण में।

परंतु मैं भयभीत था, इस अवसर पर दी जाने वाली पशुओं की नृशंस बलि से।

पूजामंडप को ब्रह्मांड-रूप में कल्पित कर, चारों कोणों तथा केंद्र में अनेक निरीह महिषों, हिरनों, मुर्गों तथा बत्तखों की बलि का आयोजन था। सुअरों की तो मानो प्राण पर ही बन आयी थी पूजामंडप में स्थापित दो विशाल नैवेद्य-मेरुओं में से एक तो, ऊपर से नीचे तक केवल सूकर-मांस से निर्मित किया गया था। इस नैवेद्य-शिखर में मैंने ग्यारह सूकर-मूखों को स्थापित देखा, जो बालीद्वीप की

भुवनकोशीय व्यवस्था के अनुसार ही कोण भागों तथा अंतरिक्ष, पृथ्वी, पाताल-बिन्दुओं पर प्रयुक्त गये थे ।

धर्मशास्त्रीय पृष्ठभूमि

बाली का हिन्दूसमाज सिद्धांततः अचिन्त्य (अतिंतिय अथवा निराकार शिव) का और व्यवहारतः त्रिदेवों का उपासक है । ये त्रिदेव सृष्टिकर्ता अतिंतिय के ही विकसित रूप हैं—ब्रह्मशिव (ब्रह्मा) सदाशिव (विष्णु) तथा परमशिव (रुद्र) बाली के प्रत्येक गाँव में अनिवार्य त्रिदेव मंदिर हैं, जिन्हें क्रमशः पुरा दलिम् (शिवमंदिर), पुरा पुसेह् (विष्णु मंदिर) तथा पुरा देसा (ब्रह्मा मंदिर) कहते हैं । प्रत्येक अमीर या गरीब के घर में भी अनिवार्यतः एक पूजामंडप (पिमिराजन्) होता है, जिसमें एक स्तंभ पर निर्मित लघु कक्षों में इन त्रिदेवों की स्थापना होती है ।

नित्य त्रिसंध्या (त्रैकालिक पूजा)

पूजा बालीवासियों के जीवन का अभिन्न अंग है । घर का प्रत्येक सदस्य स्नान करते ही अपनी दिव्य पूजा पिमिराजन् में संपन्न करता है । इसी प्रकार धार्मिक महोत्सवों तथा अनुष्ठानों की पूजाएं, सामूहिक-स्तर पर गाँव के त्रिदेव-मंदिरों में सम्पन्न होती हैं जिन्हें 'ओडालान्' कहते हैं । इन समर्चनाओं की सारी व्यवस्था कपाल-बंजार (ग्राम सभापति) करता है ।

परंतु इन, घर-गाँव की पूजाओं के बाद भी धर्मशास्त्र-सम्मत तीन विशिष्ट पूजाएँ बालीद्वीप में प्रचलित हैं, जिनका उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व तथा माहात्म्य है—वार्षिकी पूजा (तावुर केसंग), दशवार्षिकी पूजा (तावुर पंचबलिक्रम) तथा शतवार्षिकी पूजा (तावुर एकादश रुद्र)

अतिंतिय परमेश्वर शिव ने हमें नाना प्रकार के जीवन-सुख, अन्न, पेय और भक्ष्य तथा नैसर्गिक सुखोपाय दिये हैं । अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह प्रभु-प्रदत्त वस्तुओं को उसे लौटा कर, कृतज्ञता व्यक्त करे । महिष, सूकर, कच्छप, मुर्गा तथा बत्तख आदि भक्ष्यभूत जीव-जंतुओं की बलि इसीलिए दी जाती है, ताकि जीवन-मरण की परिधि अविच्छिन्न रहे । ये पशुबलियाँ किसी सस्ते मनोरंजन के लिए

विंश अध्याय

बालीद्वीपीय हिन्दुओं का महाकुम्भ

पूजा पञ्चबलिकर्म

गंगा-यमुना एवं अंत:सलिला सरस्वती की पवित्र संगमभूमि में तीर्थराज प्रयाग का महनीय महाकुंभ पर्व देख-सुनकर तथा संक्रान्ति, अमावस्या के दिनों आकाशवाणी की ओर से उसका आंखों देखा हाल प्रसारित कर २४ फरवरी ८९ई० को बालीद्वीप लौटा ही था कि यहाँ के चिरप्रतीक्षित **महाकुंभ-पर्व** प्रत्यासन्न होने का सुखद समाचार प्राप्त हुआ । दो-तीन दिन बाद बाली की हिंदू धर्म परिषद् का आग्रहपूर्ण आमंत्रणपत्र भी प्राप्त हुआ । डॉ. ईदा बागुस मंत्र (बाली के गवर्नर तथा भारत में सद्य: नियुक्त इंडोनेशिया के राजदूत) ने भी इस ऐतिहासिक महोत्सव को किसी भी मूल्य पर न छोड़ने की सलाह दी, क्योंकि यह दस वर्ष बाद ही लौटता है, ठीक उसी प्रकार जैसे भारत के हिंदुओं का बारहवें वर्ष लौटने वाला महाकुंभ पर्व । यह महान् पूजा आयोजित थी बाली द्वीप के महामेरु गुनुंग अगुंग-स्थित वैसाकीह् मन्दिर के प्रांगण में ।

परंतु मैं भयभीत था, इस अवसर पर दी जाने वाली पशुओं की नृशंस बलि से ।

पूजामंडप को ब्रह्मांड-रूप में कल्पित कर, चारों कोणों तथा केंद्र में अनेक निरीह महिषों, हिरनों, मुर्गों तथा बत्तखों की बलि का आयोजन था । सुअरों की तो मानो प्राण पर ही बन आयी थी पूजामंडप में स्थापित दो विशाल नैवेद्य-मेरुओं में से एक तो, ऊपर से नीचे तक केवल सूकर-मांस से निर्मित किया गया था । इस नैवेद्य-शिखर में मैंने ग्यारह सूकर-मूखों को स्थापित देखा, जो बालीद्वीप की

भुवनकोशीय व्यवस्था के अनुसार ही कोण भागों तथा अंतरिक्ष, पृथ्वी, पाताल-बिन्दुओं पर प्रयुक्त गये थे ।

धर्मशास्त्रीय पृष्ठभूमि

बाली का हिन्दूसमाज सिद्धांतत: अचिन्त्य (अतिंतिय अथवा निराकार शिव) का और व्यवहारत: त्रिदेवों का उपासक है । ये त्रिदेव सृष्टिकर्ता अतिंतिय के ही विकसित रूप हैं—ब्रह्मशिव (ब्रह्मा) सदाशिव (विष्णु) तथा परमशिव (रुद्र) बाली के प्रत्येक गाँव में अनिवार्य त्रिदेव मंदिर हैं, जिन्हें क्रमश: पुरा दलिम् (शिवमंदिर), पुरा पुसेह् (विष्णु मंदिर) तथा पुरा देसा (ब्रह्मा मंदिर) कहते हैं । प्रत्येक अमीर या गरीब के घर में भी अनिवार्यत: एक पूजामंडप (पिमिराजन्) होता है, जिसमें एक स्तंभ पर निर्मित लघु कक्षों में इन त्रिदेवों की स्थापना होती है ।

नित्य त्रिसंध्या (त्रैकालिक पूजा)

पूजा बालीवासियों के जीवन का अभिन्न अंग है । घर का प्रत्येक सदस्य स्नान करते ही अपनी दिव्य पूजा पिमिराजन् में संपन्न करता है । इसी प्रकार धार्मिक महोत्सवों तथा अनुष्ठानों की पूजाएं, सामूहिक-स्तर पर गाँव के त्रिदेव-मंदिरों में सम्पन्न होती हैं जिन्हें 'ओडालान्' कहते हैं । इन समर्चनाओं की सारी व्यवस्था कपाल-बंजार (ग्राम सभापति) करता है ।

परंतु इन, घर-गाँव की पूजाओं के बाद भी धर्मशास्त्र-सम्मत तीन विशिष्ट पूजाएँ बालीद्वीप में प्रचलित हैं, जिनका उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व तथा माहात्म्य है—वार्षिकी पूजा (तावुर केसंग), दशवार्षिकी पूजा (तावुर पंचबलिक्रम) तथा शतवार्षिकी पूजा (तावुर एकादश रुद्र)

अतिंतिय परमेश्वर शिव ने हमें नाना प्रकार के जीवन-सुख, अन्न, पेय और भक्ष्य तथा नैसर्गिक सुखोपाय दिये हैं । अत: मनुष्य का कर्तव्य है कि वह प्रभु-प्रदत्त वस्तुओं को उसे लौटा कर, कृतज्ञता व्यक्त करे । महिष, सूकर, कच्छप, मुर्गा तथा बत्तख आदि भक्ष्यभूत जीव-जंतुओं की बलि इसीलिए दी जाती है, ताकि जीवन-मरण की परिधि अविच्छिन्न रहे । ये पशुबलियाँ किसी सस्ते मनोरंजन के लिए

नहीं, अपितु गूढ़ धर्मशास्त्रीय व्यवस्था के अनुपालनार्थ ही दी जाती हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य है—त्वदीयं वस्तु गोविंद ! (हे शम्भो !) तुभ्यमेव समर्पये।

वार्षिक, दशवार्षिक एवं शतवार्षिक महापूजाओं का लक्ष्य परमेश्वर के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन मात्र ही नहीं है। विश्वशांति, ऋतस्थापन तथा ब्रह्मांड (भुवन-अगुंग, मैक्रोकॉस्म) एवं पृथ्वी (भुवन-अलित, माइक्रोकॉस्म) के बीच संतुलन बनाये रखना भी इनका उद्देश्य है।

'दरिद्र खदेड़' का उपक्रम

तावुर केसंग प्रतिवर्ष न्येपी (नववर्षमहोत्सव) की पूर्वसंध्या अर्थात् चैत्र-कृष्ण अमावस्या (तिलिम्) को आता है। घर-घर पकवान बनते हैं, शाम को समस्त देवताओं तथा भूतों-कालों को भी मचरु (नैवेद्य) अर्पित किये जाते हैं। संध्या आते ही मशालें जलाकर, शोर-शराबा करते, बर्तन-कनस्तर-लोटा-थाली पीटते लोग अपने घरों से दरिद्र खदेड़ते हैं। दरिद्रों की नानाविध प्रतिमाओं (ओगोह-ओगोह) की पारंपरिक शोभायात्राएँ भी डेनपसार-नगर के 'पुपुतानबादुंग' (हुतात्मा) चौक में आयोजित की जाती है।

बाली की शतवार्षिकी एकादशरुद्र समर्चना २८ मार्च १९७९ को महा-मेरु-स्थित वैसाकीह-मंदिर में संपन्न हुई थी। दसवार्षिकी पंचबलिक्रम-पूजा इस वर्ष ८ मार्च ८९ई० को संपन्न हुई है। इस पूजा की समाप्ति अभी दो अप्रैल को हुई है। प्रायः एक महीने तक वैसाकीह मंदिर में नित्य लाखों दर्शनार्थियों का तांता लगा रहा। इस अवधि में मैं दो बार (२२ तथा २७ मार्च, ८९) महामेरु यात्रा पर गया।

कर्मकांड स्थल एवं पूजाविधान

डेनपसार नगर (बाली-प्रांत की राजधानी) से प्रायः ७० कि. मी. ईशान कोण में गुनुंग-अगुंग नामक १०५६० फुट ऊँचा पर्वत ही बाली द्वीप का महामेरु अथवा सुमेरु माना जाता है। पर्वत के पश्चिमी पार्श्व में, सात मील की परिधि में प्रायः २५ मंदिर हैं, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है भगवान् अतिंतिय शिव का प्राचीन मंदिर।

इसे पुरा वैसाकीह (वासुकि के फणाग्र पर स्थित होने के कारण) पुरा पनतरन् अगुंग अथवा पर्यटकों की भाषा में 'मदर टेंपल' भी कहा जाता है। बाली में यही एकमात्र शिवमंदिर (पुरा दलिम्) है, जिसके प्रांगण में रुद्र, विष्णु तथा ब्रह्मा एक साथ प्रतिष्ठित हैं। यही मंदिर बाली की समस्त धार्मिक आस्थाओं एवं अनुष्ठानों का केंद्रबिन्दु हैं। यहीं महर्षि मार्कण्डेय एवं अगस्त्य ने तप किया था।

पूजा पञ्चबलिक्रम के लिए इसी मंदिर के सम्मुख स्थित प्रशस्त भूमि (बञ्चिगाह) में एक विशाल शास्त्रसम्मत, चौकोर पूजा-प्रांगण बनाया गया था। इस प्रागंण में, चारों दिक्कोणों तथा केंद्र में पाँच वेदियाँ बनायी गयी थीं, नैवेद्य रखने के लिए। वेदी के आगे एक विशाल प्रतीकात्मक पूजास्तंभ (संगार-तवंग) तथा वेदी के पीछे कर्मकांडी धर्माचार्यों (पेडंडा) के बैठने के लिए संगर-तवंग से भी ऊँचा मंच बनाया गया था। यह सारी अस्थायी संरचना बाँसों बल्लियों से की गयी थी। संपूर्ण प्रांगण कदलीस्तंभों के छिलकों पर रंग-बिरंगे फूलों तथा पत्तियों को टाँककर बनाये गये, अद्भुत अलंकरणों से सजाया गया था। मंडप तथा मंदिर का पश्चिमाभिमुख राजमार्ग एक कि.मी. दूर स्थित प्रवेश द्वार तक पारंपरिक पिजरों (बंदनवार-युक्त वंशस्तंभ) से अलंकृत था।

पूजाप्रांगण का प्रवेशद्वार उत्तर दिशा में था प्रांगण के पश्चिमी किनारे दो विशाल मंडपों में प्राय: १५ फुट ऊंचे दो शिखराकार नैवेद्यफलक स्थापित थे, जिनमें दक्षिणी (प्रगंबल) चावल के आटे को विविध रंगों में रंग कर तथा चिपचिपे सूकर-मांस में मिलाकर बनाया गया था। इसमें स्वर्ग, पृथ्वी तथा पाताल—ये तीन भाग थे और प्रत्येक भाग में उरेही गयी मिथकीय आकृतियाँ थीं, जो सचमुच वर्णनातीत हैं। बाली की सूक्ष्म कलाकारी का यह एक अनूठा निदर्शन था। उत्तर की ओर स्थापित नैवेद्य-फलक (तुंगुह) पूरा का पूरा सूअर के मांस से निर्मित था। इसकी अद्भुत वास्तुरचना भी सूअर की आंतों से की गयी थी। दो तल के इस नैवेद्य में चारों कोणों तथा ऊपर, नीचे बीच के भागों में ११ सूअर के साबूत शीर्षभाग पिरो दिये गये थे।

बालीद्वीप के ख्यातिप्राप्त १२ कर्मकांडी पुरोहित इस महान् धर्मानुष्ठान को संपन्न कराने आये थे । हिंदूधर्म के विभिन्न संप्रदायों का यह अद्भुत समन्वय था । प्रत्येक मंच पर दो धर्माचार्य विद्यमान थे—एक शैव (पैंडंडा शिवा) तथा दूसरा बौद्ध (पेडंडा-बुडा) परन्तु केंद्रीय मंच पर दो शैव, एक बौद्ध तथा एक वैष्णव पुरोहित (भुजंग) कार्यरत थे ।

पूजा पंचबलिक्रम

भारत में नववर्षारंभ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा (७ अप्रैल, ८९) को हुआ है । परंतु बाली के पंचांग के अनुसार यह तिथि विगत ९ मार्च को ही थी । उसी दिन समूचे द्वीप में न्येपी-महोत्सव मनाया गया । एक महीने का यह अंतर भारत में हुए पिछले वर्षों के अधिकमास (पुरुषोत्तममास) के कारण है, जिसकी बाली में कोई परंपरा नहीं है ।

नववर्ष से एक दिन पूर्व अर्थात् व्यतीतप्राय वर्ष का अंतिम दिन ही पूजा पंचबलिक्रम का अवसर था । परंतु व्यवहारत: अनुष्ठान मंगलवार ७ मार्च को ही प्रारंभ हो गया, जबकि बलि के लिए चुने गये समस्त पशु एवं पक्षी कर्मकाण्डस्थल पर लाये गये । प्रात:, मध्याह्न तथा संध्या—तीन बार उनके द्वारा मंदिर परिधि की प्रदक्षिणा करायी गयी तथा विविध मंत्रानुयोगों के साथ **संघयांग** विधिवश (परमेश्वर सर्वशक्तिमान) से उनकी बलि के लिए अनुमति ली गयी । पशुओं की मुक्ति के लिए भी पारंपरिक मंत्रपाठ संपन्न किये गये ।

इन अनुष्ठान को **मपपदा** कहा जाता है, जिसका उद्देश्य है—बलि-पशुओं की मंत्रशुद्धि तथा बलिनिमित्त परमेश्वरानुमोदन ।

बुधवार ८ मार्च को मध्याह्न वेला में पूजापंचबलिक्रम का कर्मानुष्ठान प्रारंभ हुआ । मंचों पर स्थित धर्माचार्यों ने सर्वप्रथम **मवेद** (वेदपाठ) प्रस्तुत किया, तदनन्तर भूमि-शुद्धि, वातावरण-शुद्धि एवं बाली, इंडोनेशिया एवं संपूर्ण विश्व की शांति के लिए अनेक जटिल उपचार संपन्न किये गये । धर्माचार्यों, पमंकुओं तथा प्राय: अन्य ५० सहायकों के त्वरित सहयोग से विश्वशांति का यह महानुष्ठान संध्या काल

तक चलता रहा। पूजा के अंतिम चरण में महिषों, मृगों एवं बत्तखों की बलि दी गयी तथा उन्हें पूजामंडप में ही एक गहरे गड्ढे में गाड़ दिया गया।

न्येपी (९ मार्च' ८९) के दिन तो संपूर्ण बालीद्वीप घरों में बंद रहता है। सब चतुर्व्रत का पालन करते हैं—मन, वाणी तथा कर्म (हाथ, पाँव) की निष्क्रियता। चूंकि परमेश्वर ने सृष्टि का निर्माण शून्य अथवा अकिंचन (नथिंगनेस) से किया। अत: बालीद्वीप का हिंदूसमाज वर्ष के प्रथमदिन पूर्ण निष्क्रिय रहकर परमेश्वर के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता है।

२० मार्च' ८९ को 'डेंम्बक्-गेनी' अर्थात् अग्नि-अभिनंदन पर्व था। सारा जनजीवन पुन: पूर्ववत् सक्रिय हो उठा था। फलत: वैसाकीह मंदिर के कपाट दर्शनार्थियों के लिए खोल दिए गये। सामूहिक पूजा का ऐसा भव्य दृश्य मैंने केवल मुस्लिम संप्रदाय में देखा था। परंतु वासुकि-मंदिर की वह भीड़ देखकर मेरा मोहभंग हो गया। पूजा पंचबलिक्रम के अंतिम दिन (२ अप्रैल) तक लाखों श्रद्धालु हिन्दुओं का दल महामेरु पर आता रहा। कालीमन्तान, लोंबोक, सुंबा-सुंबावा, सुलावेसी तथा जावा द्वीपों के भी असंख्य हिन्दू भक्त इस महानुष्ठान में भाग लेने महामेरु पर आये थे।

डेनपसार के लोकप्रिय दैनिक समाचार-पत्र बालीपोस्ट में मैंने पूजा पंचबलिक्रम के **दान-पुण्य** का विवरण पढ़ा। संपूर्ण इंडोनेशियाई द्वीपों तथा बाली के हिंदुओं के सहयोग से चार अरब अट्ठासी करोड़ सत्तावन लाख सत्तर हजार चार सौ छियालीस रुपियाह (प्राय: ५ करोड़ भारतीय रुपया) की धनराशि एकत्र हुई थी इस महान् अनुष्ठान के लिए।

बाली का हिंदूसमाज, भारत के मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन से सर्वथा अप्रभावित रहा। दोनों भूखंडों में इस्लाम का आधिपत्य तथा संपर्कों का व्यवच्छेद इसका मूल कारण था। फलत: बाली में आज भी भारत का प्राचीन यागानुष्ठान, मीमांसायुगीन जटिल कर्मकांड तथा पशुबलि आदि का ही वर्चस्व स्थापित है। राम और कृष्ण यहाँ मात्र मंच तक सीमित रहे, देवालयों में स्थापित नहीं हो सके।

पंच बलिकर्म (देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ ब्रह्मयज्ञ, मनुष्ययज्ञ) भारतीय-समाज में भी अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं। परंतु जब वैदिक सात्त्विक यज्ञ धीरे-धीरे तामसी प्रवृत्ति के होने लगे और निरीह पशुओं की बलि पराकाष्ठा पर जा पहुंची, तब भगवान् तथागत एवं महावीर ने यज्ञवाद का घोर विरोध किया।

परंतु यज्ञीय पशुहत्या का विरोध, उससे भी पूर्व भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास कर चुके थे, यह कहकर कि—जैसे कीचड़ से धोने पर पैर लगा कीचड़ नहीं साफ होता, उसी प्रकार पशुहिंसा के पाप से बोझिल यज्ञों से पुण्य (स्वर्ग अथवा मुक्ति) की प्राप्ति नहीं हो सकती—

यथा पंकेन पंकाम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥

—श्रीमद्भागवतम् १.८:

परंतु बालीद्वीप का हिंदूसमाज भगवान् व्यास की उस देशना से परिचित नहीं। सर्वाधिक अरक्षित यहाँ बेचारे पशु-पक्षी हैं, यहाँ के कर्मकांडी श्रोत्रिय भी जिस सहज भाव से पशुओं की बलि का ठोस समर्थन करते हैं, उसे देखकर मुझे महाकवि कालिदास के धीवर की वह बात याद आ जाती है—

पशुमारणकर्मदारुणः अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः।

—शाकुन्तलम्

एकविंश अध्याय

बालीद्वीप का धर्माचार्य : महापण्डित नीरार्थ

जावा से एकदम सटा होने के कारण बाली द्वीप की संप्रभुता समय-समय पर विस्तारवादी यवसाम्राज्य की क्रूर अधिकार-लिप्सा से आतंकित एवं खंडित होती रही है। भारत के साथ बाली का संबंध, जावा के माध्यम से कभी नहीं रहा। ईसा की प्रथम शती से ही भारतीय सार्थवाह, धर्माचार्य तथा यायावर यात्री अन्यान्य द्वीपों की ही तरह बाली में आते रहे और उन्हीं के माध्यम से शैव, वैष्णव तथा बौद्ध धर्मों के संस्कार इस द्वीप की उर्वर माटी में अंकुरित होने लगे।

भारत से सीधा जुड़ा होने के कारण बाली भारतीय शासन एवं धर्म-व्यवस्था की प्रयोगस्थली बन गया। यहाँ के प्रसिद्ध नरपतियों में उग्रसेन (९१५-३२ ई०) तपनेन्द्रवर्मदेव (९५५ ई०) चन्द्रभयसिंहवर्मदेव (९६२ ई०) जनसाधुवर्मदेव (९७५ ई०) श्री विजयमहादेवी (९८३ ई०) केसरीवर्मदेव (१० वीं शती) धर्मोदयनवर्मदेव (९८९-१०२२ ई.) आदि रहे। इन चार शतियों में द्वीप की राजसत्ता तथा संप्रभुता सर्वथा अखंडित रही।

यद्यपि चरितपहयंगन् नामक ग्रंथ में जावा सम्राट् संजय (चंगल शिलालेख ७७२ ई.) द्वारा भी बाली को अधिकृत करने का उल्लेख है, परंतु वह आधिपत्य स्थायी नहीं था। अगली शतियों में बाली तीन बार विशाल जावा साम्राज्य का स्थायी अंग बना। सर्वप्रथम सम्राट् एरलंग (१०१०-४९ ई०) के समय में, बाली यवराजसत्ता में विलीन हुआ। एरलंग बाली नरेश उदयन का पुत्र तथा जावानरेश धर्मवंश का जामाता था। अतएव वह दोनों ही साम्राज्यों का समवेत अधिपति हुआ। बाली की यह स्थिति पराधीनता की स्थिति नहीं थी।

परंतु विस्तारवादी सिंहसारिवंशीय सम्राट् कृतनगर ने अपनी राज्यलिप्सा के कारण १२८४ ई० में बाली पर विजय प्राप्त की । बालीनरेश बंदी बनाकर जावा ले आया गया । वह आधिपत्य भी कुछ ही वर्षों तक रहा तथा कृतनगर की मृत्यु के साथ ही बाली पुन: स्वतंत्र हो गया ।

१३४३ ई० में मजपहितवंशीय सम्राट् राजसनगर के प्रख्यात महामात्य गजहमद ने अंतिम रूप से बाली पर विजय प्राप्त की तथा उसकी संप्रभुता के साथ ही साथ बाली के स्थानीय राजवंश का भी अंत कर दिया । स्वाभिमानी बाली नरेश रत्नभूमि ने प्राण रहते जावा की अधीनता स्वीकार नहीं की ।

इसके अनंतर प्राय: डेढ़ सौ वर्षों तक बाली पर मजपहित साम्राज्य के प्रतिनिधि (वायसराय) शासन करते रहे, जो ब्राह्मणकुलोत्पन्न थे । परंतु १४७८ ई० में जावा के इस्लामी पराभव के अनंतर, पलायित मजपहित शासक ने जब बाली में शरण ली, तब पुन: द्वीप क्षत्रिय नरेशों के संरक्षण में आया ।

नीरार्थ को आमंत्रण

पूर्वी बाली का समुद्रतटवर्ती गेल्गेल नगर बालीनरेशों का नया शक्तिपीठ बना । जावा के पलायित राजकुमार ने देव अगुंग नाम से स्वंय को बाली का सम्राट घोषित कर दिया था । आत्मरक्षा के लिए उसने संपूर्ण द्वीप को नौ राज्यों में बांट कर, अपने अतिरिक्त आठ अन्य सामन्तों में विभक्त कर दिया था । परंतु संपूर्ण द्वीप की वास्तविक सत्ता गेल्गेल में ही केंद्रित थी । समुद्री तूफानों तथा कुछ स्थानीय विवादों के कारण कालांतर में यह राजधानी कुछ और उत्तर में स्थित, क्लुगकुंग नगर में खिसक आयी ।

बाटु रेगांग इसी नवीन राजवंश का महाप्रतापी शासक था । वह विद्याविनय संपन्न, विद्वानों, पंडितों एवं कलाकारों का गुणाग्रही, तलवार का धनी तथा महान् दिग्विजयी था । सागर पार कर उसकी सेनाओं ने मध्यजावा के मतराम नगर में केंद्रित इस्लामी सल्तनत को भी अनेकश: आतंकित किया ।

भारत में यही समय सम्राट् अकबर का था बाटु रेगांग के आश्रय में ही प्राचीन जावी (कवि) भाषा में लिखित संपूर्ण भारतीय वाङ्मय नये सिरे से शुद्ध-शुद्ध लिखा गया। समस्त ग्रंथों की नयी प्रतिलिपियां तैयार की गयीं। वस्तुत: बाली में यह कविभाषा की संरचना का पुनर्जागरण-काल था।

बाली नरेश को सर्वाधिक चिंता धर्मव्यवस्था की थी। यद्यपि बाली के प्राचीन अधिपति निर्विवाद रूप से परम वैष्णव थे, परंतु अब स्थिति एकदम भिन्न-थी। संपूर्ण द्वीप में नाना परस्पर-विरोधी एवं प्रतिस्पर्धी संप्रदायों की भरमार थी, जिनमें नौ प्रमुख थे—शिवशासन, पाशुपत, भैरव, ब्राह्मण, सौर, गणपति, ऋषि, वैष्णव तथा बौद्ध। तंत्र, अभिचार एवं हठयोग के संप्रदाय भी द्वीप की जन-मानसिकता को छिन्न-भिन्न कर रहे थे। बाली का विद्वत्समाज किसी भी संप्रदाय के लिए एकमत नहीं था।

फलत: सम्राट् रेगांग ने पूर्वी जावा के तत्कालीन लब्धप्रतिष्ठ धर्माचार्य महातांत्रिक एवं महापंडित नीरार्थ को बाली आने का निमंत्रण दिया।

किंवदन्तियों की घमछाँहीं

महापंडित नीरार्थ को बाली की धर्मव्यवस्था स्थिर करने के लिए सम्राट् बाटु रेगांग ने बुलाया, ऐसा इतिहासकार कहते हैं, परंतु बाली के विज्ञ-समाज का बयान तो कुछ और ही है। इस संदर्भ में सत्य जानने के लिए मैंने नीरार्थ से जुड़े प्राय: समस्त स्थलों की यात्रा की—पुरा राम्बुत् शिवि, पुरा तनाह लाट, मास गाँव (जहाँ की एक अंत्यज कन्या से नीरार्थ ने विवाह रचाया था) तथा क्लुंगकुंग। परंतु जिस किंवदंती की चर्चा मैं करने जा रहा हूं उसका समर्थन प्राय: उपर्युक्त समस्त मंदिरों के पमंकुओं (पुजारियों) तथा अन्य विद्वानों ने किया।

महापंडित नीरार्थ पूर्वी जावा का निवासी था। उसके पूर्वज प्राचीन मजपहित-नरेश द्वारा सम्मानित थे। वह निष्ठावान् बौद्ध था तथा अपनी कुलपरंपरा का अनुसरण करते हुए ही उसने दुर्धर्ष पांडित्य प्राप्त किया था। वह समस्त शास्त्रों

का अध्येता होने के साथ ही साथ अद्‌भुत कर्मकांडी तथा शक्तिसंपन्न महातांत्रिक भी था ।

नीरार्थ अभी युवावस्था में था । संयोगवश एक प्रतिष्ठित शैव-पुरोहित की कन्या को वह अपना हृदय दे बैठा । इस अवैध प्रणय-प्रसंग में ही उसकी बड़ी सामाजिक अवमानना हुई, जिसने उसे जावा छोड़ने को बाध्य किया । पमंकुओं ने दो विशेष तथ्य बताये । एक तो यह कि अविवाहित कन्या गर्भवती हो उठी थी, दूसरा यह कि शैव पुरोहित के रोने-कलपने के कारण स्थानीय शासक नीरार्थ को दंडित करने पर तुल गया था ।

सत्य जो भी हो, नीरार्थ अपनी निष्ठावान् प्रणयिनी के साथ रातों रात एक नाव पर सवार होकर, सागर-मार्ग से बाली की ओर भाग चला । वस्तुत: उसने पुरोहित-कन्या को हृदय की संपूर्ण निष्ठा से अपनी पत्नी मान लिया था और उसके प्रेमवश ही उसने शैवधर्म भी स्वीकार कर लिया था, तथापि धर्मविद्वेष के वातावरण में, शैव पुरोहित की दृष्टि में वह अक्षम्य अपराधी था । एक बौद्ध का शैव अथवा वैष्णव-कुल में वैवाहिक संबंध होना संभवत: तत्कालीन जावा-समाज में सर्वथा निषिद्ध ही था ।

तांत्रिक चमत्कार

बाली का समाज तो जावा से भी कहीं अधिक कठोर था । फलत: जब अनेक दिनों की दुर्गम समुद्रयात्रा के बाद इस भगोड़े दंपत्ति की नाव शिवि नामक गांव के किनारे लगी तो ग्रामवासियों ने नीरार्थ को बाली की पवित्रभूमि पर उतरने ही नहीं दिया । इस अपमान से महातांत्रिक नीरार्थ तिलमिला उठा और क्रोधांध होकर उसने अपनी जटा के बाल नोच डाले । ज्यों ही उसने उन नुचे केशों को जमीन पर फेंका कि घास-फूस के ढेर में भयानक आग प्रकट हो गयी ।

सारे ग्रामवासी भयभीत हो उठे और नीरार्थ का यह महा-प्रभाव देखकर उसके चरणों में नत हो उठे । बाली की भूमि पर नीरार्थ की यह प्रथम विजय थी । इसके अनंतर वह कई दिन उस गांव में रहा पूर्ण मान-सम्मान एवं पहुनाई के साथ ।

उसने गांव के दक्षिण, सागरतट पर योगसाधना की तथा भगवान् शिव का भव्य मंदिर (पुरा दलिम्) स्थापित किया ।

बाली की जेम्ब्राना कमिश्नरी में मुख्यालय 'नगर' से कुछ मील पूर्व में एकदम सागरतट पर अवस्थित है, नीरार्थ की अक्षुण्ण कीर्ति का साक्षी वह मंदिर । इसे 'पुरा राम्बुत् शिवि' कहते हैं । मित्रों ने बताया कि इस शिवमन्दिर में नीरार्थ के वे केश (राम्बुत्) अभी भी सुरक्षित हैं, जो एक विशिष्ट पर्व पर ही सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित किये जाते हैं । चूंकि मुख्य मंदिर डेनपसार-नगर राजमार्ग से एक कि.मी. दक्षिण में है, अत: यात्रियों की सुविधा के लिए मंदिर का ही एक पीठ (पलिंगह) राजमार्ग पर स्थापित कर दिया गया है । प्राय: समस्त वाहन क्षण भर के लिए यहाँ रुकते हैं तथा पमंकू से प्रसाद एवं चरणामृत लेकर, प्रमुख मंदिर को सड़क से ही प्रणाम अर्पित कर आगे बढ़ जाते हैं ।

तंत्रसाधकों के लिए आज भी पुरा राम्बुत् शिवि आकर्षण का महान् केंद्र है ।

वहुराउ की धर्मविजय यात्रा

श्रद्धाभिभूत बाली के हिंदू समाज में अब नीरार्थ 'वहुराउ' के रूप में प्रख्यात हो उठा, जिसका अर्थ है—नवागत अथवा पाहुन । उसकी दुर्धर्ष शास्त्रज्ञता एवं तंत्रशक्ति से प्रभावित हजारों लोग अनुयायी बन गये । अपने इन्हीं अनुयायी भक्तों के साथ गांव-गांव धर्मोपदेश करता नीरार्थ बाली नरेश बाटु रेगांग से मिलने राजधानी क्लुंगकुंग की ओर बढ़ा ।

तबानान कबूपातन् (कमिश्नरी) के कडिरी जनपद में नीरार्थ ने सागर के बीच स्थित एक नन्हीं टेकड़ी पर दूसरा भव्य शिव-मंदिर स्थापित किया—पुरा तनाह् लाट (पुर = मंदिर, तनाह् = पृथ्वी = लाट = सागर) अर्थात् सागरतट नामक देवालय ! सागर की उत्तालतरंगों से अभिषिक्त इस भव्य मंदिर का सौन्दर्य देखते ही बनता है । इन दिनों इसका पुनर्निर्माण कार्य चल रहा है । मंदिर मूलभूमि से कटकर अलग हो गया है फलत: सामान्य जनता को मंदिर तक जाने अथवा

पूजा- अर्चना करने की अनुमति नहीं है । परन्तु मेरे मित्र धर्मयश ने जब पुरोहितों को भारतीय पाहुनों के बारे में बताया तो वे खुशी-खुशी तैयार हो गये पूजा कराने के लिए । पं. लल्लन प्रसाद व्यासजी मेरे साथ थे । हम लोगों ने विधिवत् पूजा की, पुजारियों को दक्षिणा दी तथा समवेत स्वर में गोस्वामी तुलसीदास प्रणीत रुद्राष्टक का गायन किया ।

तनाह्लाट का शिवमंदिर अपनी प्राकृतिक सुषमा के कारण अद्वितीय है । इंडोनेशिया के लोकप्रिय राष्ट्राध्यक्ष श्री सुहार्तो भी इस मंदिर के प्रति अत्यंत आस्थावान् हैं । मंदिर के पुनर्निर्माण हेतु उन्होंने अपने व्यक्तिगत कोष से भी काफी रुपियाह दिये हैं, ऐसा मुझे पमंकू ने ही बताया ।

कडिरी से दक्षिण-पूर्व की ओर यात्रा करता नीरार्थ अंततः बाली के दक्षिणी लांगूल तक आया । यह लागूंल कैल्सियम की वज्रोपम चट्टानों से सुरक्षित तथा गहन कांतारवीथियों से ओतप्रोत है । बाली का दक्षिणी छोर यहां समाप्त हो जाता है । यहां से चतुर्दिक् बस सागर की अनंत जलराशि ही दीखती है । सागर एवं आकाश की नीलिमा का समन्वय यहां इतना सूक्ष्म है कि ऊपर और नीचे या तो केवल आकाश, या फिर केवल समुद्र दीखता है । इसी मनोरम तपोभूमि में नीरार्थ ने योगसाधना की और 'पुरा उलू वाटु' नामक तीसरे शिवमंदिर की स्थापना की । निरंतर सिर धुनता समुद्र, उलू वाटु में सचमुच क्षीर सागर प्रतीत होता है, अनंत फेनराशि के कारण । यहां का सारा वन मूंछ वाले भयावह वानरों से व्याप्त है ।

बाली का राजधर्म: निराकार शिवोपासना

क्लुंगकुंग की राजसभा में पहुंचने से पूर्व, धर्माचार्य नीरार्थ ने उबुद कस्बे से कुछ दक्षिण में स्थित मास नामक गाँव में, एक रूपवती शूद्रकन्या से विवाह किया । वहाँ भी उसने एक भव्य देवालय की संस्थापना की । इसके अनन्तर ही वह महामेरु (गुनुंग अगुंग नामक पर्वत, १०५६० फुट ऊंचा) आदि की यात्रा करता हुआ बाटु रेगांग के राजदरबार में पहुंचा ।

सम्राट् रेगांग कई महीनों से वहुराउ नीरार्थ के पांडित्य एवं चमत्कारों की कथा अपने गुप्तचरों के मुंह से सुन रहा था। फिर भी वह स्वयं नीरार्थ की परीक्षा लेकर आश्वस्त होना चाहता था। जनश्रुति के अनुसार भूपति ने एक मृद्‌भांड में एक मेढक बंद कर उसका मुंह काले कपड़े से बंद कर दिया और महापंडित नीरार्थ से पूछा कि कौन प्राणी बंद है ?

राजा के अविश्वास एवं अपनी परीक्षा से बौखलाया नीरार्थ कुपित हो उठा और बोला—इस भांड में तुम्हारी मत्यु है, संभालकर खोलना इसका मुंह !' नीरार्थ का यह वचकाना-सा उत्तर सुनकर राजा सभासदों के साथ ठठाकर हंसा और मेढक दिखाने के लिए उसने ज्यों ही भांड का मुंह खोला कि एक भयानक विषैला नाग फणाटोप के साथ फूत्कार करने लगा।

बालीद्वीप में नीरार्थ की तंत्रशक्ति का यह दूसरा प्रदर्शन था। सम्राट् नीरार्थ के चरणों में नत हो उठा और उसने पूर्ण निष्ठा से महापंडित नीरार्थ को राजगुरु का पद एवं सम्मान दिया।

महीनों क्लुंगकुंग के राजकीय सभागार में विभिन्न संप्रदायों के साथ नीरार्थ का शास्त्रार्थ चलता रहा। परंतु एक-एक करके सभी पराजित हुए। शिव-सिद्धांत (शैवधर्म) बाली के राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। नीरार्थ ने पाशुपत, भैरव, ब्राह्मण तथा सौर संप्रदायों को, अभिन्न सिद्ध करते हुए शिव-सिद्धांत में ही विलीन कर दिया। गणपति तथा ऋषि-संप्रदाय संरक्षण के अभाव में स्वयं समाप्त हो गये। वैष्णव तथा बौद्ध संप्रदायों को नीरार्थ ने मान्यता दी।

इस प्रकार धर्माचार्य नीरार्थ ने विशुद्ध शैवतंत्र स्थापित किया जो बहुत कुछ काश्मीर के माहेश्वर-तंत्र के अनुकूल है। नीरार्थ 'अतिन्तिय' शिव (अचिंत्य) को ही समस्त सृष्टि का कर्ता, धर्ता एवं संहर्ता मानता है। वही स्वयं को त्रिधा (ब्रह्मशिव अर्थात् ब्रह्मा, सदाशिव अर्थात् विष्णु तथा परमशिव अर्थात् रुद्र) बहुधा (इंद्र, वरुण, कुबेर आदि समस्त भटार) तथा सचराचर सृष्टि के रूप में विस्तारित करता है।

शैवतंत्र एवं त्रिदेववाद की संस्थापना करते हुए भी नीरार्थ ने, बाली के सगुणोपासक समाज को मूर्तिपूजा से विरत कर दिया। आज भी बाली के किसी भी मंदिर में किसी देवता की मूर्ति नहीं प्रतिष्ठित है। देवता के स्थान पर मात्र प्रतीकात्मक 'पलिगह' (पूजास्तंभ अथवा शक्तिपीठ) स्थापित हैं। भारतीय परंपरा में बने मंदिरों की सारी नयनाभिराम मूर्तियाँ अब कुछ पुराने मंदिरों में उपेक्षित पड़ी हैं। चिंतामणि क्षेत्र के प्रख्यात शुकवन मंदिर (पुर पनुलिसान) में मैंने ब्रह्मा, विष्णु-लक्ष्मी तथा गणपति की भव्य मूर्तियां देखीं। कभी ये आस-पास के देवालयों में स्थापित रही होंगी ! गोआ गजा तथा तीर्त एम्पुल में भी मूर्तियों तथा लिंग-योनि का भारी संकलन मैंने देखा।

ऐसा प्रतीत होता है कि शैवधर्म स्वीकार करने के बावजूद नीरार्थ अपने बौद्ध-संस्कार भूल नहीं सका था। संभवत: बौद्धों के मूर्तिपूजा-विरोध के ही कारण उसने बाली को निरीश्वर शिवोपासक बनाया। ऐसा नहीं है कि बाली के किसी मंदिर में मूर्तियाँ न हों ! काँसे, पीतल, तांबे तथा चांदी-सोने की मूर्तियाँ अभी भी मंदिरों में हैं, परंतु वे नित्यपूजा के लिए प्रतिष्ठित नहीं। वर्ष में एक बार, न्येपी (नववर्ष) से एक सप्ताह पूर्व, बाली में प्रतिमाभिषेक-महोत्सव होता है। विशाल शोभायात्रा तथा घंटा-घड़ियाल वाद्यके साथ रथों एवं शिविकाओं में सुसज्जित ये देवप्रतिमाएँ सागरतट तक ले जायी जाती हैं तथा अभिषेक के अनन्तर पुन: अगले महोत्सव तक के लिए मंदिर के ही एक विशिष्ट कक्ष में बंद हो जाती हैं।

विवादों का व्यूह : लोम्बोक-यात्रा

अपने निरीश्वर शिव सिद्धान्त को व्यावहारिक-स्तर पर बाली का राजधर्म घोषित कराने में तो नीरार्थ सफल रहा, क्योंकि राजा की इच्छा तथा आज्ञा सर्वोपरि थी। परंतु सैद्धान्तिक स्तर पर भी उसे पुष्ट करने के लिए महाप्राज्ञ नीरार्थ ने अनेक आगम (धर्मशास्त्र) तथा तुतुर (तत्त्व) ग्रंथों की सर्जना की। नीरार्थप्रणीत प्रमुख कृतियाँ हैं—उसना बाली, नीतिशास्त्र, वेदपरिक्रमा, धर्मशून्य, एकप्रथम, जुगुलतुआ, अम्पिक्, चर-कुसुम तथा गगुतुक् मेनर् आदि।

नीरार्थ के विद्वान् शिष्यों ने भी आगम (धर्मशास्त्र), तुतुर (दर्शन) तथा ज्योतिष-वैद्यक आदि से संबद्ध हजारों उत्कृष्ट ग्रंथ लिखे जो बाली में आज भी पूर्णत: प्रतिष्ठित हैं। वस्तुत: वह बाली के हिंदू समाज का 'अभिनव मनु' था। उसने हिंदू धर्म को जिस साँचे में ढाला, वही रूप आज तक अक्षुण्ण है।

सम्राट् रेगांग ने नीरार्थ को 'पुजंग बेसार'(महापंडित) की पदवी से अलंकृत किया तथा उसे अपने ही साम्राज्य के अंगभूत लोम्बोक तथा सुम्बावा द्वीपों की ओर भेजा। वर्षा के दिन थे और राजधानी क्लुंगकुंग की पूर्वी सीमा पर बहने वाली नदी में जोरों का उफान था। लोग पानी का बहाव कम होने की प्रतीक्षा में थे कि महातांत्रिक नीरार्थ खड़ाऊँ पहने विशाल नदी को पार कर गया, मानो पृथ्वी पर चल रहा हो। बाली में संभवत: यह उसका अंतिम तंत्र-चमत्कार था। सारे दर्शक तथा राजपरिवार के सदस्य यह दृश्य देख कर स्तब्ध रह गये।

पश्चिमी लोम्बोक की शशक-प्रजा तो हिंदू थी, परंतु पूर्वी भाग इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुका था। अपने अकाट्य तर्कों, प्रबल स्थापनाओं तथा मोहक वक्तृताओं के कारण नीरार्थ ने उन पुराने हिंदुओं को पुन: शिव सिद्धांत में दीक्षित किया। सारा लोम्बोक द्वीप उसे श्रद्धापूर्वक 'डंगह्यंग' (महामहिम) तथा 'पा सुमेरु' (पिता सुमेरु) कहने लगा।

नीरार्थ के इस कार्य से अन्य द्वीपों के मुस्लिम-समाज में विवाद एवं विरोध की भयानक आँधी उठ खड़ी हुई। कट्टर मुस्लिम उसके प्राणों के गाहक तक बन गये। फलत: नीरार्थ को सुम्बावा द्वीप जाने का संकल्प त्यागना पड़ा। कालांतर में मुल्ला-मौलवियों ने लोम्बोक के मुस्लिमों को पुन: इस्लाम धर्म ग्रहण कराया। परंतु उनके अनेक हिंदू-संस्कार आज भी नहीं बदले हैं। आज भी लोम्बोक के मुसलमान हिंदुओं की त्रिसंध्या के समान तीन ही बार नमाज़ पढ़ते हैं, पाँच बार नहीं।

अपनी यवद्वीपीया पत्नी के अनंतर भी धर्माचार्य नीरार्थ ने बाली में चारों वर्णों की चार कन्याओं से विवाह किया तथा नाना प्रकार की सामाजिक प्रतिष्ठावाले ब्राह्मणवंशों का प्रवर्तन किया। भारतीय ब्राह्मणों की तरह बाली में कोई ब्राह्मण गर्ग, गौतम, शांडिल्य, वसिष्ठ, भरद्वाज गोत्र का नहीं है। सबका एकमात्र गोत्र

है—नीरार्थ। इन सबके आचरण, कर्म, प्रतिष्ठा एवं अधिकारों की पूरी व्यवस्था स्वयं नीरार्थ ने की। उसका यह कार्य पारस्कर गृह्यसूत्र एवं स्मृतियों का स्मरण कराता है, जिसमें ब्राह्मण को समस्त वर्णों में (अनुलोम) विवाह करने का स्वातंत्र्य दिया गया है। नीरार्थ का सिरजा हुआ बाली का हिंदू समाज आज भी कर्मकांड से बोझिल मीमांसायुगीन भारत प्रतीत होता है।

द्वाविंश अध्याय

बालीद्वीपीय ओङ्कार-साधना

चूंकि बाली द्वीप प्रथम शती ई० से १९०६ तक सर्वतंत्र स्वतंत्र रहा,[१] फलतः वहाँ हिन्दू धर्म, संस्कृति एवं रीतिरिवाज आज भी अपने मूल रूप में सुरक्षित है। आज भी प्रायः ३० लाख निष्ठावान्, हिन्दुओं से आबाद यह द्वीप हमें उपनिषत्कालीन भारत की याद दिलाता है। यद्यपि बाली के हिन्दू शैव, वैष्णव तथा बौद्धों में विभक्त हैं, तथापि समाज में वर्चस्व शैवों का ही है। भटार अतिन्तिय (निराकार अचिन्त्य शिव) ही बालीवासियों के भुक्ति-मुक्ति एवं गति-प्रदाता हैं। वह शिव 'निष्कल' हैं, परन्तु साकांक्ष होने पर वही **सकल** बनकर सृष्टि करने लगते हैं। यह सृष्टि चार खण्डों में सम्पन्न होती है।

प्रथम खण्ड में अचिन्त्य परमेश्वर स्वयं को तीन रूपों में विभक्त करता है—ब्रह्मशिव (ब्रह्मा), सदाशिव (विष्णु) तथा रुद्रशिव। विस्तार की दूसरी प्रक्रिया में भटार[२] (देवगण), तीसरी में कवितान (पितर) और चौथी में समूची अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज सृष्टि का निर्माण सम्पन्न होता है। पितर देवसृष्टि एवं मानवसृष्टि के बीच माध्यम का काम करते हैं। अशरीरी होने के कारण वे 'देव' भी

---

१. बाली ग्याहरवीं, तेरहवीं तथा चौदहवीं शती ई० में क्रमशः जावानरेश एरलंग, कृतनगर तथा राजसनगर के विशाल साम्राज्य का अंग रहा। परन्तु उस स्थिति में भी वह हिन्दू सम्प्रभुता के ही अधीन रहा।

२. इन भटारों में इन्द्र, वरुण, कुबेर (कुवेर), गेनि (अग्नि), गना (गण अथवा गणेश), कुमार आदि के अतिरिक्त कुछ नये नाम भी हैं जैसे देवी दनु (जलाशयों की देवी) देवी मेलान्तिङ् (व्यापार) आदि।

हैं तथा अपने **पूर्वपुरुष** होने के कारण कुल-परिवार के योगक्षेम-चिन्तक मानव भी। बाली के प्रत्येक गाँव में अनिवार्यत: चार मन्दिर होते हैं—पुरा दलिम (शिव), पुरा पुसेह् (विष्णु) पुरा देसा (ब्रह्मा) तथा पुरा दद्या (सं. पुर दायाद अथवा पितर मन्दिर)। प्रत्येक मन्दिर का रखरखाव तथा पूजा का दायित्व **पमंकू** (पुजारी) सँभालता है। प्रत्येक मन्दिर के नाम सावाह् (धान के खेत) होते हैं, जिनकी उपज से पमंकू के परिवार का भरण-पोषण, मन्दिर की देख-भाल तथा 'ओडालान' (मन्दिर-महोत्सव) सम्पन्न होते हैं ।

परन्तु बाली के चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थित समाज में सर्वाधिक महत्व है पेडण्डा अथवा धर्माचार्य का। जावी भाषा में पकार मत्वर्थीय है, अतएव पेडण्डा अथवा पडण्डा का अर्थ है—दण्ड से युक्त। भारतीय दण्डी संन्यासी की तरह पडण्डा भी हाथ में निरन्तर दण्ड लिये रहता हैं। पमंकू का अर्थ हैं—अंक वाला, अर्थात् जो देवता को गोद में लिये रहे, उसका सार्वकालिक सेवक। पमंकू अधिक पढ़ा-लिखा नहीं होता हैं; परन्तु पेडण्डा शास्त्रनिष्णात, कर्मकाण्ड-मर्मज्ञ तथा दैवी शक्ति से ओतप्रोत होता है। उसकी जीवनचर्या अत्यन्त कठोर, जटिल तथा सारे समाज से पृथक् होती है। यही कारण है कि बाली के हिन्दू-समाज में पेडण्डा, परमेश्वर के बाद सर्वाधिक श्रद्धेय व्यक्ति होता है। वह क्रिश्चियन-समाज के पोप की ही तरह धर्मव्यवस्था का नियामक एवं उसका रक्षक होता है। वह सर्वथा अनुल्लंघनीय अनतिक्रमणीय होता है । पाश्चात्त्य सभ्यता की आँधी में फंसे तथा लाखों-लाख भोगान्वेषी पर्यटकों की भीड़ से संत्रस्त बाली द्वीप में आज भी पेडण्डा साक्षात् **धर्मावतार** ही माना जाता है।

यद्यपि बाली द्वीप में शैव, वैष्णव तथा बौद्ध सम्प्रदाय के पृथक् धर्माचार्य हैं। उन सब की वेषभूषा, जीवनचर्या, पूजाविधि तथा पूजोपकरण आदि भी सर्वथा भिन्न हैं।[१] तथापि शैव धर्माचार्य (Pedanda Siva) की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है।

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—बालीद्वीपे भारतीया संस्कृतिः (संस्कृत श्री, पाक्षिक में धारावाहिक प्रकाशित, श्रीरंगम)।

वह शक्तिविग्रह माना जाता है । इस दैवी शक्ति को अर्जित करने के ही लिये पेडण्डा आजीवन घोर तप, व्रतोपवास एवं नियम-संयम का पालन करता है; परन्तु उसकी सबसे बड़ी तपस्या है—ओङ्कारसाधना ।

शक्ति-रहित जीवन बाली के हिन्दू समाज में निरर्थक माना जाता है । फलत: बालीवासी बालियान (प्रेतसमर्चक ओझा) पमंकू (पुजारी), डलंग (वायांग नाट्य का सूत्रधार) एवं पेडण्डा के सन्दर्भ में प्राय: उनकी शक्ति (Divine power) को लेकर ही विवाद करते रहते हैं । शक्ति का अर्थ है—मंत्र-तंत्र की सिद्धि का प्रतिफल अथवा देवार्चन से प्राप्त विलक्षण प्रभाव ।

प्राचीन जावी भाषा (Kawi or old Javanese) में लिखित ब्रह्माण्डपुराण (भारतीय ब्रह्माण्डपुराण से सर्वथा भिन्न) में ब्रह्माण्ड-रहस्य, देवशास्त्र (Mythology), भुवनकोश (Cosmogony), तत्त्वशास्त्र (Tutur) तथा तंत्रमंत्र-सिद्धि आदि का गहन एवं अनुभवसिद्ध ज्ञान सुरक्षित है । यही गूढ़ातिगूढ़ तत्त्वज्ञान पेडण्डा की महिमा-गरिमा का मूल हेतु है ।

ब्रह्माण्डपुराण के विषयों का पारदृश्वा होते हुए भी पेडण्डा का शक्तिविग्रहत्व उसकी विविध मंत्रसाधनाओं पर तथा विशेष रूप से **ओङ्कार-साधना** पर केन्द्रित होते हैं । इन मंत्रों में प्रमुख है—नवार्णविधान जिसे बाली के लोन्तारों में **अदश अक्षर** (Adasa Akshar) कहा गया है । इसी श्रेष्ठ मंत्रविधान को **नव-संघ** (Nava Sangga) भी कहा गया है । नव संघ अथवा अदश अक्षर समूची सृष्टि का मंत्रात्मक अभिव्यंजन है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है-

नव संघ (Nava Sangga)

स्थान	देव	वर्ण	मंत्राक्षर
१. केन्द्र (Puseh)	शिव	मिश्र	इंग् यंग् (शक्ति-शिव)
२. उदीची (kadja)	विष्णु	कृष्ण	हैंग्
३. ऐशानी दिक् (Kadja Kangin)	शम्भु	नील	वंग्

४. प्राची (Kangin)	ईश्वर	श्वेत	संग्
५. आग्नेयी दिक् (Clod Kangin)	महेश्वर	पाटल	मैंग्
६. अवाची (Clod)	ब्रह्मा	रक्त	बंग्
७. नैऋती दिक् (Clod Kauh)	रुद्र	नारंग	मंग्
८. प्रतीची (kauh)	महादेव	पीत	यंग्
९. वायव्य दिक् (Kadja Kauh)	शङ्कर	हरित	सिंग्

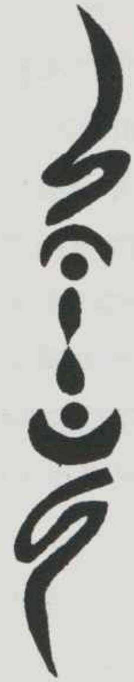
इस प्रकार **इग् यंग् हैंग् वंग् संग् मैंग् बंग् मंग् यंग् सिंग्** यह नवाक्षर अथवा **अदश अक्षर** मंत्र ही बाली का सृष्टिमंत्र है, जिससे समूचे ब्रह्माण्ड का बोध हो जाता है। इनमें भी **ओङ्कार** (Ongkar) मंत्रराज है। इन मंत्राक्षरों की सिद्धि तथा समुचित विनियोग का विशेषाधिकार पेडण्डा को ही प्राप्त है।

बालीद्वीपीय शास्त्रकारों के मतानुसार **अदशाक्षर** मंत्र ओङ्कार में ही समाविष्ट है, उससे पृथक्, कथमपि नहीं। ओङ्कार (बाली में ओङ्गकार) में तीन वर्ण हैं—अंग् उंग् मंग्। यही तीन वर्ण विविध रूपों में व्याख्यात हैं, जैसे-सदाशिव, परमशिव, महाशिव, अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक, पाताललोक अथवा अग्नि, जल, वायु अथवा पुरुष, नारी, सृष्टि (= पुरुषनारीसंयोग)।

इस प्रकार बालीवासियों की दृष्टि में ओङ्कार से पृथक् कुछ बचता ही नहीं है। ओंकार, शिव-शक्ति से समन्वित सृष्टि का ही उपलक्षण है। इतना ही नहीं, वह पुरुष की ही तरह साकार भी है। शीर्ष पर अवस्थित खड़ी रेखा को **नाद** कहते हैं। यही ओङ्कार पुरुष का **लिङ्ग** है। नीचे का अर्धचन्द्र (arda tcandra) ही योनि (जननाङ्ग) है। इन दोनों के बीच में स्थित वृत्त ही वीर्य एवं रज के समन्वय से उत्पन्न 'सृष्टि' है। शेष भाग ओङ्कार पुरुष का शरीर है।



ओङ्कारपुरुष



ओङ्कार-मधुमुख



ओङ्कारपसह

बाली के हिन्दू समाज में ओङ्कार साक्षात् शिव-विग्रह ही माना जाता है । फलत: शुभाशुभ, अनुकूल-प्रतिकूल संघटना में, अनिष्ट-निवारण में, प्रेतबाधा, रोगनिवारण तथा तापत्रय के अपसारण में **ओङ्कार** ही विविध रूपों में विनियुक्त किया जाता है । परन्तु बाली के लब्धप्रतिष्ठ तपस्वी धर्माचार्य प्राय: दो रूपों में ही ओङ्कार का प्रयोग अधिक करते हैं-पवित्र जल (Tirta Suci) के निर्माण में तथा रक्षाकरण्डक (ताबीज, amulet) के रूप में ।

भूत-प्रेत-पिशाच (लेयाक) तथा चुड़ैल (रांगडा) जनित भय को दूर करने के लिये पेडण्डा, दक्षिणा लेकर ओङ्कार-समन्वित ताबीज देता है । ये ताबीजें बाजार में भी मिल जाती हैं तथापि पेडण्डा द्वारा अभिमंत्रित एवं शक्त्यापादित ताबीज को ही धारण करना सार्थक माना जाता है । परन्तु यह तो ओङ्कार का सामान्य उपयोग हुआ । विशिष्ट लक्ष्यों की सिद्धि के लिए ओङ्कार के अत्यन्त गूढ़, जटिल एवं प्रयत्नसाध्य तान्त्रिक प्रयोग भी होते हैं जिन्हें पेडण्डा, उचित दक्षिणा पाने पर तथा कृपालु होने पर ही प्रकाशित करता है ।

यदि कोई युवक संकटापन्न प्रणयिनी को किसी भी मूल्य पर प्राप्त ही करना चाहता है तो पेडण्डा उसके लिए **ओङ्कार मधुमुख** (Ongkar madumuka) ताबीज का निर्माण करायेगा । इसमें दो ओङ्कार सम्मुखीन होते हैं, परन्तु यदि व्यक्तियों (पति-पत्नी, मित्र या पिता-पुत्र आदि) में विद्वेष कराना हो तो पेडण्डा **ओङ्कार-पसह्** (Ongkar Pasah) का भी प्रयोग कर सकता है, बशर्ते कि वह घटना के औचित्य के प्रति आस्थावान् हो । यदि पेडण्डा किसी सन्दर्भ के औचित्य से स्वयं आश्वस्त न हो तो लाखों रुपयों की लालच देकर भी उसे खरीदा नहीं जा सकता है । उसकी तंत्रशक्ति से भयभीत समाज उसका अपकार भी करने की बात नहीं सोचता है । ओङ्कार-पसह् में दो ओङ्कार विमुख स्थिति में सम्पृक्त किये जाते हैं ।

ओङ्कार के आभिचारिक प्रयोगों की संख्या एक-दो नहीं, हजारों में है । यहाँ उनका दिङ्मात्र निर्देश है । ये सारे प्रयोग गुप्तरीति से ही सम्पन्न होते हैं । मारण, मोहन, उच्चाटन तथा विद्रावण की बात न कोई प्रत्यर्थी सबके सामने कहता है, न ही पेडण्डा उसे किसी और से बताता है गोपनीयता की रक्षा से भी पेडण्डा को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ।

ओङ्कार का दूसरा विनियोग तीर्थशुचि (Tirta Suci) अथवा पवित्र जल के निर्माण में होता है । पेडण्डा यह कार्य लोकहित में करता है । इसमें कोई गोपन नहीं होता । यह एक प्रकार से पेडण्डा का व्यवसाय तथा दैनिक आय का स्रोत है । प्राय: पुत्रजन्म, विवाह, अन्त्येष्टि, मविन्तेन (शुद्धि), मेटाटाह् (दन्तशोधन), रेजासा-वाला (रजोदर्शन), गलुङ्गन्-कुनिङ्गन आदि शास्त्रीय तथा पारम्परिक संस्कारों में **तीर्थशुचि** की आवश्यकता होती है । विना तीर्थशुचि के बाली का कोई धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न नहीं होता ।

पवित्र जल की इसी महिमा के कारण बाली के हिन्दु धर्म का नाम ही पड़ गया-आगमतीर्थ (Agama Tirta) । धर्माचार्य के निरन्तर अनुपलब्ध होने पर धर्मभीरु गृहस्थ कभी-कभी पमंकू (मन्दिर का पुजारी) निर्मित तीर्थशुचि से ही काम

चला लेते हैं। परन्तु वह **गणपतिस्थाने पूगीफलम्** जैसा ही माना जाता है। वास्तविक माहात्म्य तो पेडण्डा-निर्मित पवित्र जल का है।

तीर्थशुचि के निर्माण की विधि भी जटिल है। सर्वप्रथम यह जल बाली के किसी पवित्र सरोवर (चिन्तामणि, बेडुगुल आदि) प्रपात अथवा बाली की गंगा (पकेरिसान) से मँगाया जाता है। तदनन्तर पेडण्डा **मवेद** (वेदमंत्र) का पाठ करके, ढेर सारे शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड सम्पन्न करके उस साधारण जल को **असाधारण** बना देता है। तंत्रमंत्र-प्रयोग, ओङ्कार-जप तथा विनियोगानुकूल पुरश्चरण के कारण इस जल की शक्तिमत्ता, प्रभावक्षमता तो पृथक् होती ही है—मूल्य भी पृथक् होते हैं।

सामान्यकोटि का पवित्र जल येह्निंग् (Yehning) है। यह साधारण मूल्य का है तथा अनुष्ठानों में वातावरण-शुद्धि मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। पमंकू भी येह्निंग् का निर्माण कर लेता है। पमंकू भी संयोग से न मिले तो लोग पीले नारियल के जल से भी शुद्धि कर लेते हैं, जिसे न्योह्गदिंग (Nyohgading) कहते हैं।

तीर्तपिलुकतान् (Tirta Pelukatan) पेडण्डा ही बना पाता है। यह जल दैहिक, दैविक, आत्मिक अशौच के अपसारण, रोगव्याधिनिवारण, प्रेतबाधाविनाश में समर्थ है। इस जल में, पेडण्डा ओङ्कार-प्रक्रिया से सारे देवताओं को प्रतिष्ठित कर देता है। गेरुपुक् (वार्षिक पूजा) पूजा पञ्चबलिक्रम[१] (दशवार्षिक)तथा पूजा एकादशरुद्र[२] जैसे राष्ट्रीय अनुष्ठानों में भी जल प्रयुक्त होता है।

इससे भी अधिक शक्तिशाली पवित्र जल का नाम है-तोय पंगेन्तास् (Toya Pangentas)। यह जल पेडण्डा द्वारा अखण्ड मंत्रोच्चारण के साथ, पीताक्षत, चन्दनचूर्ण, सुवर्णपत्राङ्कित मंत्रलेख (Pripih) तथा सुवर्णमुद्रिका को

---

१. बलिकर्म (संस्कृत)

२. पूजा पञ्चबलिक्रम सौभाग्य से मेरे प्रवासकाल में ही सम्पन्न हुई थी-८ मार्च, १९८८ ई० को। राष्ट्रपति सुहार्तो ने इसका शुभारंभ 'गुनुंग-अगुंग' (महामेरु) पर स्थित शिवमन्दिर में किया। शतवार्षिकी पूजा बाली में सन् ७४ ई. में सम्पन्न हुई थी।

जल में मिलाकर बनाया जाता है । जल तो यजमान को मिलता है कामनासिद्धि के लिए; परन्तु सुवर्णपत्र एवं मुद्रिकादि सम्भार पेडण्डा को प्राप्त होते हैं । दक्षिणा के रूप में ।

परन्तु पवित्र जल की पराकाष्ठा है—तोय अमिर्त (Toya amerta) अथवा तोयामृत । यह साक्षात् अमृत ही है । पेडण्डा इसे बनाता तो है, परन्तु किसी भी मूल्य पर, किसी को देता नहीं । क्योंकि अमृतपान का अधिकार केवल देवों को है, मानव को नहीं । धर्मभीरु पेडण्डा को भय, लोभ अथवा प्रार्थना से भी विचलित नहीं किया जा सकता । क्योंकि वह जानता है कि यदि अन्य व्यक्ति **अमृत** का पान करता है तो ऋत-सत्य का नियमोल्लंघन होगा जिससे कि समूचे ब्रह्माण्ड का अकल्याण संभव है । इस सन्दर्भ में बाली के धर्माचार्य अमृत-मंथन एवं राहु का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं ।

मवेद (Maweda) का अर्थ है वेदमंत्रपाठ । शुचितीर्थ एवं मवेद एक दूसरे के पूरक हैं । विना मवेद के शुचितीर्थ का निर्माण संभव नहीं । फलतः पेडण्डा का सारा जीवन इन्हीं दोनों ध्रुवों के बीच संयमित होता है । प्रत्येक महीने की कुछ निश्चित तिथियों पर **मवेद** अनिवार्य होता है । विशेष कर प्रतिपदा, पञ्चमी (Kalion) तथा पूर्णिमा (Purnama) के दिन पेडण्डा नियत रूप से मंत्रसिद्धि करता है । उस समय पेडण्डा की मंत्रगायन-विधि, स्वरावरोहारोहक्रम, अंगुलिप्रचार, हस्तमुद्राभिनय-सब कुछ विलक्षण प्रतीत होता है । चाक्षुष, श्रावण एवं मानस प्रीति उत्पन्न करने वाला, पेडण्डा का वेदपाठ, भारतीय वेदपाठ से भी अधिक रोचक एवं मनोहर प्रतीत होता है ।

मवेद के दिन पेडण्डा प्रातः काल से ही पर्याकुल दीखने लगता है । सारे कुटुम्बी, विशेष कर पेडण्डा की पत्नी निरन्तर दौड़ती रहती है, उसके संकेतों पर । पेडण्डा नित्यक्रिया सम्पन्न कर, मुंह धोकर, दांतों को साफ कर, नहा कर, केशों को कंघी से संवार कर, ललाट पर चन्दनादि का तिलक लगाकर, यथोचित वेष-भूषा पहन कर आसन पर बैठता है । उसकी पत्नी सोने-चांदी के पूजापात्र, अक्षत-पुष्प आदि स्मरण कर-कर एकत्र करती रहती है ।

पेडण्डा प्रत्येक कर्म में श्लोक अथवा मंत्र पढ़ता रहता है, जैसे स्नानवेला में-**गंगे च यमुने चैव** आदि ।

तदनन्तर पैर के ऊपर पैर रखकर,शान्त मुद्रा में बैठा पेडण्डा आत्मशुद्धि करता है । मंत्रोच्चारण के साथ धूप-दीप, नैवेद्य आदि अर्पित करता हुआ वह अपने शरीर तथा कमण्डलु के जल (Siwamba) में महेश्वर शिव की अवतारणा करता है । तदनन्तर विविध तान्त्रिक क्रियाएँ सम्पन्न कर, फुसफुसाहट-भरे स्वर में-दोनों हथेलियों को परस्पर रगड़ते हुए मंत्र-जाप करता हुआ पेडण्डा पुष्पों तथा चन्दन-चीर्णों से अंग-प्रत्यंग का कालुष्य दूर करता है ।

यह सब तो हुआ सामान्य शौचकर्म । अब वह प्राणायाम द्वारा शिवसा-युज्य-प्राप्ति के लिए समाधि का अभ्यास करता है । प्राणायाम के बाद पात्र में रखे जल पर कुशाग्र से **ओम्** लिखकर, पुष्पाञ्जलि से प्रार्थना कर, पुष्पों को कमण्डलु-जल में मिलाकर, बायें हाथ से घण्टी बजाता हुआ शिवसायुज्य की पृष्ठभूमि तैयार करता है । धीरे-धीरे उसकी सांसें, मंत्रोच्चारण-स्वर, घण्टिका-वादनरव-सब के सब श्लथ एवं गंभीर होने लगते हैं । पेडण्डा की आँखें स्वतः बन्द हो जाती हैं । अब वह साक्षात् 'शिव'बन जाता है । ऐसा बालीवासियों का दृढ़ विश्वास है ।

शिवसायुज्य का प्रभाव पेडण्डा विविध संकेतों से सूचित करने लगता है । बार-बार मुंह फाड़कर हुंकारयुक्त जँभाई,निद्राकातर काली पुतलियों का नाचना, बृहत् उच्छ्वास-निःश्वास तथा रह-रह कर अंगों का आन्दोलन, यह सब करने के बाद ही पेडण्डा गहन समाधि में लीन होता है ।

इस पूरी प्रक्रिया को 'उपकार कर्म' कहते हैं । पूरी प्रक्रिया ही विलक्षण एवं दर्शनीय होती है । समाधिदशा में भी पेडण्डा कुश (Alang-alang) से शीर्ष को बाँधकर, अंग-प्रत्यंग को रुद्राक्ष से लपेट कर, कम्पन एवं हिचकियों के साथ विविध पवित्र मंत्रों का उच्चारण करता हुआ **आत्मा** को वक्षः स्थल से उठा कर 'ब्रह्मरन्ध्र'तक ले जाता है । उस स्थिति में वह सर्वप्रपञ्चानुभवशून्य हो जाता है ।

ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान के भेद से विरहित पेडण्डा उस क्षण में साक्षात् भूतभावन शिव बन जाता है ।

समाधि की अवधि के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता । अल्पावधिक तो वह होती ही नहीं है । सारा परिवार तथा भक्तगण, बस पेडण्डा के **प्रकृत** बनने की प्रतीक्षा करते रहते हैं । समाधि के पूर्ण होने पर पेडण्डा, ब्रह्मरन्ध्रस्थ आत्मा को पुनः वक्षःस्थल में स्थापित करता है-विविध अनुष्ठानों द्वारा । अब वह पुनःअचिन्त्य शिव (Bhatar Atintiya) से साधारण पुरुष बन जाता है । इस अवसर पर वह बार-बार यह मंत्र पढ़ता है-ओम् ह्रं ह्रं सः । परमशिवादित्याय नमः । ओम् ह्रम् ह्रम् सः ।

जैसा कि प्रारंभ में ही निर्देश किया गया है बाली के हिन्दु-समाज में, मवेद तथा उपकार-कर्म के कारण पेडण्डा देवता के ही समान पूज्य है । भले ही वह दक्षिणा लेकर **तीर्थशुचि** (पवित्र जल) तथा ओङ्कार-ताबीजों का वितरण करे, जनता की दृष्टि में वह सौजन्य, दाक्षिण्य एवं परोपकार की प्रतिमूर्ति ही माना जाता है । पेडण्डा का व्रतानुष्ठान नियन्त्रित कठोर जीवन उसे सारे समाज से अलग-थलग कर देता है । वह अपने घर में भी प्रायः पृथक् ही रहता है । वह सदैव स्वयं को परमेश्वर का प्रतिनिधि, धर्म का रक्षक, दीनबन्धु समझता है ।

बाली में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था है—ब्राह्मण (Ida Bagus), क्षत्रिय (Satriya or Jokorde), वैश्य (Deva) तथा शूद्र (Jabo), परन्तु चारों वर्णों में छुआछूत का नाम नहीं । सबमें अपार प्रेम एवं सहयोग का भाव है । सब के सब निराकार शिव के उपासक हैं । प्रायः सभी मांसाहारी हैं । सुअर, मुर्गा, चारों वर्णों का प्रिय भक्ष्य है । प्रायः सब मीमांसक प्रवृत्ति के हैं ।

शैव धर्माचार्य (पेडण्डा) ही बाली में एकमात्र ऐसा व्यक्ति है जो **पवित्र मास** (Daging Suci) खाता है । पवित्र मांस का अर्थ है-बत्तख । पेडण्डा सुअर अथवा मुर्गा आदि का भक्षण कभी नहीं करता । यही उसकी सात्त्विकता है । वह सदैव श्वेतवस्त्र ही पहनता है तथा केशों को संवार कर ऊपर जूड़े की आकृति में संयत किये रहता है । उसका प्रभामण्डित व्यक्तित्व स्वतः सबसे अलग दीखता

है । भौगोलिक रक्षाकवच के कारण बालीका हिन्दूसमाज आज भी अपनी दो हजार वर्ष प्राचीन मान्यताओं एवं आर्ष परम्पराओं के साथ सुखपूर्वक जी रहा है । यदि किसी को हजार-डेढ़ हजार वर्ष प्राचीन भारत देखने की लालसा हो तो उसे एक बार बालीद्वीप अवश्य जाना चाहिए ।[१]

---

१. पेडण्डा का 'मवेद' एवं उपकारकर्म सम्बन्धी विवरण लेखक के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है । लेखक, राजधानी डेनपसार से पूर्व में स्थित सागरतटवर्ती सानुर कस्बे के एक पेडण्डा परिवार का स्नेहभाजन रहा। पेडण्डा की जीवनचर्या, मंत्रसिद्धि एवं आहार-व्यवहार को प्रत्यक्ष देखने का अवसर उसे यहीं मिला । नृवंशशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष प्रो. नूरा बागुस की माँ के श्राद्ध-संस्कार (Momukur) में भी लेखक पेडण्डा के पाण्डित्य एवं कर्मकाण्ड से भलीभाँति परिचित हुआ ।

त्रयोविंश अध्याय

बालीद्वीप के प्रेतपूजक वैद्य-बालियान

बालीद्वीप में आज भी नब्बे प्रतिशत लोग बालियानों से ही उपचार कराना पसन्द करते हैं। भारतीय ओझा-सोखा लोगों की ही तरह ये पारम्परिक वैद्य, जिन्हें बालियान कहा जाता है, अपनी कला से कठिन से कठिन रोग को भी, कुछ ही महीनों में ठीक कर लेते हैं। मैंने एक रोगी को देखा जिसे लकवा मार गया था। घर वाले उसे डोली पर लाद कर ले आये थे। वह हाथ तक नहीं हिला सकता था। परन्तु तीसरे ही महीने बालियान ने उसे दौड़ने योग्य बना दिया था। यह सारा कमाल बालियान अपनी कुलपरम्परा-प्राप्त तंत्रशक्ति से करता है।

कौन हैं ये बालियान?

बालियानों को समझने के लिए बालीद्वीप की सामाजिक पृष्ठभूमि जाननी आवश्यक है। बालीनरेश धर्मोदयनदेव की रानी महेन्द्रदत्ता, जावानरेश मकुटवंशवर्धन की कन्या थी। उसे जावा के संस्कृत-शिलालेखों में **यवराजलक्ष्मी तथा गुणप्रियधर्मपत्नी** आदि विरुदों से अलंकृत किया गया है। दुर्भाग्यवश वह बचपन से ही तंत्राभिचार एवं कापालिक धर्म में अनुरक्त हो गई थी। बालीद्वीप की सम्राज्ञी बनते ही उसने समूचे द्वीप में वैष्णवोपासना बन्द करा दी तथा गांव गांव में तान्त्रिकों,कापालिकों एवं वाममार्गी साधकों का जाल सा बिछा दिया।

प्रजा आतंकित हो उठी तथा विरोध करने वाले लोग तंत्र प्रयोग से लूले, लंगड़े, अन्धे बनाये जाने लगे। प्रजा की यह विपत्ति जब धर्मोदयनदेव वर्मा (९८६-१०२२ ई०) को ज्ञात हुई तो उन्होंने जिद्दी रानी को निर्वासित कर

दिया—बुरवन के जंगल में (यह स्थान बाली की राजधानी डेनपसार से प्राय: ३५ कि.मी.उत्तर-पूर्व में स्थित ग्यान्यार जिले के कुतरी गांव के पास है) ।

उदयन की मृत्यु के बाद महेन्द्र दत्ता को **रांगडा** (अर्थात् रण्डा, विधवा) कहा जाने लगा । इसके अत्याचार इतने बढ़ गए कि उसी के पुत्र सम्राट् एरलंग ने भराड़ नामक महातांत्रिक को जावा से भेज कर, उसकी हत्या करवा दी । रांगडा को प्रेताधीश्वरी महिषासुर मर्दिनी के रूप में, कुतरी गांव में ही एक मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया गया जो आज भी प्रेतसमर्थकों का आकर्षणकेन्द्र बना है ।

भराड़ एव रांगड़ा के अभिचार-युद्ध की लोमहर्षक कथा प्राचीन जावी में लिखे गये **जलोनरंग** नामक ग्रंथ में सुरक्षित है । समूचे इण्डोनेशियाई द्वीपों में रांगडा के नानाविध मुखौटे दुकानों पर मिलते हैं, जिन्हें दीवार में टांग देने पर घर में रोग-दोष अथवा प्रेतबाधा नहीं होती है ।

रांगडा की सिद्धि प्राप्त करने वाले साधकों को ही बालियान कहा जाता है । ये बालियान दो प्रकार के होते हैं—बालियान विशद तथा बालियान ङ्गेङ्गेङ्गान ।

बालियान विशद तो आयुर्वेद का पाण्डित होता है । वह शास्त्रोक्त मंत्रप्रक्रिया (जैसे ओंकार मण्डित ताबीज अथवा मंत्रपूत गंगाजल-तोया अमिर्ता आदि) के साथ ही साथ अपने हाथ से बनाई गई औषधियों से रोगी को ठीक करता है । बालियान विशद द्वारा निर्मित क्वाथ, अवलेह तथा रसायनवटियां अत्यन्त लोकप्रिय तथा लाभकर होती हैं ।

परन्तु बालियानङ्गेङ्गेङ्गान की बात ही कुछ और है, क्योंकि वह केवल अपनी विलक्षण प्रेतसिद्धि, रांगडाकृपा तथा कुलदेवता के अनुग्रह से रोगोपचार करता है और देखते ही देखते, रोग को हड्डी, पत्थर या कोयले की शक्ल में शरीर से बाहर निकाल लेता है । इस प्रक्रिया में न तो देह से खून निकलता है, न ही कोई घाव बनता है । चार-छ: बार की इसी प्रक्रिया से रोगी एकदम स्वस्थ हो जाता है । जिस बालियान से मेरा घनिष्ठ सम्पर्क था वह **कैंसर** को भी निर्मूल कर देने का दम भरता था ।

जब मैंने बालियान से इलाज कराया

उन दिनों मैं बाली के प्रेततंत्र का गहराई से अध्ययन कर रहा था । बालियानों की विलक्षणता मैं सुन चुका था, अतः उनसे मिलने को उत्कंठित भी था । एक दिन मेरा मित्र धर्मयशा मुझे मेलायू गांव ले गया, जहां उसके एक मित्र का इलाज चल रहा था । यह बालियान जाति से **शत्रिय** (क्षत्रिय) था । उसकी उम्र चालीस के आसपास थी ।

बालियान के घर के अहाते में प्रवेश करते ही मैं हतप्रभ हो उठा । विविध अवस्था की पचासों रूपसौन्दर्य की प्रतिमाभूत युवतियां, वृद्धाएं, बच्चियां तथा पुरुष वहां अर्धनग्न बैठे थे । कटिवस्त्र के अतिरिक्त उनकी देह पर कुछ भी नहीं था । हां, युवतियां अपने वक्षस्थल को या तो बाहों में समेटे थीं या फिर उतारे गये वस्त्र से ही ढ़के हुए थीं । सब के हाथों में अगरबत्तियां थीं जिसका धुआं वे सब अपने अंग-प्रत्यंग में लगा रहे थे ।

मेरा रूप रंग तथा शरीर-सौष्ठव तो सबसे अलग था । अतः मेरे प्रणाम करते ही बालियान ने मुस्करा कर मेरे मित्र से पूछा—

वरू इनी ? (क्या ये नये हैं ?)

धर्मयशा ने बताया—या या ! पण्डित बेसार इनी दी यूनिवर्तितास उदयना । मेंगजार भाषा संसकिर्ता । सूडाहदतंग दरी इण्डिया । मऊ ताहू तेन्तांग बालियान (हां हां, ये उदयन यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं । संस्कृत भाषा पढ़ाते हैं । भारत से आये हैं । बालियान के विषय में जानना चाहते) हैं ।

प्रसन्नमन बालियान ने स्वागत करते हुए मुझे बैठाया और मैं उसकी उपचार विधि देखने लगा । परन्तु कैमरे पर हाथ लगाते ही उसने मुझे मना कर दिया, फलतः मैं उस अद्भुत दृश्य को चित्रांकित नहीं कर सका ।

प्रत्येक रोगी की पहले विधिवत् नारियल के तेल से मालिश की जाती है । इसके बाद रोगी, चार पांच की संख्या में, बालियान के गृहमन्दिर (पेमिराजन) में जाते हैं । मन्दिर-द्वार के स्तम्भ पर एक पात्र में जल तथा गुलाब के फूल रखे रहते

हैं । लोग बारी-बारी से आगे बढते हैं, गुलाब के फूल से जल का छींटा अपने अंग-प्रत्यंग पर देते हैं और मन्दिर के गर्भगृह के समक्ष बिछी चटाई पर यथास्थान बैठ जाते हैं ।

एक दल के आ जाने पर, बालियान की पत्नी पूजा प्रारंभ करती है । सबको तीन बार नारियल के तेल का आचमन करा कर तीन-तीन जलती अगरबत्तियां हाथ में दे दी जाती हैं और देवता का ध्यान करने को कहा जाता है । बालियान की पत्नी लम्बे साबर मंत्रों का पाठ करती हुई, सभी रोगियों पर जल छिड़कती रहती है ।

पेमिराजन-पूजा की समाप्ति के बाद रोगी बाहर आते हैं तथा अगरबत्ती के धुंएँ से शरीर को सेंकते जगह-जगह बैठ जाते हैं । घुंआँ उस अंग में अधिक दिया जाता है जहां रोग है ।

अपनी बारी आने पर रोगी बालियान के पास आता है और चटाई पर लेट जाता है । अब रोग परीक्षण (डॉयगनासिस) होना है । बालियान अपनी तांत्रिक अंगूठी रोगी के दोनों हाथों की मध्यमा पर, दोनों पैरों के अंगूठों पर, दोनों स्तनों पर तथा माथे पर बारी-बारी लगाता है । जिस किसी भी अंग में रोग होगा, तांत्रिक अंगूठी का संस्पर्श करते ही रोगी, हलाल किये जाते बकरे की तरह चीख पड़ता है । बस रोग पकड़ में आ गया ।

अब बालियान कटोरी से तेल लेकर रोगयुक्त अंग विशेष पर मालिश करने लगता है और चार-पांच मिनट की मालिश के बाद ही, विद्युतगति से चमड़ी फाड़ कर, सफेद या मटमैला नुकीला पत्थर का टुकड़ा निकाल कर रोगी के हाथ में रख देता है । यह सब इतनी तीव्र गति से होता है कि रोगी को चीखने तक का अवसर नहीं मिलता । पत्थर निकलते ही राहत महसूस करता है । उसके फटे चमड़े पर थोड़ा तेल लगा दिया जाता है और प्लास्टिक की थैली में थोड़ा और तेल दे दिया जाता है घर पर लगाने के लिए ।

रोग की भयावहता के आधार पर रोगी को दो-चार बार और आना पड़ता है—पन्द्रह बीस दिन के अन्तर से । इस उपचार की कोई फीस नहीं । हां, रोग ठीक

हो जाने पर जब पेमिराजन (गृहमन्दिर) में रोगी से अन्तिम देवपूजा कराई जाती है तब वह अपनी इच्छा से दक्षिणा या खाद्य-सामग्री, फल-फूल या उपहार बालियान की पत्नी को अर्पित करता है ।

बालियान ने इसी विधि से मेरा भी परीक्षण किया । तांत्रिक अंगूठी के विविध केन्द्रों पर लगाने पर भी जब मुझे कोई हलचल नहीं हुई तो उसने मुस्करा कर कहा—बागुस (बहुत अच्छा), फिर उसने मेरे पेट की मालिश प्रारंभ की—ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, आड़े, तिरछे । थोड़ी ही देर में मेरा उदर रुई के फाहे जैसा नरम हो गया और बालियान की उंगलियां मेरी पीठ की पसली में कंघी की तरह सिहरन पैदा करने लगीं । जब तक मैं कुछ और सोचता, बालियान ने मेरी नाभि के नीचे के मांस को अंगुलियों से समेटा और नाभिरन्द्र को चीर कर, एक नुकीला मटमैला पतला सा पत्थर का टुकड़ा बाहर निकाल लिया । मजाक करने के लिए उसने आधा ही बाहर निकाला और मुझे दिखाने के बाद ही, पूरे पत्थर को बाहर निकाला । मैं पहले तो चीखा, बाद में बालियान के ठहाके के ही साथ स्वयं भी हंसने लगा ।

बालियान ने बताया कि यही पत्थर जब कोमल अंग में (गाल ब्लैडर आदि) बनता है तो जानलेवा हो जाता है परन्तु मांसल भाग में रह कर कोई नुकसान नहीं करता । प्रेतोपासक बालियान (वैद्य) का यह हस्तकौशल देख कर मैं दंग रह गया ।

मेरा यह संस्मरण मेलायू गांव के बालियान पा सुमेरु का है । एक और बालियान से मैं मिला जो प्राइमरी स्कूल (सेकोलाह पूर्वा) के मास्टर थे । उन्होंने दियासलाई की तीली धँसा-धँसा कर मेरी परीक्षा की और मेरा स्वास्थ्य अच्छा बताया । उन्होंने अभूतपूर्व कृपा करते हुए, मेरे दोनों नथुनों में सिरके जैसे किसी क्षाररस की ऐसी पिचकारी मार दी कि मेरा बुरा हाल हो गया । लगा जैसे नथुनों में गीली मिट्टी भर कर उन्हें ठस्स बन्द कर दिया गया है । मैं सारी रात मुंह से सांस लेता रहा । परन्तु ब्रह्मवेला में मेरी नाक खुल गई और सारी देह में अद्‌भुत स्फूर्ति का संचार हो गया ।

सावधान ! घर में कोई बीमार है

घर में किसी के बीमार पड़ते ही बालीवासी केवड़े की आरीनुमा पत्ती को दुहरा मोड़ कर, घर के बाहर रस्सी से लटका देते हैं । उसे देखते ही हर व्यक्ति सावधान हो जाता है और अकस्मात् घर में प्रवेश नहीं करता । नाते-रिश्तेदार बाहर ही पांव धोकर तथा **सावेनपत्र** (दुहरी केतकी) को श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर, रोगविषयक साबर मंत्रविशेष का जप करते हुए ही घर में जाते हैं । बाली के हिन्दुओं का विश्वास है कि पादप्रक्षालन के साथ, आगन्तुक के साथ आये प्रेत-पिशाच विनष्ट हो जाते हैं तथा मंत्रजप से व्यक्ति स्वयं पूर्व सुरक्षित हो जाता है । बालीवासी प्राय: प्रत्येक रोग के पीछे किसी 'लेयाक' (भूत-प्रेत) का हाथ मानते हैं और तुरन्त उसे **बालियान ङ्गेङ्गेङ्गान** के पास ही ले जाते हैं । बड़ी लम्बी और लोमहर्षक कहानी है इन प्रेतोपासक बालियानों की । जो रोग का उपचार करते हैं मंत्रौषधि अथवा प्रेतसिद्धि से, वे तो सहृदय हैं, लोकोपकारी हैं ।

परन्तु उन बालियानों का क्या कहना जो मात्र शक्तिसिद्धि या बदला लेने के लिए संहार एवं अनर्थ करते रहते हैं। रोग उत्पन्न करना या किसी पर मारण-मोहन, उच्चाटन का प्रयोग कर देना उनके बायें हाथ का खेल है । ये नृशंस बालियान मृत्यु के मूल्य पर भी अपना कोई रहस्य प्रकाशित नहीं करते । सारे समाज से अलग-थलग रहते हैं । किसी भी व्यक्ति के वस्त्र, कटे नाखून, कटे बाल,पैर तले की माटी, लार-थूक या पान की पीक (बासेह) को पाते ही ये मंत्र-तंत्र प्रयोग से उसकी चेतना को वशीभूत करके उसे नाना प्रकार की यातना देते हैं । फलत: हर व्यक्ति ऐसे अघोरी बालियानों से सावधान रहता है ।

सर्वाधिक भयंकर वे अघोरी बालियान हैं, जो प्रेत शरीर तक धारण करने में समर्थ हैं । उन्हें **पांगिवा** कहते हैं । ये स्वेच्छानुसार लेयाक-विशेष (वानर, सांप, वन्यसूकर, टोके आदि) का रूप धारण करते हैं और फिर अपने मूल रूप में भी आ जाते हैं । इन दोनों कार्यों की पृष्ठभूमि में होती है बालियानों की चिरकालिक घोर साधना तथा मन्त्र सिद्धि । उत्तुंग बेकुंर नामक जंगली वानर का रूप- धारण

करने के लिए जिस मंत्र की सिद्धि बाली द्वीप के तंत्रग्रंथों में बताई गई है, वह इस प्रकार है—**अःह्लेङ् ह्लैङ्ङ ह्लुङ्ङ। उः हेक् क्वेक् क्वेक् क्वेक्।**

मनचाहा प्रेतशरीर (बेताल) धारण कराने वाला एक दूसरा सिद्ध साबरमंत्र इस प्रकार है—ओग् इडिपकुरुमवक् संग कुण्डविजयमूर्तिमिजिकन गेनि रिंग सरीर सास्ति। ओगं गेनि प्रतिह्, रिंग पेपुसुह् गेनि अबंग रिंग हति, गेनि कुनिंग रिंग उंसिलान्, गेनि इरेग रिग अपेरू, गेनि परबूत रिंग नाबि, मितु रिंग सिवद्वारंकु अंग् अंग् अंग् अंग् अंग् जेमिजिल्—-ओंग सिदि स्वस्ति बावंकु सेर् सेर् सेर्।

इस मारणमंत्र में कुण्डविजयमूर्ति (नामक देवता) से मारणयोग्य व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग में (पुतिह् = नेत्र, पेपुसुह = फुफ्फुस, फेफड़ा, हति = हृत्, हृदय, नाबि = नाभि आदि) भयावह आग (गेनि = अग्नि) पैदा कर देने की प्रार्थना की गई है।

विदा बाली !

वह दिन
जब भारत में
देखा था सपना बाली का
और यह दिन
जब उस सपने को जी भर भोग कर
पूरे दो बरस—
लौट रहा हूँ पुनः
हिमालय-गंगा के घर
कितना अन्तर है दोनों में ?
अब तो लगता है
बीते जन्मों का भोगा यथार्थ
जिसकी मधुमय संस्मृति
प्रत्यक्ष में जकड़ी—
इन्द्रियों के
शिथिल होते ही, नींद में
बरबस उभर कर
जनम देती हैं सपनों को
वे ही स्मृतियाँ
इन्द्रियों के पुनः चेतन होते ही
बन जाती हैं सपना !
निश्चय ही
पूर्व-स्मृतियाँ
वर्तमान से जुड़
बनती हैं यथार्थ ।
और अतीत से अभिभूत
रहस्यगर्भ में समाया
वही यथार्थ
पुनः बन जाता है सपना ।
किसी जनम में निश्चय ही मैंने
देखा होगा बाली को !
शायद यहाँ जनमा था कभी
या फिर आया था
सार्थवाहों के साथ
यहाँ आर्यधर्म को वितरित करने ।
अन्यथा
जन्मान्तर-संगति के बिना
सम्भव था कैसे
आंखों से उभरना
स्वप्न इस द्वीप का ?
जब-जब देखे
घने झुरमुट वनस्पतियों के
सघन वेणुवन
कदली-कुञ्ज
और पर्वताकार बिरिंगिन के मण्डप

एक हूक-सी उठी मन में—
'अरे ! यह तो वही ठाँव है
जहां मैंने की थी अठखेलियाँ !
यही तो है वह बाली की गंगा
पकेरिसान
पिया था जिसका मैने अमृतनीर !
और यही तो है वह
कुतरी गांव
जहां मैं आया था कितनी ही बार
करने दर्शन
दुर्गा महिषासुरमर्दिनी का !'
ये हूकें मन में क्यों उठीं ?
क्यों नहीं उठीं हूकें
अपने ही देश में—
जब मैने देखा था
तञ्जावुर, मदुरा, चिदम्बरम् !
क्यों नहीं उभरे अब तक सपने
नयनों में
किन्हीं और देशों के ?
बाली से ही इतना
अपनापा क्यों ?
परिचय क्यों ?
घनिष्ठता क्यों ?

बार-बार कोई कहता है कान में
यही है तुम्हारी क्रीड़ास्थली
भूले-बिसरे
व्यतीत जन्म की ।
यहीं कर गए थे प्रचार तुम
कभी आर्यधर्म का ।
राजसभा बीच
बाली-भूपति श्री उदयन ने
किया था प्रतिष्ठित तुम्हें
माथे पर बाँध, यहीं देदीप्यमान
गेलुंगान मणि-कञ्चन का—
कितनी चर्चाएँ की थीं तुमने
बैठ-बैठ संग
महामात्य कुतुरान के !
देखो न—
बाली में रहते ही
मिली है प्रतिष्ठा तुम्हें
भारत स्वदेश में !
सर्वोत्तम पुरस्कार
साहित्य-अकादमी
तब भी तुम स्मरण कर पाये नहीं
जननान्तर-सौहृद ?
जब-जब ये भाव उठे अन्तर में

चौंका हूं
बोल रहा कौन यह
अस्फुट स्वर कानों में ?
झूठ तो कभी यह हो सकता नहीं
क्योंकि
उसका तो होता अस्तित्व नहीं ।
प्रेत की भटकती आत्मा जैसा
झूठ भी निराश्रित है
नाम-रूप हीन है !
किसी विकृत-सत्य को
माध्यम बना कर ही
होता वह मूर्तिमान् ।
किन्तु सत्य ?
वह तो होता है प्रत्यक्ष, सुदृढ़
नाम-रूप मण्डित, दुर्धर्ष, गूढ़
साकार-निराकार
देश-काल-व्यक्ति के
विवर्तों में भी 'अशून्य'
शाश्वत, चिरन्तन ! !
कानों में उभरा है यदि उसका
वाचिक-अस्तित्व तो
निश्चय ही कभी वह रहा होगा
प्रत्यक् अस्तित्व में !

घूमता रहा हूँ मैं—
आंखों में प्यास लिये
प्रश्न भरे मन में
सागर के तट पर
सानुर में
याकि कुटा-बीच पर ।
कितने करोड़ कल्लोल उठे
उठ-उठ कर गिरे, सिन्धुवक्ष पर
कौन गिन सका है भला ?
कितना विचित्र है
काल का महाविवर्त !
ज़हाँ कभी घूमा था
महामात्य केबो इबो
पपीते की डाल में
पोटली नमक की बाँध—
और
जहाँ कभी नाव थी किनारे लगी
डंगह्यंग पा सुमेरु
बहुराउ, महाप्राज्ञ
पण्डित नीरार्थ की—
और जहाँ सारी रात
घूमता ही रहता है
भीमकाय नरपिशाच

सागर का महाप्रेत
जेरो ग्डे
संग लेयाकों के
आज वहीं अधनंगी लेटी पचासों हैं
युवतियां विदेशों की
खुले वक्ष, ऊरू-युगल
लज्जा का नाम नहीं
बिक चुकी प्रतिष्ठा है बाली की
हाथ नरपशुओं के।
सोचता हूँ बार-बार
कहां मर गए हैं
सागर-तट के भूत-प्रेत !
क्यों नहीं बनाते वे
माध्यम परिभोग का
इन वेश्याओं को
ताकि नग्न होने से पूर्व इन्हें
कुछ तो भय हो, कुछ संकोच हो !
इतनी सरलता से नारी क्यों
नग्न हो जाती है ?
पैसे के बदले
वह कैसे कर लेती है
सौदा शरीर का ?
नंगी हो, सरे आम
कैसे वह नाच लेती कैबरे
और फिर
नंगी ही पड़ी-पड़ी
कैसे ले लेती है 'सन-बॉथ' ?
होता विश्वास नहीं
वंशज है वह उस वैदेही की—
जो रही महीने छह
उस अशोक-कानन में
मात्र अँगूठा परन्तु
देख सकी रावण का ?
बाली !
नग्नता, निर्लज्जता की
इस कराल झञ्झा में
बचा किसी भाँति
मृगनयनी किशोरियों को—
अन्यथा
बड़ा जानलेवा है
आया विदेशों से
रोग यह छूत का
घर-घर को
चकला बना कर ही छोड़ेगा।
सचमुच हैं हिरनी जैसी ही
कोमल शरीर

मसृण अंग, श्रित अनंग
लज्जा-संकोच की तिरस्करिणी
में लिपटी—
बालाएँ बाली की ।
बोलने का जब भी करती प्रयास
जवा-कुसुम जैसे
हो जाते हैं अधर लाल
जैसे भिनसहरा
आरक्त हुई क्षितिजरेख प्राची की
फूटने से पहले
बालातप की प्रथम किरन !
पश्चिम से आये
इन पुंश्चल संस्कारों ने
शुरू कर दिया निगलना
इन किरनों को—
देखा है चण्डीदास, दवन, कुशाम्ब में !
नन्हें कुटीरों में
धनबुभुक्षु गृहपति ने
बैठा दिया है गृहसुषमा को
रूप-रस लोभी
कुछ लम्पट द्विरेफ ताकि
आयें वहां पीने कुछ पेय तरल
बंधे-बंधे सम्मोहन-पाश में !

आपातरम्य इस व्यवस्था में
कितनी सड़ान्ध है !
जैसे
हो कृमियों से भरा कोई आम्रफल ! !
जब-जब गया हूँ दूर गांवों में
सरीरित, शिवांग और शंकर अगुंग
देखा है बाली का
ठेठ परिवेश
कहीं कोई वैर नहीं, ईर्ष्या नहीं
द्वेष नहीं—
चारों ही वर्णों में बिना शर्त, प्रेम है
एक संग बैठ सभी
बंजार भवनों में
करते अभ्यास नृत्य-वाद्य का ।
नाचती किशोरियां उछाह भरी
बच्चों, युवकों वृद्धों के संग
कहीं कोई विकृति नहीं
पाप नहीं,प्यास नहीं ।
रहते हैं घर-घर किवाड़ खुले
रातों-दिन
कोई भय नहीं यहां स्वत्व-अपहार का
वाहन हैं खड़े कहीं शान्त बियावान में
कोई नहीं मतलब है इनसे

किसी और का !
किसी को स्मरण है नहीं
कब किस गांव में
हुई थी नृशंस कोई हत्या कि बलात्कार
मारपीट, राहजनी अथवा धोखाधड़ी !
तब-तब किया है मैंने
प्रत्यग्र अनुभव इस सत्य का—
सच्चे अर्थों में
बस, बाली है देवभूमि !
जो कुछ है गँवा दिया
भारत ने हाथों से—
विश्ववारा संस्कृति का
पावन-पवित्र रिक्थ
जतन से संहेज रखा है
उसको बाली ने !
जिसको दिदृक्षा हो
मौर्य-शुंग-गुप्तों से संरक्षित
भारत की—
आकर वह बाली में
अब भी उसे देख ले
भारत सुरक्षित है यहाँ
संक्षेप में ।
सुबह-शाम
धूपायित हो उठता नीलगगन !
पूजा का थाल लिये
घर-घर किशोरियाँ
चल पड़ती हैं जब समर्चन को—
दुराहे, तिराहे, चौराहे पर
देहरी पर, द्वार पर
घर के **पिमिराजन** में निर्मित
पलिंगह् पर,
पुष्प और अक्षत का
लग जाता अम्बार—
और महक उठता है वातास
अगरबत्तियों के सौरभ्य से !
पूजा-त्रिसन्ध्या ही जीवन है
हर बालीवासी का—
सब कुछ साधारण है
नियमित है, सम्मत है
और अनुकूल है
पुरातन परम्परा के !
जो कुछ है देखा सागर-तट पर
वह तो है किसी ग्रामवापी का
प्रान्तभाग
प्रतिपल जो लहरों से लहराए
विकृत मल-विकारों का

बनता है केन्द्रबिन्दु !
देखा है किन्तु जो भी
धंस धंस कर गांवों में
वह है वापी का मृदु अन्तराल
रहता है जहां बस
अगाध, स्वच्छ, धवल नीर !
यहीं कहीं
पास महामेरु के
सघन वेणुवन का प्रतिवेशी बन
बस जाने को अब भी मेरा
मन करता है !
ताकि पिण्ड छूट जाय
भारत के नरक से—
जहां हैं अकारण-वैरी दुरन्त
जिन्हें नहीं दोषों से
अपितु है गुणों से वैर !
जहां कोई किसी को सुखी विलोक
शोक-सन्तप्त हुआ रहता है
छल-प्रपञ्च, रागद्वेष, षड्यन्त्र
परपीड़न का ही जहाँ राज है ।
मूढ़ों को जहां विद्वत्ता का गर्व है
और खूसटों को है
ऐंठ चरित-शील की ।

कोई क्या जियेगा
ऐसे विकृत समाज में ?
जहां उसकी प्रतिभा ,विद्या
महान् सद्गुण की
सारी उष्मा ही रीत जाय
संग लड़ने में
जड़धी वैधेयों क्रे ?
या फिर उन मूढ़ों के संग उलझ
स्वयं भी विमूढ़ बन जाय व्यक्ति !
कोई विषकन्या ज्यों
प्रतिदिन हो संस्कृत विषदंश से—
और बन जाय जो समर्थ पूर्ण
प्राण ले लेने में
किसी भी मृदूदर का
मात्र एक चुम्बन से
या कि परिरम्भ से ! !
आधियाँ उठीं कितनीं
कितनी प्रलयझंझाएँ !
अभिशाप-भ्रष्ट
किसी कल्माषपाद-सा
लगा था निगलने जब आर्यधर्म
रक्तपात और खड्ग के बल पर
इस्लाम !

देता दुहाई स्नेह-प्रेम की
दम भरता विश्व-बन्धुत्व का
किन्तु उन्मादी बवण्डर-सा
करता वीरान बन-बागों को ।
देखते ही देखते—बदल गया मानचित्र
बृहत्तर पवित्र आर्यभूमि का ।
खण्डहर हो गई अमरावती श्रीमार की
पाण्डुरंग, विजय और इन्द्रपुरी !
चम्पा का मिट गया स्वरूप ही—
किंवदन्तियों में खो गए कहीं
शैलेन्द्र भूपति **कटाह** के !
बच गई प्रतिष्ठा भर कम्बुज की
अक्षत रह गया **अंकोरवाट**
धू-धू कर दग्ध हुआ
महानगर 'मजपहित'
बदल गई काया ही
उस सुवर्णद्वीप की !
सारा का सारा
प्रशान्त महासागर जब
धर्मविद्वेष के दवानल में दग्ध था
ओ बाली !
देवी अदृश्यन्ती-सी
तब भी तू गर्भ में

संजोए रही वंशदीप
ब्रह्म-ऋषि वसिष्ठ का—
भारत का आर्यधर्म ।
लोलुप आंखें नृशंस कल्माषपाद की
हार थकीं ढूंढ कर
और निगल पाई नहीं
वंशाङ्कुर
क्षमाशील, परन्तप वसिष्ठ का !
आज भी **पराशर** सा
हिन्दुधर्म
जीवित है बाली में ।
कब आये वेद यहां
वातरथारूढ हो ?
लिखे गये शत-सहस्त्र तुतुर-ग्रंथ
कब ताडपत्रों पर ?
रामायण और महाभारत कब
जन-जन के बने कण्ठहार यहां ?
मय दानव ने था कब राज किया
वेदशीर्ष नगरी में ?
और कब मचा था तुमुल-संगर
दानवेन्द्र मय का पुरुहूत संग ?
मारा था दुस्सह दम्भोलि से
मघवा ने कब उस मायावी को

बाटुर-गिरि की चौड़ी छाती पर ?
और कब—
निहत मय के
महा रुधिर-प्लावन से
बह निकली थी सवेग
निम्नगा पेतानू वह,
जिसकी जलराशि से
सींचते नहीं अब भी
धर्मभीरु बाली के कृषक-गण
अपने सावाह को !
इन जटिल प्रश्नों का समाधान कौन करे ?
कौन समझाए इन्हें
इन्द्र-मय केवल तुम्हारे नहीं
भारत के भी पुराण-पात्र हैं।
गंगा भी केवल तुम्हारी नहीं
प्रकटी जो कभी 'इन्द्रतीर्थ' में !
मघवा के कुलिशप्रहार से !
गंगा भारत में भी है
ब्रह्म द्रवभूता जो
धाता के कमण्डलु से
निस्यन्दित—
उतरी थी शम्भु-जटाजूट पर
और फिर,
कपाली के कण्ठ-कालकूट की
दुस्सह उष्मा का
शीतोपचार करती-सी
उतरी सहस्रधार
शुभ्र डिण्डीर-सी
तुहिनाचल-शीश पर !
वत्सला गऊ सी रँभाती
उछलती-सी, तदनन्तर
बछड़े भगीरथ के पीछे
थी चल पड़ी ! !
चकित हो गया हूँ मैं
जब-जब है दृष्टि पड़ी
पेजेंग कस्बे में
धनखर खेतों के बीच
खड़ी उस मड़ैया पर।
वही तो है तपःस्थली
पार्थ सव्यसाची की।
कहो वीर कुन्तीपुत्र !
भला कब आये तुम
चोरी-चोरी बाली में ?
ऐसा गूढ़-गोपन कि
दिव्य-दृष्टि तक भी द्वैपायन की
तुम्हें देख पाई नहीं ?
और वीर प्राभञ्जनि

पवनपुत्र हनूमान् !
देवी वैदेही का करते अन्वेषण
कब—
थक कर थे बैठ गये
व्यायत शिलातल पर
देख आया मैं जिसे
पूर्वी ढलान पर, बाली महामेरु के !
बाली तक आना
तुम्हारा हे महावीर !
हो न सका ज्ञात क्यों
रामकथा-सूत्रधार
आदिकवि वाल्मीकि को ?
सागर के गहरे अन्तस्तल में
कहीं किसी बिन्दु पर
निश्चय ही
जड़ें हुईं एक हैं
भारत की, बाली की !
दोनों प्ररोहों का एक रूप,
एक रंग, एक स्वाद, एक वृद्धि
अन्यथा असम्भव थी !
नदी-सा लगे है कालप्रवाह
दो तट, दो पृथक् जन्म—
जिसे जोड़ता प्रशस्त सेतुपथ
कहते जिसे मृत्यु हैं !
किन्तु मुझे लगता है
एक ही जनम में
हैं भोग लिये जीवन दो
मैंने जी भर कर—
एक उस भारत में
एक इस बाली में।
लौट रहा भारत अब
यायावर मन के संग !
तन तो आया है यहाँ एक बार
किन्तु मन जायेगा
नित्यप्रति सुबह-शाम
यहीं सांगलाह बाजार में
'सन्दत' को देखने !
भीड़ में खड़ा होकर
कभी कुम्भसारी में
आंसू से भींग-भींग
बाली को प्रत्यय करायेगा
घनीभूत पीड़ा का ! ![१]

१. यह कविता बाली से भारत को प्रस्थान करने से पूर्व २७ अप्रैल १९८९ की रात्रि में ९.३० बजे लिखी गई थी।

परिशिष्ट-१

'उदयन' की मंचप्रस्तुति : एक रिपोर्ट

इण्डोनेशिया राष्ट्र के सत्ताईसवें राज्य बाली (द्वीप) की राजधानी डेनपसार में ऐतिहासिक नाटक 'उदयन' की अनेक मञ्च प्रस्तुतियाँ विगत सितम्बर मास में सम्पन्न हुईं। २३, २४ एवं २५ सितम्बर की सन्ध्या में ये प्रस्तुतियाँ नगर के सुप्रसिद्ध क्षीरार्णव संस्कृति-केन्द्र (Ksirarnawa Jaman Budaya) में तथा ७ अक्टू-बर ८७ई० की रात्रि में उदयन विश्वविद्यालय (Universitas Udyana) के प्रेक्षागार में सम्पन्न हुईं। वि० वि० की मंचप्रस्तुति वि० वि० के रजत जयन्ती सप्ताह के उपलक्ष्य में आयोजित की गई थी।

ये प्रस्तुतियाँ नगर की सुप्रसिद्ध नाट्य संस्था 'केलाम्पोक स्टडी थियेटर' (Kelompok Studi Teater) द्वारा सम्पन्न की गईं। प्रेक्षागार यूनुड (Uni Udayana) में प्रत्यक्षीकृत इस मंचन का विवरण देने से पूर्व उदयन के विषय में कुछ कहना चाहूँगा।

उदयन नाम से प्रख्यात, धर्मोदयनदेववर्मन् दसवीं शती ई० में बाली द्वीप का स्वतंत्र एवं सार्वभौम लोकप्रिय नरेश था। उन दिनों सुमात्रा में श्री विजय, मलय प्रायद्वीप में शैलेन्द्र एवं जावा में मतरामवंशी हिन्दू-नरेश शासन कर रहे थे। इन सब में परस्पर घोर प्रतिद्वन्द्विता थी। जावा का प्रतापी सम्राट् शिण्डोक (९१९-४७ ई०) दिवंगत हो चुका था और अब उसकी पुत्री ईशानतुङ्गविजया अपने पति लोकपाल के साथ शासन कर रही थी—

तस्यात्मजाऽकलुषमानसवासरम्या
हंसी यथा सुगतपक्षसहाऽभवद्या।

सा राजहंससमुदेव विवर्धयन्ती
श्रीशानतुङ्गविजयेति रराज राज्ञी ॥

मन्दाकिनीमिव तदात्मसमः समृद्ध्या
क्षीरार्णवप्रथितशुद्धगुणान्तरात्मा ।

ताञ्चाकरोत्प्रणयिनीं नयानाभिनन्दी
श्रीलोकपालनृपतिर्नरनाथनागः ॥

मकुटवंशवर्धन इसी राजदम्पति का पुत्र था । पुत्रहीन इस सम्राट् की भी दो पुत्रियाँ ही थी । बड़ी का विवाह धर्मवंश से तथा कनिष्ठ पुत्री महेन्द्रदत्ता का विवाह बाली-नरेश उदयन से हुआ । पेनंगगुंगन पर्वत पर प्राप्त एरलंग की प्रशस्ति (जो अब कलकत्ता संग्रहालय में है) में उपर्युक्त वर्णनों के साथ ही साथ, महेन्द्रदत्ता को 'यवराजलक्ष्मी तथा गुणप्रियधर्मपत्नी' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है । उसकी रूप-गुण चर्चा समस्त द्वीपों में व्याप्त थी—

द्वीपान्तरेऽपि सुभगेन बभूव पित्रा

नाम्ना कृता खलु गुणप्रियंधर्मपत्नी !

बुद्धयुगीन भारतीय राजदम्पति 'उदयन-वासवदत्ता' के ही समान दसवा-शती ई० का यह बालीद्वीपीय युगल भी एक स्वर्णिम इतिहास, साहित्य एवं लोक-कथाओं का अक्षय-स्रोत है । सम्राज्ञी महेन्द्रदत्ता अपने जीवन काल में ही मिथकीय पात्र बन गई थी । रांगदा (Rangda) के रूप में वह प्रेताधीश्वरी देवी बन चुकी थी । आज भी रांगदा के सैकड़ों मन्दिर बाली द्वीप में विद्यमान हैं, जिनमें महेन्द्रदत्ता की पूजा की जाती है । वह अपनी अभिचार एवं तंत्र शक्ति के कारण एक अद्भुत व्यक्तित्व बन गई थी अपने जीवन काल में ही । शिलालेखों में उदयन महेन्द्रदत्ता के संयुक्त नाम ९८९ से १००१ ई० तक ही मिलते हैं । १००१ से १०२२ ई० के शिलालेखों में अकेले उदयन का ही नाम मिलता है इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राज्ञी महेन्द्रदत्ता अथवा मिथकीय रांगदा की मृत्यु १००१ ई० में हो गई ।

पेनंग गुंगन पर्वत के पश्चिमी भाग में स्थित 'गुनुंगवेकल' नामक शिखर पर सम्राट् उदयन का समाधिस्थल निर्मित है, जिसे 'जलतुण्ड' कहते हैं। वस्तुत: यह समाधिस्थल के साथ ही साथ स्नानागार भी है जो कि बुर्जियों से अलंकृत प्राकार से घिरा हुआ ५५x४४ फुट क्षेत्रफल का है। इसके मध्यवर्ती कुण्ड की दक्षिणी दीवार पर 'उदयन' तथा पश्चिमी दीवार पर ८९९ अंक उत्कीर्ण हैं। ८९९ अंक शकाब्द (= ९७७ ई०) का प्रतीक है जो इस भवन के निर्माण की तिथि है। इस कुण्ड के समक्ष ही जमीन में गड़ा पाषाण-निर्मित विशाल 'राजकीय शवपिटक' (Royal Coffin) भी मिला जो अष्टदल कमल पर स्थापित है तथा पूरे शवपिटक के साथ एक ही शिला से निर्मित है। इस पिटक के नौ प्रकोष्ठों में महाराज उदयन की अस्थियाँ, भस्म, अलंकरण तथा नाग-कच्छप-मंत्राक्षर से युक्त कुछ रजत- स्वर्ण के फलक रखे थे। यह शैलशवपिटक सम्प्रति जकार्ता-संग्रहालय में सुरक्षित है। निश्चय ही पिता की मृत्यु के बाद उसका यह समाधिस्थल सम्राट् एरलंग ने बनवाया होगा अन्यथा बाली नरेश की समाधि जावाद्वीप में क्यों निर्मित होती?

सम्राट् एरलंग, उदयन तथा महेन्द्रदत्ता का पुत्र था। चूँकि उसका विवाह अपनी मौसेरी बहन (जावानरेश धर्मवंश की कन्या) से हुआ, अत: जामाता के रूप में वह जावा के साम्राज्य का अधिकारी हुआ। बाली का राज्य तो उसे पैत्रिक उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त ही था। भारतीय पाण्ड्य, चोल नरपतियों के साथ भी एरलंग के अच्छे सम्बन्ध थे। वह मतराम राजवंश का सर्वाधिक शक्तिशाली सम्राट् था। सम्पूर्ण मलय द्वीपों पर एरलंग का प्रभुत्व था।

इस प्रकार उदयन, महेन्द्रदत्ता एवं एरलंग जावा-बाली की ऐतिहासिक परम्परा के तीन महान् हस्ताक्षर हैं। बाली में सम्राट् उदयन से सम्बद्ध शक संवत् ९१५, ९१६, ९२३, ९३३, ९७१ तथा ९४५ में लिखी गई प्रशस्तियाँ उपलब्ध हैं। गियान्यार तथा बांगली के दो मन्दिरों Pura Durga Kutri तथा Pura Gunung Penulisan में भी उदयन सम्बन्धी शिलापट्ट हैं। इसके अतिरिक्त ताड़पत्रों (Lontar) पर लिखा एक अत्यन्त प्राचीन काव्य भी उपलब्ध है—Lontar Kakawin Udayana जिसकी भाषा Old Balinese है।

इसके अतिरिक्त ब्रैण्डेस, कालेनफेल्स, कैस्पेरिस तथा स्टुटरहीम जैसे श्रेष्ठ डच इतिहासविदों ने भी बाली सम्बन्धी अपने ग्रन्थों में उदयन के सन्दर्भ में प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की है। डॉ० ऑर० गोरिस जैसे जावी विद्वान् ने भी उदयन-वृत्तान्त को पूर्ण विस्तार से निरूपित किया है।

बाली की परम्परा में उदयन को सदैव आदरपूर्वक 'प्रभु उदयन' ही कहा जाता है। सितम्बर १९६२ ई० में इसी महान् सम्राट् की स्मृति में इण्डोनेशिया के प्रथम राष्ट्रपति श्री सुकर्ण ने Universitas Udayana की स्थापना की। बाली प्रान्त का यह एकमात्र शासकीय विश्वविद्यालय है, जिसमें सम्प्रति तेरह हजार छात्र तथा प्रायः समस्त शिक्षा-संकाय हैं। नगर की अन्य दो यूनिवर्सिटियों 'महासरस्वती तथा महेन्द्रदत्ता' में से एक उदयन की राजमहिषी के ही नाम पर है। इसी प्रकार जावा में एरलंग विश्वविद्यालय भी स्थापित किया गया है। अपने पूर्व-पुरुषों के प्रति इण्डोनेशिया की जनता का यह आदरभाव अन्य राष्ट्रों के लिये एक अनुकरणीय आदर्श है।

प्रस्तुत नाटक 'उदयन' उसी ऐतिहासिक राजवृत्त पर आधारित है। परन्तु सम्पूर्ण इतिहास मिथकीय-रहस्यों में लिपटा हुआ है। क्योंकि बाली की जनता उदयन को एक सामान्य राजा की अपेक्षा 'प्रभुधर्म के रूप में तथा महेन्द्रदत्ता को 'प्रेताधीश्वरी रांगदा' (भारतीय महाकाली) के रूप में अधिक पहचानती है। अतः मिथकीय प्रभावों से रहित किसी भी 'उदयन वृत्त' को वह पसन्द नहीं कर सकती।

मञ्चप्रस्तुति का स्वरूप

प्रेक्षागार दर्शकों से खचाखच भरा हुआ था। प्रेक्षागार में मञ्च के बायें भाग में बाली की पारम्परिक वेष-भूषा में वादकवृन्द बैठे थे; जिनमें गांगवादक, वंशी एवं ढॉख बजाने वाले तथा अन्यान्य पारम्परिक वाद्यों के वादक विद्यमान थे।

घुटनों के बल पर बैठी हुई एक महिला का इन वादकों में विशेष महत्त्व था, क्योंकि वह बीच-बीच में 'लोन्तार उदयन' के सन्दर्भों का गायन करती थी, ठीक उसी प्रकार जैसे रामचरित मानस का पाठ रामलीला में किया जाता है।

केवल सूत्रधार एवं राजा-रानी का प्रवेश मञ्च पर भीतरी कक्ष से होता था शेष सभी पात्र (सेनापति, पुरोहित, प्रजाजन आदि) प्रेक्षागार के बाहर से प्रविष्ट होते थे, प्रथम पक्ष-द्वार से । इसप्रकार, पात्रों का उन्मुक्त अभिनय केवल मञ्च पर ही नहीं, मञ्च से संलग्न सोपानफलकों पर एवं फर्श पर भी हो रहा था । इस व्यवस्था से मञ्च-स्थित राजा एवं भूमितल-स्थित प्रजा का भेद भी स्पष्टत: समझ में आ रहा था ।

नाट्यारम्भ से पूर्व बाली के 'पेलेगोङ्गन' (Pelegongan=orchestra) का भव्य दृश्य उभरा । यह 'पूर्वरंग' था । प्रत्येक वादक सावधान हो गया । गांग वादक, वंशीवादक, झाँझ एवं घड़ियाल के कलाकार चैतन्य हो उठे और जैसे ही नेतृत्व करने वाले दोनों पाणविकों ने थाप लगाई वैसे ही वाद्यवृन्द की पारम्परिक मिश्रित ध्वनि से प्रेक्षागार झंकृत हो उठा । वादक समवेत रूप से एक गीत भी गा रहे थे, जो नाटक की नान्दी-जैसा था ।

प्राय: दस मिनट तक अनेक आरोहों-अवरोहों, नूतन प्रस्थानों तथा अनेक लय-मिश्रणों के बाद जब 'पेलेगोङ्गन' थोड़ा 'कर्ण-सह' हुआ तब 'डलंग' महिला ने भावभीनी लय में उदयन ककवीन से 'कथोद्घात' प्रारम्भ किया और उसी के साथ मंच पर प्रस्तुत हो गया एक सांकेतिक नृत्य जिसमें आद्यन्त केवल नर्तक के पैर ही दीख सके । यह सारा नृत्य पान के आकार की एक अलंकृत तिरस्करिणी के पीछे हुआ । इस तिरस्करिणी पर भी कुछ तांत्रिक मंत्र थे । परन्तु इसका सांकेतिक अभिप्राय मैं समझ नहीं सका । नर्तक इस फलक को स्वयं हाथों में थामे हुए था ।

नाटक का प्रारम्भ अत्यन्त प्रभावशाली था । सर्वप्रथम पृथ्वी मानवी के वेश में मंच पर आती है । प्राय: २५ फुट लम्बा एक श्वेत उत्तरीय नवजात शिशु के रूप में उसकी दोनों बाहों पर है । अराजकता-ग्रस्त बाली-द्वीप की जनता के लिये, पृथ्वी का उपहारभूत यह शिशु ही 'उदयन' है । सारी जनता आश्चर्य-मिश्रित, उत्कण्ठित आँखों से इस शिशु को देखती है । अनेक चारी-भंगियों के बाद पृथ्वी इस चादर का एक छोर एक व्यक्ति को पकड़ा कर क्रमश: ओरों को भी पकड़ाती हुई पूरे मंच पर वर्तुलाकार घूम जाती है । अब वृत्ताकार खड़ी जनता के समक्ष सफेद चादर है । उदयन के अवतरण एवं प्रजारक्षक होने की यह अद्भुत सांकेतिक प्रस्तुति थी ।

बाली की जनता 'पेण्डेटा' (pendeta) अर्थात् पण्डित से संत्रस्त है। वस्तुत: यह व्यक्ति अघोर-साधना करने वाला एक तांत्रिक कापालिक है और बाली की समस्त जनता को अपने प्रभाव में रखना चाहता है। उसकी उग्र वाणी एवं वेषभूषा का आतंक निरीह जनता को कम्पित कर देता है। उसके सहायक भी उसी की तरह क्रूर, मद्यप एवं दारुण हैं।

जनता महाराज उदयन तक पहुंचती है, नाना प्रकार के लोक-सुलभ उपायनों के साथ। किसी के सिर पर नारियल का टोकरा तो किसी के हाथ में मात्र दो मछलियाँ ! कोई हाथ में फूलों का दोना लिये है तो कोई अन्य अलंकरण। उदयन जनता की इस राजभक्ति से गद्गद हो उठता है। एक-एक के कन्धे पर स्नेहपूर्वक हाथ रख कर 'उपहार' के विषय में पूछता है। सारी जनता हर्ष-विह्वल है। और इन्हीं के साथ है वह 'गूँगा' व्यक्ति भी जिसका प्रभावी मूक अभिनय हृदय को छू लेता है। अन्य ग्रामवासी उसके मनोभावों की व्याख्या राजा को समझाते हैं।

जनता का यह व्यवहार राजसत्ता-विरोधी पेण्डेटा को उद्विग्न कर देता है। उसके अत्याचार और बढ़ जाते हैं। उसके सहायक गाँव की सुन्दर महिलाओं को उठा लेते हैं। हाथ-पाँव बँधे अपने पति के ही सम्मुख उन्हें नृत्य करने के लिये बाध्य करते हैं। अन्तत: कापालिक एक महिला के पति पर घोर तांत्रिक प्रयोग कर देता है, जिससे उसकी सारी देह फन-कुचले नाग की तरह ऐंठने लगती है। सारी जनता इस दृश्य से कातर हो उठती है। सब टूट जाते हैं और कापालिक के प्रभाव में रहना स्वीकार कर लेते हैं। कापालिक के आतंक से जनता व्यथित हो उठती है।

राजपण्डित कुतुरान एवं सेनापति ब्यूत को पेण्डेटा के सारे अत्याचार ज्ञात होते हैं, परन्तु कापालिक की तामसी साधना के समक्ष उनका सात्त्विक पौरुष कारगर नहीं सिद्ध होता। अनेक कथा-मोड़ों के अनन्तर दोनों पक्षों का सामना होता है। एक ओर राजा-रानी तथा राजगुरु-सेनापति हैं और दूसरी ओर कापालिक तथा उसके अनुयायी हैं। जनता भयवश, कापालिक के साथ है। दोनों पक्षों में विवाद छिड़ जाता है। कापालिक को यह विश्वास है कि रानी महेन्द्रदत्ता जो कि वस्तुत:

रांगदा (प्रेताधीश्वरी) भी है, उसी के साथ है और वह बाली के कुतुरान के 'शैव' सम्प्रदाय को स्थापित नहीं होने देगी और सचुमच सम्पूर्ण नाटक में रानी महेन्द्रदत्ता रहस्यात्मक मुद्रा में मौन रहती है। जबकि सम्राट् उदयन प्रजा की समस्या से प्रतिक्षण परेशान हैं। महेन्द्रदत्ता सदैव तांत्रिक मुद्रा में खड़ी रहती है, एक शब्द भी नहीं बोलती।

धीरोदात्त प्रकृति वाला प्रजावत्सल उदयन न तो सम्राज्ञी के 'रांगदात्व' से परिचित है और न ही महेन्द्रदत्ता तथा पेण्डेटा के रहस्यमय हृदय-सामञ्जस्य से। वह तो सम्राज्ञी को हृदयेश्वरी मान कर ही प्रेम करता है। नन्हा एरलंग पति-पत्नी के प्रेम को प्रगाढ़ता की पराकाष्ठा पर पहुँचा चुका है। पत्नी का यह रहस्यमय व्यक्तित्व उदयन को सर्वथा अज्ञात है।

कापालिक पेण्डेटा के साथ हुए वाग्युद्ध में महामात्य कुतुरान पराजित हो उठता है। परन्तु उसे सम्राज्ञी का मौन अखर जाता है। बाली को तंत्र एवं अभिचार की साधना-भूमि बनाने का सम्राज्ञी एवं पेण्डेटा का गुप्त षड्यन्त्र भी उसे खिन्न बना देता है।

अब प्रस्तुत होती है इस जय-पराजय की प्रतीकात्मक प्रस्तुति, जिसके लिये बाली द्वीप सम्पूर्ण विश्व में प्रख्यात है। प्रेक्षागार के दाहिने द्वार से दहाड़ता एवं कुलांचें मारता हुआ सिंह प्रवेश करता है। सिंह का यह मुखौटा बाली की कला का अद्‌भुत रूप है। इस सम्पूर्ण खाल को दो व्यक्ति सिर पर रखते हैं, एक पुट्ठे वाला भाग और दूसरा शीर्ष भाग। सिंह के दोनों जबड़ों को आगे वाला व्यक्ति उंगलियों से नाना मुद्राओं में खटखटाता है। यह सिंह बाली-नरेश उदयन के प्रभुत्व का अथवा राजगुरु कुतुरान के शैव-सम्प्रदाय का प्रतीक है।

बायें पक्षद्वार से प्रवेश करता है 'बारोंग' (Barong) अथवा नरराक्षस। बारोंग बाली की परम्परा में अर्ध-मानव है। इसका धड़ मनुष्य का, परन्तु सिर भयानक नाग का (Dragon) होता है। यह सिंह को भी मार डालने की क्षमता रखता है। 'बारोंग' छः सात व्यक्तियों द्वारा बनाई गई मीनार पर खड़ा है। वस्तुतः बारोंग कोई अन्य नहीं, कापालिक पेण्डेटा ही है।

दोनों प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे को देखकर दहाड़ते हैं । दहशत पैदा कर देने वाली इस दहाड़ से सारा प्रेक्षागार काँप उठता है । नन्हें बच्चे माताओं की गोद में दुबक जाते हैं । इस दहाड़ के साथ दोनों ही प्रतिद्वन्द्वियों की चहलकदमी भी देखते ही बनती है । सिंह का सिर धुनना, जबड़े कटकटाना, पंजों को निरन्तर धुनना, उठना-बैठना, उचकना-सब कुछ अद्भुत था । इस बैखरी रहित अमर्षाभिव्यक्ति के बाद ही घोर चीत्कार के साथ बारोंग जमीन पर कूद पड़ता है, और इसी के साथ दोनों बैरी गुँथ जाते हैं । प्राय: दस, पन्द्रह मिनट यह युद्ध लोक-शैली में चलता रहता है । सिंह अन्तत: करुण आर्तनाद के साथ धराशायी हो जाता है । शिवत्व, अभिचार से आहत हो उठता है ।

नाटक के अन्तिम दृश्य में पेण्डेटा के विजयोत्सव का दृश्य है । चारों ओर प्रेतात्माओं, रांगदाओं (चुड़ैलों) का बोल-बांला, मदिरापान का दौर तथा मिथुनों के स्वैराचार दीखते हैं । अत्यन्त विषण्ण मुद्रा में कुतुरान मंच पर आता है । वह आकाश में लक्षित करते, परमेश्वर को उलाहना देता है और बाली द्वीप के भविष्य के लिये विलाप करता हुआ, महाराज उदयन द्वारा प्रदत्त आभूषण आदि को वहीं पृथ्वी पर फेंक कर, विरक्त एवं नैराश्य भाव से प्रयाणोन्मुख होता है कि तभी सम्राज्ञी महेन्द्रदत्ता प्रवेश करती है ।

पूरे नाटक में केवल अब की बार वह बोलती है– प्रेतात्माओं को कड़ी आवाज में फटकारती हुई— पुलंग-पुलंग (Pulang= यानी भागो यहाँ से) इसके बाद वह अत्यन्त दुखी स्वर में चार-छ: वाक्य बोलती है तथा अपने हाथ से एक नया राजकीय उत्तरीय राजगुरु कुतुरान के कन्धों पर डाल देती है । यह राजगुरु के प्रति सम्राज्ञी महेन्द्रदत्ता की निष्ठा है । वस्तुत: उसे लगता है कि अपने स्वार्थ के लिये वह अपने उदार-हृदय पति को, सात्त्विक राजगुरु को बालीद्वीप की भोली-भाली जनता तथा एक पतिव्रता पत्नी के रूप में स्वयं को भी विनाश के गर्त में ले जा रही है। अत: उसका पराजित होना ही श्रेयस्कर है। सम्राज्ञी की इस आत्म-स्वीकृत पराजय से कापालिक की भी पराजय संकेतित हो उठती है । द्वीप खुशहाली से भर जाता है । तंत्र एवं अभिचार का वर्चस्व द्वीप में समाप्त हो जाता है तथा परमवैष्णव धर्मोदयनदेव वर्मा का सात्त्विक धर्म प्रतिष्ठापित हो जाता है ।

परिशिष्ट-२

बाली तथा जावा से सम्बद्ध अभिराज-वाङ्मय

(क) सम्पूर्ण ग्रन्थ	प्रकाशन
1. Sejarah Kesusastran Sanskerta (History of Sans Litesature in Bahasa Indonesia)	छाया बरू, डेनपसार (बाली) मई १९८८ ई०
२. रामायणककविन् (मूल कविभाषा-श्लोकों का देवनागरी रूपान्तर एवं हिंन्दी-अनुवाद)	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी १९९६ ई० (यूनिवर्सिटी सिल्वर जुबली ग्रंथमाला-२१)
३. यवद्वीपीय रामकथा (Ramayana in Indonesia)	राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली। रजतजयन्ती ग्रंथमाला-२३/१९९७ ई०
४. बालीद्वीपे भारतीया संस्कृतिः (शोधप्रबन्धः)	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-७ १९९८ ई०

(ख) शोधपरक आलेख (संस्कृत/हिन्दी/अंग्रेजी)

१. बालीद्वीपे भारतीया संस्कृतिः (वर्षद्वयं यावत्प्रकाशिता धारावाहिनी लेखमाला)	संस्कृतश्रीः (पाक्षिक पत्रिका) श्रीरंगम (अंक ११/३ से १२/२३ तक)

२. बालीद्वीपे भारतीया संस्कृतिः — प्राच्यविद्या वाराणसी (उ०प्र०) अगस्त १९८७ अंक।

३. बाली द्वीपे न्येपी-महोत्सवः (नवाब्दमहोत्सवः) — भारतोदयः, मार्च १९८८ अंक, ज्वालापुर, हरिद्वार।

४. भारतमूलकं प्राचीनजावी साहित्यम् (पद्यवाङ्मयम्-ककवीनम्) — स्वरमंगला, दिसम्बर १९८७ ई० वर्ष-१२, अंक ३,४ जयपुर।

५. भारतमूलकम् प्राचीनजावीसाहित्यम् (गद्यवाङ्मयम्-पर्वाणि) — स्वरमंगला, सितम्बर-दिसम्बर ९३ ई० जयपुर।

६. यवद्वीपीयं रामायणम् — पारिजातम्, दिसम्बर ८७ ई०, कानपुर।

७. जावा तथा बाली की कविता में छन्दोविधान — गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ पत्रिका, इलाहाबाद। अंक १९८६।

८. जावा तथा बाली की रामकथाः रामायण ककविन् — सम्मेलनपत्रिका, प्रयाग, अंक ७३/१-२.

९. महाकवि योगीश्वर-प्रणीत रामायणककविन् (परिचय एवं प्रथम-सर्ग का हिन्दी रूपान्तर) — सम्मेलनपत्रिका, प्रयाग, अंक ७८/४ १९९३ ई०

१०. बाली एवं जावा की कविता पर कालिदास का प्रभाव — कालिदास अकादमी शोधपत्रिका, उज्जैन (म० प्र०) १९९७ ई०

११. बालीद्वीप की रंगमञ्चीय परम्पराः अतीत एवं वर्वमान। — नाट्यम् (सागर यूनिवर्सिटी) नवम्बर १९८७ ई०

१२. भारतीय विदूषक, यवद्वीपीय पनकवन् तथा बालीद्वीपीय परेकान् : एक तुलनात्मक समीक्षा	नाट्यम् (सागर यूनिवर्सिटी) मई १९८८ ई०
१३. जावा तथा बाली के रंगमञ्च की प्राणप्रतिष्ठा : डलङ्ग	नाट्यम् (सागर यूनिवर्सिटी) मई १९८८ ई०
१४. जावा तथा बाली के लोकनृत्य	नाट्यम् (सागर यूनिवर्सिटी) मई १९८९ ई०
१५. बालीद्वीप में ओङ्कारसाधना	संस्कृत सङ्गीत वैजयन्ती (अभिनन्दन ग्रंथ) ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-७ । १९९२ ई०
१६. भारत, जावा तथा बालीद्वीप की पुराकथाओं में सुमेरु ।	हिन्दुस्तानी अकादमी (त्रैमा०) इलाहाबाद
१७. A note on South-east Asian Studies in current times.	Presidential Address at AIOC 35th. Haridwar Poetry and Poetics. Akshayavat Prakashan, 26 Balarampur House, Allahabad. 1998.
१८. The Ramayana Tradition in Indonesia	Poetry and Poetics (Dr. Rajendra Mishra) Akshayavat Prakashan, Allahabad. 1998.
१९. Hindu Culture in Indonesia	Encyclopedia of Hinduism (Entry)

२०. Hinduism in Bali	Encyclopedia of Hinduism (Entry)
२१. Kakawin	Encyclopedia of Hinduism (Entry)
२२. The island of Bali	Encyclopedia of Hinduism (Entry)
२३. Sanskṛta in Indonesia	World Sans Conference Souvenir. Raṣṭriya sans Sansthan, New Delhi January 1997.
२४. Ramayana Tradition after Valmiki in India aṇd Abvoad.	Project of History of Indian Sceince, philosophy & Culture. Editor: Prof. G.C. Pande (Allahabad) 1997.

(ग) सांस्कृतिक आलेख

१. वह चाहता तो राजसत्ता हथिया सकता था !	कादम्बिनी, नई दिल्ली, जनवरी, १९८८ ई० ।
२. बालीद्वीप का महामेरु : गुनुङ्ग अगुङ्ग	कादम्बिनी, नई दिल्ली, अप्रैल, १९८८ ई० ।
३. जहाँ पाप-पुण्य का निर्णय होता है ।	कादम्बिनी, नई दिल्ली, नवम्बर, १९८८ ई० ।
४. देवराज इन्द्र बालीद्वीप में ।	कादम्बिनी, नई दिल्ली, अप्रैल, १९८९ ई० ।

५. बालीद्वीप का धर्माचार्य : महापण्डित नीरार्थ !	कादम्बिनी, नई दिल्ली, जून १९८९ ई० ।
६. एक और महाकुम्भ : पूजा पञ्चबलिकर्म !	कादम्बिनी, नई दिल्ली, १९८९ ई० ।
७. अर्धनारीश्वर की विहारभूमि !	आज (दैनिक) वाराणसी, ३ जुलाई ८८ अंक ।
८. संसार का एक और आश्चर्य : चण्डी बोरोबुदुर !	आज (दैनिक) वाराणसी, २५ जून ८९ अंक ।
९. आस्था से जुड़े हिन्दू-संस्कार	धर्मयुग, १०-१६ जुलाई ८८ अंक, बम्बई ।
१०. राममय सुवर्ण द्वीप	धर्मयुग, विजयदशमी ८८ अंक, बम्बई ।
११. बालीद्वीप से आया एक पत्र	समय (साप्ता०) सेवाप्रेस, जौनपुर, १५ अगस्त ८७ ई० ।
१२. प्राचीन भारतीय संस्कृति का जीवन्त प्रतीक-बालीद्वीप	भोजपुरीलोक, फरवरी १९९२ ई०, लखनऊ (उ० प्र०)
१३. सुवर्णद्वीप (जावा तथा बाली) में भारतीय-संस्कृति	अभिव्यक्ति (मासिक पत्रिका) अलीगढ़ (उ० प्र०) १९९० ई०
१४. यवद्वीप की रामकथा में प्रयाग-वर्णन	रामलीला-स्मारिका (पथरचट्टी) इलाहाबाद, १९९४ ई०
१५. बाली के प्रेतपूजक बालियान	कादम्बिनी, नई दिल्ली, मई, १९९६ ई०
१६. यवद्वीपीय रामकथा में हनूमान्	झाँसी महोत्सव-स्मारिका, झाँसी (उ० प्र०) १९९७ ई० ।

१७. उदयन की प्रस्तुति: एक आख्या	नाट्यम् (सागर यूनिवर्सिटी) नवम्बर १९८७ ई०

(घ) **स्फुटकाव्य/ खण्डकाव्य**

१. विमानयात्राशतकम्	अर्वाचीनसंस्कृतम्, जुलाई ८७ ई०
२. बालीप्रत्यभिज्ञानशतकम्	अर्वाचीनसंस्कृतम्, अप्रैल ८९ ई०
३. यवसाहित्यशतकम्	अर्वाचीनसंस्कृतम्, अक्टूबर ८८ ई०
४. बालीविलासम् (शतककाव्य)	दूर्वा (त्रै०) भोपाल, नवम्बर ८८ ई०
५. मृगाङ्कदूतम् (शतककाव्य)	पारिजातम्, सितम्बर ८७ ई०, कानपुर
६. सिंहसारि: (कथा)	दूर्वा (त्रै०) भोपाल, मई ८८ ई०
७. राङ्गडा (कथा)	दूर्वा (त्रै०) भोपाल, नवम्बर ८८ ई०
८. बाल्यां निखिलं भारतायते !	संस्कृतश्री:, जुलाई ८७ ई०, श्रीरंगम
९. बालीविच्छित्ति:	आधुनिकसंस्कृतकाव्यसंग्रह: (B.A.III) लखनऊ वि० वि० लखनऊ।
१०. घर और पाही (हिन्दी कविता)	संगम (काव्यसंग्रह) में संकलित। सम्पादक-डॉ० सुमित्रा वरुण १९८९ ई० इलाहाबाद
११. विदा बाली ! (हिन्दी कविता)	तटस्था (काव्यसंग्रह) मुद्रणाधीन वैजयन्त प्रकाशन इलाहाबाद:-६

परिशिष्ट-३

बालीद्वीपीय विशिष्ट शब्दावली

अतिन्तिय—अतीन्द्रिय अथवा अचिन्त्य। बाली द्वीपाधीश्वर भगवान् शिवका नाम।

अदश अक्षर—नवार्णविधान। आठ दिशाओं तथा केन्द्र में विद्यमान दिक्पालों के सूचक मंत्राक्षर (इंगयंग्-हैंग् वंग्-संग् मैंग्-बंग्-मंग्-यंम्-सिंग्)

अन्तबोग—एक विशिष्ट देवता। अनन्तभोग, भारतीय शेषनाग।

अमरावती—बालीद्वीप में पकेरिसान (गंगा) तथा पेतानू नदियों की अन्तर्वेदी। पवित्र सिद्धिक्षेत्र के रूप में मान्य।

अलंग-अलंग—कुश। पूजोपचार में प्रयुक्त एक तृणविशेष।

आगमतीर्त—आर्यधर्म, हिन्दूधर्म। सर्वत्र जलप्रयोग होने के कारण बाली वासी अपने धर्म को आगम (धर्म) तीर्त (= तीर्थ = जल) कहते हैं।

आनक लाकी—लड़का।

आनक पेरेम्पुआन—लड़की।

आश्रमपुत्रा—Boy's Hostel (आश्रमपुत्री=Girl's Hostel)

इबु—माता (इबु पर्तिवी- पृथ्वी माता)

ईशानतुंगविजया—जावानरेश शिण्डोक (९२९-४७ ई०) की कन्या जिसका पुत्र था मुकुटवंशवर्धन।

इसोर—ईश्वर, शिव का नामविशेष।

ईदा गुस्ती न्गुराह—बालीद्वीपीय क्षत्रियों का उपनाम ।

ईदा बागुस—बाली के ब्राह्मणों का उपनाम । शैव ब्राह्मण ।

ईदा वायान—बौद्ध ब्राह्मणों का उपनाम ।

उत्तुगबेंकुर—एक भयावह महावानर । तन्त्रसाधना में उद्धृत ।

उदयनदेव—बालीद्वीप का सर्वाधिक लोकप्रिय शासक धर्मोदयनदेववर्मा (९८६-१०२२ ई०) जावानरेश की कन्या महेन्द्रदत्ता का पति । इन्हीं दोनों का पुत्र था सम्राट् एरलंग (१०१०-४९ ई०) । उदयन के ही नाम पर बाली की राजधानी डेनपसार में Universitas Udayana की स्थापना हुई है ।

उपकार—पुरश्चरण या पूजाकार्य ।

उबुद—बालीद्वीप का एक उपनगर जो अपनी काष्ठकलाकृतियों के लिये प्रख्यात है ।

एरलंग—जावा तथा बाली का चक्रवर्ती सम्राट् (१०१० - ४९ ई०) नीरलंघनृपति: (सं०)

ओङ्कारमदुमुक—ओंकारमधुमुख । सम्मुखस्थिति में दो ओंकारों को जोड़ कर बनाई गई ताबीज जिसका प्रयोग वशीकरण में होता है ।

ओङ्कार पसह—विमुख स्थिति में जुड़े दो ओंकारो की ताबीज जिसका प्रयोग विद्वेषण तथा मारण आदि में होता है ।

ओगोह—प्रेतप्रतिमा । बाली में नववर्ष (न्येपी) की पूर्वसंध्या में ओगोह निकालने की परम्परा है । यह रीति उत्तर भारत के दरिद्र-खदेड़ से मेल खाती है ।

ओडालान—मन्दिरमहोत्सव । बाली के प्रत्येक मन्दिर का वर्ष में दो ओडालान होता है— अर्धवार्षिक तथा वार्षिक ।

ओटोनान—एक संस्कार विशेष । जन्मदिन या वर्षगाँठ ।

ककविन—काव्य (क + कवि + इन) जावा की कविभाषा (स्थानीय जावी तथा संस्कृत का मिश्रित रूप) में उच्चकोटि के काव्य लिखे गये हैं, जिन्हें ककविन या ककवीन कहते हैं। इनमें प्राचीनतम है योगीश्वर-प्रणीत रामायणककविन (नवीं शती ई०)

कचामतान—जिला (District)

कजा—उत्तर (North) दिशा।

कजाकंगिन—ईशानकोण, पूर्वोत्तर दिशा। कजाकौह-वायुकोण। उत्तर-पश्चिम।

कडलंगान—डलंगों (सूत्रधारों) की विद्या। नाट्यशास्त्र-पारंगतता।

कडाटोन—बालीद्वीप में स्थित एक वानर-अभयारण्य (Monkey Forest)

कडिरी—पूर्वी जावा का एक नगर जिसे दह अथवा दहन भी कहा गया है। यह १०५० से १२२२ ई० तक यवसाम्राज्य की राजधानी रहा।

कपाल बंजार—बंज़ार (ग्रामसभा) का मुखिया, जो सरकारी मामले देखता है।

कपाल आदत—ग्रामसभापति जो 'आदत्' अर्थात् धार्मिक परम्पराओं (Traditions) की देख-रेख करता है।

कबूपतान—कमिश्नरी (Regency) क + भूपत + आन = कबूपतान।

कमिमितान—गृहप्राङ्गण में स्थित लघु देवमन्दिर। इसे संग्गाह भी कहते हैं।

कमुलान—प्रकोष्ठ-विशेष, जिसमें त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) स्थापित होते हैं।

कङ्गिन—पूर्वदिशा (East)

कंजुर — एक वाद्य-विशेष। काठ के पीढ़े पर जड़ी काँसे की घण्टियाँ।

करंगसम—बालीद्वीप की एक कमिश्नरी जो धुर पूर्व में है।

कवि—जावा तथा बाली की साहित्यभाषा जिसमें नवीं से पन्द्रहवीं शती ई० तक अपार उच्चकोटिक वाङ्मय लिखा गया।

कवितान—पितर । इन्हें संघयांग कवितान भी कहा जाता है । बालीवासी इन्हें देव तथा मानवसृष्टि के बीच माध्यम मानते हैं तथा इन्हें पृथक् मन्दिर (पुरा दद्या) में स्थापित करते हैं ।

कवेर—एक देवविशेष । भारतीय धनपति कुबेर ।

कार्ण्व—म्पू काण्व, एक महाकवि जिसने सम्राट् एरलंग के संरक्षण में सन् १०३५ ई० में 'अर्जुनविवाह' ककवीन का प्रणयन किया ।

काण्ड—पद्यसाहित्य (Poetry) जावा तथा बाली में 'काण्ड तथा पर्व' शब्द क्रमशः पद्य तथा गद्य के पर्याय हैं । चूँकि काण्ड (रामायण) पद्य में लिखा गया और पर्वों (महाभारत) का अनुवाद गद्य में हुआ, फलतः जावा में यह धारणा पल्लवित हो गई ।

कामेश्वर—कडिरी-नरेश कामेश्वर प्रथम (११०६-३५ ई०) जिसे काम का अवतार माना गया । वह यवद्वीपीय पाञ्जी (प्रेमाख्यान) कथाओं का नायक भी है । उसकी पत्नी श्रीकिरण रति का अवतार मानी गई है ।

कासिहान्—कासीह (क्रिया) का अर्थ है-कृपा अथवा दया । कासिहान् = कृपा करके, दया करके । (कासिहान पा 'अर्थात् स्वामी' कृपा करिये ।)

किन्तामनि—मूलतः चिन्तामणि । बाटुरपर्वत की तलहटी में स्थित एक विशाल झील ।

किर्तगोसा—ग्यान्यार कस्बे में स्थित एक प्राचीन न्यायालय (कृतघोषः)

कृतनगर—सिंहसारि-वंश का महाप्रतापी सम्राट् (१२५४-९२ ई०) जिसने 'शिव-बुद्ध' सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया । वह बौद्ध सुभूतितंत्र का वेत्ता भी था ।

कुटाबीच—बाली की राजधानी डेनपसार के पश्चिम में स्थित सागर-तट ।

कुलुक्कुलुक्—कोकिल ।

कुतरी—बाली की राजधानी डेनपसार से प्रायः ३५ कि० मी० पूर्व में स्थित एक कस्बा जहाँ महिषासुरमर्दिनी का मन्दिर है । जनश्रुति के अनुसार यह

उदयन की पत्नी रानी महेन्द्रदत्ता की चिताभूमि है। इसे रांगडा-मन्दिर भी कहते हैं।

कुतुरान—कुतुरान तथा ब्राहड (भराड) जावानरेश मकुटवंशवर्धन के पुरोहित थे वर्धन की कनिष्ठ पुत्री, महेन्द्रदत्ता का विवाह बाली नरेश उदयन के साथ होने पर कुतुरान राजादेश से बाली आया तथा उदयन का महामात्य बना। वह परमवैष्णव था।

कुनिङ्गन—गलुङ्गन पर्व का अन्तिम दिन। इस दिन बालीवासी हिन्दू पारम्परिक वेषभूषा में परस्पर मिलते हैं।

कुलकुल—गाँव के बंजार में एक मञ्च पर टाँगा गया एक पोला काष्ठखण्ड जिसे आहत करते ही मीठी ध्वनि फूटती है। ग्रामवासियों को सभाभवन में एकत्र करने के लिये 'कुलकुल' बजाया जाता है।

केण्डाङ्ग—नगाड़ा।

केन्द्रान्—बैदौलु के पूर्व में स्थित एक गाँव जहाँ इन्द्र तथा मयदानव के बीच प्रथम युद्ध हुआ था। विवरण उशना बाली में उपलब्ध है।

केपुसपुम्सेद—नाभिच्छेद संस्कार। नवजात शिशु की नाल काटना।

कौह—पश्चिम दिशा (West)

क्लॉड—दक्षिण दिशा (South)

क्लाड कौह—नैऋत्यकोण, दक्षिण-पश्चिम दिशा।

क्लाड कंगिन—अग्निकोण। दक्षिण-पूर्व दिशा।

क्लुङ्गकुङ्ग—बालीनरेश देव अगुंग की राजधानी। बाली के अन्य सामन्त क्लुंग-कुंग के ही अधीन थे।

गण्डिवा—धनुष। भारत में 'गाण्डीव' अर्जुन के धनुष का नाम है। परन्तु बाली-जावा में यह सामान्य धनुष का अर्थ देता है।

गना—गणेश, गणपति । एक देवविशेष ।

गलुंगान—अधर्म पर धर्म की विजय के उपलक्ष्य में मनाया जाने वाला एक दस दिवसीय महोत्सव जिसका अन्तिम दिन कुनिङ्गान कहा जाता है । यह भारतीय 'विजयदशमी' जैसा प्रतीत होता है ।

गाङ्ग—वाद्यविशेष । भारतीय जलतरंग जैसी ध्वनि उत्पन्न करने वाला एक वाद्य जिसमें लोहे की शलाका से काँसे की घण्टियाँ बजाई जाती हैं ।

गुनुंग-अगुंग—गुनुंग = पर्वत । अगुंग = विशाल । बाली द्वीप का विशालतम पर्वत (ऊंचाई १०५६० फुट) जिसे 'महामेरु अथवा सुमेरु' भी कहते हैं । इस पर्वत पर प्राय: सात कि० मी० के क्षेत्रफल में पचीस मन्दिर हैं । सर्व-प्रमुख मन्दिर है - पुरा वैसाकीह (Mother Temple)

गुनुंग कवि—मध्यबाली में पकेरिसान नदी के तट पर स्थित लघुपर्वत जहाँ महाराज उदयन के वंशजों की समाधियां हैं ।

गुनुंग बटुकारू—मध्य बाली के पश्चिमी भाग में स्थित एक पर्वत-शृंखला ।

गुनुंग बाटुर—गुनुंग अगुंग (पूर्व) तथा बटुकारु के बीच में स्थित पर्वतमाला जिसकी पीठ पर स्थित है अत्यन्त प्राचीन मन्दिर-पुरा पनुलिसान । इसी मन्दिर में लक्ष्मी-विष्णु, शिव-पार्वती तथा अन्य देवों की मूर्तियाँ हैं । महाराज उदयन की भी एक मूर्ति इसी मन्दिर में सुरक्षित है । पेतानू नदी का उद्गम-स्थल ।

गुरु बेसार—आचार्य (Professor)

गेडुंग कृत्य—सिंगराजा नगर में स्थित पाण्डुलिपि (लोन्तार) संग्रहालय ।

गेनि—अग्नि । एक देवविशेष ।

गेल्गेल—बाली द्वीप के पूर्वी भाग में स्थित एक अत्यन्त प्राचीन नगर जो बाली- नरेश (देव अगुंग) का निवासस्थान रहा । सम्प्रति यह नगर कैन्वासपेण्टिंग तथा बाटिक के लिये प्रख्यात है ।

ङ्गाबेन—दाहसंस्कार ।

ङ्गेरोरासिन—मृतक का एकादशाह संस्कार ।

ग्यान्यार—बालीद्वीप के पूर्वी भाग में स्थित एक जनपद-विशेष ।

चण्डी—मन्दिर (Temple) जावा में मन्दिर को चण्डी कहते हैं ।

चण्डी कलसन—सम्राट् पनंगकरण द्वारा ७७८ ई० में निर्मापित मन्दिर जिसमें बौद्ध तारा देवी स्थापित हैं ।

चण्डी किडल—मलंग नगर से दक्षिणपूर्व में स्थित शिवमन्दिर । राजा अनूषपति का समाधिस्थल ।

चण्डी पन्तरण—सम्राट् राजसनगर (१३५०-८९ ई०) द्वारा निर्मित पूर्वी जावा का शिवमन्दिर । इसे 'पलह' भी कहा जाता है । इसकी दीवारों पर कृष्णायन काव्य उत्कीर्ण है ।

चण्डी बोरोबुडुर—मध्यजावा का नव भूमिक बौद्धस्तूप । इसके शिखर पर ७२ लघुस्तूप हैं ।

चण्डी लोरोजोग्गरंग—प्राम्बनान का त्रिदेव मन्दिर । इस परिधि में कभी १५० लघु मन्दिर थे । शिवमन्दिर की दीवारों पर ४२ फलकों में रामकथा उत्कीर्ण है ।

चण्डी सिंगसारी—सम्राट् कृतनगर (१२५४-९२ई०) का समाधि-मन्दिर । इसमें सम्राट् अमोघपाश अवलोकितेश्वर के रूप में स्थापित है । सम्प्रति इस मन्दिर में मात्र भटार गुरु की एक खण्डित मूर्ति है ।

चतुर्काय—चतुष्काय (संस्कृत) बाली के पीजिंग कस्बे में १३वीं शती की एक प्रतिमा ।

चम्पुआन—दो नदियों का संगम । संस्कृत की चम्प् धातु मिश्रण के अर्थ में प्रयुक्त होती है । चम्पूकाव्य में भी गद्य एवं पद्य का मिश्रण होता है ।

जपांग—बालीद्वीप में उपलब्ध एक फल-विशेष ।

जम्बू—एक फल । भारतीय जामुन से भिन्न ।

जयभय—कडिरीनरेश (१२ वीं शती) भारतयुद्धककवीन-प्रणेता सेडाह का संरक्षक ।

जयवर्ष दिग्जय—कडिरीनरेश (१२वीं शती) जिसके संरक्षण में त्रिगुण ने कृष्णायन तथा मोणगुण ने सुमनसान्तक ककविन की रचना की ।

जर्वा—आर्जव (संस्कृत) सल्तनत कालीन जावा के साहित्यकार (१७-१८वीं शती ई०) अपनी अधःस्तरीय कविभाषा को जर्वा (Sloping Kawi) कहते थे ।

जलोनरंग—बाली द्वीप की एक तंत्राभिचारिक नाट्य प्रस्तुति जिसमें रांगडा (रानी महेन्द्रदत्ता) तथा महातांत्रिक भराड़ का संघर्ष दिखाया जाता है ।

जांलान—मार्ग (Road)

जुरुसान—विभाग (Department)

जेम्ब्राना—बालीद्वीप की एक कमिश्नरी जिसकी राजधानी है— नगर ।

जेरोग्डे—सागर-तट पर रहने वाला एक भयावह राक्षस ।

जेरोसपुह—भंगी (Sweeper) बाली द्वीप के शैवपुरोहित द्रोहवश वैष्णव-पुरोहितों को सुंगुहु, पुजंग तथा जेरो सपुह कहते हैं ।

जोकोर्दे—बाली के उन क्षत्रियों का उपनाम जो स्वयं को राजवंश से सम्बद्ध मानते हैं ।

टुन्यान—बाली द्वीप के बाँगली जनपद का एक गाँव जहाँ 'बाली-अगा' (Tribals) रहते हैं । यह गाँव अपने विलक्षण श्मसान के लिये प्रख्यात है । इस श्मसान में तरु मन्यान नामक एक वृक्ष है जिसके प्रभाव से श्मसान में रखे शव सड़ते नहीं, यहाँ दाह-संस्कार नहीं होता ।

टोके—भारतीय विषखोपरे की आकृति का एक जीव जो 'टोकेऽऽटोक्केऽऽ' ध्वनि में बोलता है। बालीवासी टोके का घर में रहना परम शुभ मानते हैं।

डंगह्यंग—बाली के धर्माचार्य महापण्डित नीरार्थ (१६वीं शती ई०) की एक पदवी।

डलंग—जावा तथा बाली के वायांग (पुत्तलिका नाट्य) का सूत्रधार। यह पुतलियों (वायांग) के संचालन के साथ ही साथ उनके संवाद भी बोलता है। यह परम साधक तथा महापण्डित के रूप में मान्य है।

डागंग सुचि—पवित्र मांस। बालीद्वीप के सभी निवासी मांसाहारी हैं। प्राय: सभी सूकरभक्षी हैं। केवल पैडण्डा ही 'पवित्रमांस' (बत्तख का मांस) खाता है।

डिएंग—मध्यजावा का एक तीर्थक्षेत्र जहाँ अनेक पवित्र मन्दिर हैं। इनकी संख्या आठ है।

डेनपसार—बालीद्वीप की राजधानी जो राज्य के बादुंग जनपद में स्थित है। यह नगर पूर्व (सानुर बीच) पश्चिम (कुटा बीच) तथा दक्षिण (नूसादुआ बीच) में समुद्र से घिरी है। इसी नगर में 'उदयन विश्वविद्यालय' है।

डोसेन—डीन, अधिष्ठाता।

तक्षु—घर के पश्चिमोत्तर कोण में निर्मित एक पूजागृह। तक्षु नामक देवता को बालीवासी गृहरक्षक (द्वारपाल) मानते हैं।

तनकुंग—सिंहसारि साम्राज्य -संस्थापक राजस (१२२२-२७ ई०) का राजकवि जिसने चक्रवाकदूत-पतिव्रत एवं लुब्धक ककवीन की रचना की।

तन्तुलर—सम्राट् हयमवुरुक (१३५०-८९ ई०) का संरक्षित कवि जिसने अर्जुन-विजय तथा सुतसोमककविन का प्रणयन किया।

तनाह—मिट्टी।

तबानान—बाली का पश्चिमी जनपद। यह एक शहर भी है।

तमनआयून—तमन = उपवन । आयून = आनन्द । आनन्दवन । मेंग्वी रियासत के राजाओं का उद्यान ! अब एक मन्दिर के रूप में परिवर्तित ।

तारी—तारियान - नृत्य-समूह ।

तावुर केसंग—बालीद्वीप की वार्षिक पूजा जो न्येपी (नवाब्द) की पूर्वसंध्या में सम्पन्न होती है ।

ताहुन बरु—नव वर्ष (ताहुन = वर्ष, बरु = नया)

तिमूर—पूर्वदिशा । बाली के पूर्व में स्थित एक द्वीपविशेष ।

तिम्बुल—एक वृक्षविशेष । इसके फल कटहल के समान किन्तु आकार में खरबूजे जैसे होते हैं ।

त्रिगुण—जयवर्ष दिग्जय का राजकवि जिसने कृष्णायन-ककविन लिखा ।

तिलिम—अमावस्या तिथि ।

तीर्तपेन्लुकितान—मंत्रोच्चारण से पवित्रित जल जो प्राय: सभी महनीय संस्कारों में प्रयुक्त होता है ।

तीर्त एम्पुल—इन्द्रतीर्थ । एक भव्य मन्दिर जिसके प्रांगण में स्थित सरोवर से फूटती है बाली द्वीप की गंगा (पकेरिसान)

तेंगंनान—बाली के आदिवासी हिन्दुओं का एक गाँव । ये इन्द्रोपासक हैं तथा समूचे द्वीप से अलग-थलग रहते हैं । द्वीपवासियों को ये 'मजपहित हिन्दू' कहते हैं ।

तेंगंहान—मध्य अथवा आधा । सल्तनतकालीन संस्कृतछन्दों का नाम, जिसमें लिखा गया साहित्य किडुंग कहा जाता है ।

तेतुलक—ताबीज (Amulet)

तुतुर—तत्त्वशास्त्र, विभिन्न शास्त्रों से सम्बद्ध ग्रंथ ।

तोया अमिर्ता—बाली के धर्माचार्यों द्वारा तैयार किया गया मंत्राभिषिक्त जल। साक्षात् अमृत।

तोया पंगेंतास—वेदमंत्रोच्चारण सहित निर्मित पीताक्षत, चन्दनचूर्ण वासित, सुवर्ण पत्रांकित मंत्रलेख से युक्त पवित्र जल।

त्वालेन—बालीद्वीपीय वायांग में देनवपक्षीय परेकान् (विदूषक)

दक्षोत्तम—मतरामवंशी एक नरेश

देदारी—विद्याधरी (संस्कृत) अप्सरा।

देव अगुंग—मजपहित-साम्राज्य का शासक जो १४७८ ई० में मुस्लिम आक्रमण से भयभीत होकर बाली द्वीप में भाग आया और गेल्गेल नगर में देव अगुंग के नाम से स्वयं को बाली का शासक घोषित कर दिया।

देसा—गाँव (Village)

धर्मज—कामेश्वर प्रथम (११०६-३५ ई०) का राजकवि जिसने 'स्मरदहन ककविन्' की रचना की। यह कृति कालिदासप्रणीत कुमारसंभवम् का अनुहरण करती है।

धर्मवंश—प्रख्यात जावा-नरेश जिसकी कन्या का विवाह बालीनरेश उदयन के पुत्र एरलंग से हुआ था। धर्मवंश ने महाभारत के नौ पर्वों का गद्यानुवाद कराया।

नगारा—राष्ट्र या देश।

नवसंघ—ब्रह्माण्ड के केन्द्र तथा आठों दिशाओं में रहने वाले देवों का संघ। ये देवता हैं- शिव (केन्द्र), विष्णु (उत्तर) , शम्भु (ईशान), ईश्वर (प्राची) महेश्वर (अग्नि) ब्रह्मा (दक्षिण) रुद्र (नैऋत्य), महादेव (पश्चिम) ,शंकर (वायव्य)

नीरार्थ—बालीद्वीप का एक प्रख्यात धर्माचार्य जिसने निराकार शिवोपासना चलाई।

नुतुग् केलिह—रजोदर्शन संस्कार । इसे 'रजस्वला संस्कार' भी कहते हैं ।

नूसादुआ—डेनपसार (बाली) के दक्षिणी सागर तट पर स्थित विहारभूमि (बीच)

नूसापनीडा—बाली के दक्षिण में स्थित एक द्वीप ।

न्येपी—नववर्ष । बालीद्वीप में शकसंवत् का प्रथम दिन । इस दिन सम्पूर्ण द्वीप में निष्क्रियता होती है ।

न्योहगदिंग—पीले नारियल का पानी जो संकटकाल में पमंकु द्वारा 'तीर्त शुचि' के रूप में प्रयुक्त किया जाता है ।

पकेरिसान—बालीद्वीप की गंगा । तीर्तएम्पुल-सरोवर से जमीन को फोड कर प्रकटी एक जलधारा जो मन्दिर से बाहर नदी रूप में बहती है ।

पञ्चुरान— जलस्रोत

पञ्जीवा—वेताल । प्रेत का रूप धारण करना ।

पण्डित बेसार—महापण्डित (Great Scholar)

पनकवन—जावी वायांगों के विदूषक । बाली में इन्हें परेकान् कहते हैं ।

पनस—बीमार ।

पनिता—पण्डित , ज्ञानी ।

पनुलुह—कडिरीनरेश जयभय (११३७-५७ ई०) का राजकवि, जिसने सेडाहप्रणीत भारतयुद्ध-ककविन् को पूर्ण किया । हरिवंश तथा घटोत्कच ककविन-प्रणेता ।

पमंडियांग—कमण्डलु, जलपात्र ।

पमूजा—समर्चक, पूजा करने वाला (प = मत्वर्थक)

परेकान—बालीद्वीपीय वायांग का विदूषक । पौराणिक कथाओं में त्वालेन तथा मरदह परेकान बनते हैं ।

पर्गोलन—ताबीज (Amulet)

पर्तिवी—पृथ्वी ।

पलिंगह—देवपीठ । स्तम्भ विशेष जो किसी देवता के प्रतीक होते हैं । इनके गवाक्ष में पूजा- सामग्री रखी जाती है ।

पवन्तेन—नैवेद्य - सामग्री ।

पविवाहान—विवाह-संस्कार ।

पाकिम—नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ । रंगमञ्च-नियामक ग्रंथ ।

पाञ्जी—प्रेमाख्यान, जिसका प्रथम नायक है कडिरी-नरेश कामेश्वर प्रथम तथा उसकी रानी श्रीकिरण ।

पिप्रिह—मंत्रलेख ।

पुजंग— बाली के वैष्णव-पुरोहितों की संज्ञा, ब्राह्मण एवं शूद्रा से उत्पन्न ।

पिमिराजन—गृहमन्दिर । इसे संग्गाह भी कहते हैं ।

पुपुतान बादुंग—हुतात्मा चौक । बाली-राजधानी डेनपसार के गजमद क्षेत्र का वह भाग जहाँ डचों के साथ द्वीपवासियों का अन्तिम युद्ध हुआ था ।

पुरा केवो इवो—एक मन्दिर का नाम जो पेजेंग कस्बे में है । इसी मन्दिर में काल-भैरव की एक १८ फुट ऊंची प्रतिमा है । केवोइवो = क्रुद्ध भैंसा ।

पुरा उलूबाटु—डेनपसार नगर के धुर दक्षिण में स्थित एक शिवमन्दिर । परम्परा नुसार इसकी स्थापना धर्माचार्य नीरार्थ ने की थी ।

पुरा तनाहलाट—तनाह = भूमि । लाट = समुद्र । नीरार्थ द्वारा स्थापित एक शिव-मान्दिर । यहीं पर नीरार्थ अपनी नौका से बाली द्वीप की भूमि पर उतरा था ।

पुरा दद्या—दायाद मन्दिर (Clan Temple) इसे पितरों का मन्दिर भी कहते हैं ।

पुरा दलिम—शिवमन्दिर ।

पुरा देसा—ब्रह्मा-मन्दिर ।

पुरा पनुलिसान—बाटुर पर्वत के पठार पर स्थित एक अति प्राचीन मन्दिर, जिसमें बालीनरेश उदयन की मूर्ति सुरक्षित है ।

पुरा परांचा—महातांत्रिक ब्राहड (भराड) द्वारा स्थापित शिव मन्दिर ।

पुरा पुसेह—विष्णु मन्दिर ।

पुरा राम्बुतान् शिवि—धर्माचार्य नीरार्थ द्वारा स्थापित शिव-मन्दिर, जिसमें उसकी जटाओं के बाल (राम्बुतान्) सुरक्षित हैं ।

पुरा वैसाकीह—महामेरु पर स्थित बाली का सर्वश्रेष्ठ त्रिदेव-मन्दिर ।

पूजा एकादश रुद्रा—बालीद्वीपीय हिन्दुओं की शतवार्षिकी पूजा ।

पूजा त्रिसंध्या—प्रातः मध्याह्न तथा सायंकालीन पूजा, जो प्रत्येक बालीवासी करता है ।

पूर्नम—पूर्णिमा तिथि ।

पूजा पंचबलिक्रमा—बालीद्वीप में दशवार्षिकी पूजा (पूजा पञ्चबलिकर्म) अभी यह १९८८ ई० में सम्पन्न हुई है । अब पुनः १९९८ में होगी ।

पेण्डेटा—पण्डित, विद्वान् । इसे 'पनिता' भी कहते है ।

पेचोलागान—नामकरण संस्कार । बालीद्वीप में यह संस्कार २७वें दिन होता है ।

पेनेंगान—प्रेतनिवारण ।

पेनेवार—ताबीज (Amulet)

पेलेगोंगन—वाद्यवृन्द (Orchestra) इसमें गांग, कंजुर, केण्डांग आदि होते हैं ।

पेतानू—एक नदी जो बाटुर पर्वत से दक्षिण की ओर बहती हुई पकेरिसान में मिल जाती है । बालीवासी इसे मयदानव के रक्त से फूटी मानते हैं तथा इससे सिंचाई नहीं करते ।

पैडण्डा—धर्माचार्य, हाथ में दण्ड धारण करने के कारण पैडण्डा कहा जाता है ।

पोटोंग गिग्गी—दन्तशोधन संस्कार (जावा) बाली में इसी को 'मेटाटाह' कहते हैं ।

पोलिसी—पुलिस। स्थानीय भाषा में इसे 'भयंकरी' कहते हैं।

प्रपञ्च—सम्राट् हयम वुरुक का राजकवि जिसने 'नागरकृतागम' का प्रणयन किया।

प्राम्बनान—मध्यजावा का एक ग्राम, जहां मतरामवंशी शासकों ने अनेक मन्दिर बनवाए।

बंजार—ग्रामसभा। बाली द्वीप में प्रत्येक गाँव में अपना बंजार होता है।

बलितुंग—मतरामवंशी शासक (नवीं शती ई०) जिसके राजकवि म्पू योगीश्वर ने 'रामायणककविन' का प्रणयन किया।

बहुराहु—शाब्दिक अर्थ = नवागत। महापण्डित नीरार्थ की बालीद्वीपीय उपाधि।

ब्यूत—सम्राट् उदयन (९८६-१०२२ ई०) का सेनापति।

बांगली—पूर्वी बाली का एक जनपद।

बागुस—सुन्दर, शोभन।

बाटु रेगांग—बाली का एक प्रतापी शासक (१६वीं शती ई०) जिसने धर्मव्यवस्था के लिये नीरार्थ को आमंत्रित किया।

बादुंग—बालीद्वीप का धुर दक्षिणी जनपद। राजधानी डेनपसार बादुंग में ही है।

बापक—पिता। सामान्य वार्तालाप में इसका लक्षुरूप 'पा' ही प्रयुक्त होता है।

बारत—पश्चिम दिशा। बाली से पश्चिम से होने के कारण भारत (बारत) पश्चिम दिशा का वाचक बन गया।

बालियान—बाली द्वीप के प्रेतसमर्चक (ओझा) बालियानों के दो भेद हैं—बालियान् गेंगेंगान (तान्त्रिक) बालियान विशद् (औषध से उपचार करने वाले)

बारोंग—काल्पनिक हिंस्र जीव (शार्दूल) जलोनरंग नाट्य में प्रयुक्त।

बाली अगा—मूल बालीवासी हिन्दू जो सम्पूर्ण द्वीप में अब मात्र तीन गाँवों में रह गये हैं— तेगंनान, ट्रुन्यान तथा ब्रातन। ये देवराज इन्द्र के समर्थक हैं।

बाले—मण्डप ।

ब्रातन—बाली के आदिवासी हिन्दुओं का गाँव जो बेडुगुल झील के किनारे है, सिंगराजा मार्ग पर ।

ब्रान्तस—पूर्वी जावा की एक नदी का नाम ।

ब्राह्ड—कुतुरान का अनुज महातान्त्रिक । एरलंग का राजपुरोहित । दूसरा नाम 'भराड' । एरलंग के निर्देश पर ब्राहड ने तंत्रप्रयोग से रानी महेन्द्रदत्ता (रांगडा) का वध किया ।

बासेह—ताम्बूल । बालीवासी ताम्बूल पत्र को पृथ्वी, चूने को विष्णु, सुपारी को ब्रह्मा तथा काली खैर को रुद्र मानते हैं ।

बावद—इतिहास ग्रंथ ।

बिरिंगिन—भारतीय पाकड़ (पर्कटी) जैसा एक प्ररोह-बहुल वृक्ष । बाली में अत्यन्त श्रद्धेय ।

बुलेलेंग—बालीद्वीप का धुर उत्तरी जनपद जिसका केन्द्रीय नगर है— सिंगराजा । डचों के शासन काल में यही नगर बालीद्वीप की राजधानी था ।

बेदौलु—बाली का एक प्राचीन नगर जो कभी मय दानव की राजधानी था । मायानिपुण मय अपना सिर काट कर पुन: जोड़ लेता था । अत: उसे भेद (बेद) मौलि (हुलु) कहा गया ।

बेडुगुल—डेनपसार-सिंगराजा मार्ग पर स्थित एक सरोवर ।

भटार—भट्टारक अथवा भर्त्ता (संस्कृत) देवता का पर्याय

भटारगुरु—जावा तथा बाली का एक (अस्पष्ट) देवता । बृहस्पति अथवा अगस्त्य ।

भराड—भरटक (संस्कृत) शैवतांत्रिक । कुतुरान के अनुज ब्राहड का उपनाम ।

मचारु—चरु अथवा नैवेद्य । देवों तथा प्रेतों को समर्पित खाद्य-पदार्थ ।

मजपहित—मजा = बिल्वफल, पहित = तीता। शिलालेखों में तिक्तबिल्व नाम। पूर्वी जावा का एक नगर जो १२९४ से १४७८ ई० तक यवसाम्राज्य की राजधानी रहा।

मटाटाह—दन्त शोधनं संस्कार।

मतराम—मध्यजावा का एक नगर जो ७३२ से १०४९ ई० तक यवसाम्राज्य की राजधानी रहा।

मनुकाया—बेदौलु से उत्तर में स्थित एक गाँव, जहाँ इन्द्र से पराजित मय दानव ने एक पक्षी के रूप में तिम्बुल वृक्ष पर शरण ली थी।

मरदह—बाली के वायांग का परेकान (विदूषक), यह तंत्रशक्ति से युक्त देवपात्र है। त्वालेन का पुत्र।

मरुगिया—अन्तिम मृतक-संस्कार जिसमें मृतात्मा (पितर) को पुनः 'पुरादद्या' में स्थापित किया जाता है।

मलंग—पूर्वी जावा का एक नगर जहाँ अनेक ऐतिहासिक मन्दिर निर्मित हैं।

मलान्तिङ्—व्यापार की अधिष्ठात्री देवी। भारतीय देवशास्त्र में इसका उल्लेख नहीं हैं।

मविन्तेन—शुद्धिसंस्कार। प्रायः यह शुद्धि बड़े-बूढ़ों की होती है प्रायश्चित्त रूप में।

मवेद—वेदपाठ। शास्त्रसम्मत रीति से विशिष्ट तिथियों पर पैडण्डा 'मवेद' करता है।

महेन्द्रदत्ता—जावानरेश मकुटवंशवर्धन की परमविदुषी कन्या जिसका विवाह बाली नरेश उदयन से हुआ था, कापालिक-धर्म अपनाने के कारण यह 'रांगडा' के रूप में कुख्यात हो गयी।

मांगिस—बाली द्वीप का एक मीठा फल।

माताहरी—माता = नेत्र। हरी = दिन। दिन का नेत्र अर्थात् सूर्य।

मेंगवी—बाली द्वीप की एक पुरानी रियासत जो अब तबानान जनपद में विलीन है ।

मेगेडोंग गोडोंगान—गर्भाधान संस्कार । इसदिन महिलाएँ गर्भिणी का अभिनन्दन करती हैं ।

मेतलूबुलान—तेलू = तीन । बुलान = मास । शिशु के तीन महीना बीतने पर आयोजित शुद्धि-संस्कार । बड़ों के शुद्धि-संस्कार को 'मविन्तेन' कहते हैं ।

मोणगुण—कडिरीनरेश जयवर्ष दिग्जय का राजकवि जिसने कालिदासप्रणीत 'रघुवंश'की अनुकृति पर सुमनसान्तककविन का प्रणयन किया ।

मोमुकुर—श्राद्ध-संस्कार (त्रयोदशाह)

यूनिवर्सितास उदयना—बाली की राजधानी डेनपसार में स्थापित State University जो कि बाली नरेश भटारप्रभु धर्मोदयनदेववर्मा के नाम पर है ।

येह्लिंग—सामान्यकोटिक पवित्र जल जो प्राय: चिन्तामणि सरोवर, पकेरिसान नदी अथवा महामेरु के स्रोत से लिया जाता है । धार्मिक कृत्यों में प्रयुक्त ।

योगीश्वर—म्पू योगीश्वर जिसने मतरामवंशी नरेश बलितुंग के आश्रय में 'रामायणककविन्' का प्रणयन किया । इस काव्य में २६ सर्ग तथा २७७८ श्लोक (कविभाषा) हैं ।

रत्न बण्टेन—अष्टासुरा रत्नभूमि बण्टेन १३वीं शती ई० में बालीनरेश था ।

रत्नमंगली—उदयन तथा महेन्द्रदत्ता की कन्या जिसका विवाह महातांत्रिक भराड के पुत्र म्पू बहुल से सम्पन्न हुआ ।

राङ्गडा—महारानी महेन्द्रदत्ता, जिसे कापालिक धर्म अपनाने के कारण बालीनरेश उदयन ने राजमहल से निष्कासित कर दिया । १०२२ ई० में उदयन की मृत्यु के बाद उसे 'रांगडा' (= रण्डा, विधवा) कहा गया ।

राजस—सिंहसारिवंश का संस्थापक केन अंग्रोक जिसने राजस के नाम से शासन किया (१२२२-२७ ई०)

राजसनगर—मजपहित वंश का महाप्रतापी सम्राट् हयमवुरुक (१३५०-८९ ई०) जिसने पन्तरण का प्रसिद्ध शिवमन्दिर बनवाया। प्रपञ्च तथा तन्तुलर इसके राजकवि थे।

राम्बुतान—बालीद्वीप में उपलब्ध एक फल जिसके ऊपरी छिलके पर घने रेशे (राम्बुत्) होते हैं।

लवाह—चमगादड़ (Bats) छोटे आकार के इन्हीं जीवों को 'चमगुदड़ी' कहा जाता है। यह स्तनपायी जीव है तथा रात में ही उड़ता है।

लाट—समुद्र।

लुद्र—रुद्र। भगवान् शिव।

लेकास—श्मसान, चतुष्पथ, मृत्युमन्दिर अथवा चम्पुआन (दो नदियों का संग्रह क्षेत्र) में तंत्रसाधना करने वाला व्यक्ति।

लेगांग—कोमल प्रकृति का नृत्य जिसमें तंत्राभिचार (Exoreism) न हो।

लेयाक—भूतप्रेत, पिशाच। प्रेताधीश्वरी रांगदा के अनुचर।

लोन्तार—ताडपत्र पर लिखित प्राचीन पाण्डुलिपियाँ। इन्हें रोन्ताल भी कहते हैं।

लोम्बोक—बाली के ठीक पूर्व में स्थित एक द्वीप जिसमें 'सुरनदी' बहती है। इसी द्वीप में 'माउण्ट रिञ्जानी' भी है।

वनी—बाली द्वीप का एक मधुर फल जो प्रायः दशहरी आम जैसा होता है।

वायांग—वायांग का अर्थ है- पुत्तलिका (Puppet) जावा ता बाली में इन्हीं के माध्यम से कथाओं का मंचन होता है। ये पुतलियाँ चमड़े (वायांग कुलित) काठ (वायांग गोलक) अथवा चित्रपट (वायांग बिबिर) की होती हैं।

वायांगपूर्व—पौराणिक नाट्य (रामायण, महाभारत आदि)

विडेडर—विडेडरी - विधाधर, विधाधरी ।

सर्जा—सार्जवम् (संस्कृत) अर्थात् सीधी-सादी कविभाषा । सल्तनतकालीन जावा के मुस्लिम कवियों की भाषा के लिये प्रयुक्त विशेषण । इसे जर्वा भी कहा गया है ।

सरेस—बाली के पूर्व में स्थित एक द्वीप ।

संगसित—बाली द्वीप का एक प्राचीन नगर ।

संगाह—गृहपरिसर में स्थित लघु मन्दिर । इसे (Pemerajan)भी कहते हैं ।

संघयंग तुंगल—महामहिम परमेश्वर । सर्वशक्तिमान् प्रभु ।

संघयंग दुबरिंग—महामहिम आकाश (विभु)

सम्बु —शम्भु, भगवान् शिव ।

सवक—बाली के गाँवों में स्थापित एक संस्था जो जलवितरण (सिंचाई) की व्यवस्था देखती है ।

सलक—एक खट्टामीठा फल, जिसका छिलका साँप की त्वचा जैसा होता है ।

सांकेनान—बाली द्वीप के दक्षिणी समुद्र में द्वीप से प्राय: ७कि० मी० दूर स्थित एक शिवमन्दिर (शाक्यान) जो सारंगान गाँव में है ।

सांगेह—एक प्रसिद्ध वानर अभयारण्य (Monkey Forest)

सानुर बीच—डेनपसार नगर से पूर्व में स्थित समुद्रतट, जो पर्यटकों का महान् आकर्षण है ।

सारंगान—डेनपसार से प्राय: ७ कि० मी० दूर समुद्र में स्थित एक गाँव जिसमें साकेनान शिवमन्दिर है । गलुंगान पर्व में यहाँ द्वीप-द्वीपान्तर के लाखों हिन्दू आते हैं ।

सावाह—धान का खेत ।

सावेन—केवड़े का पत्ता जिसे मोड़ कर रोगी के दरवाजे पर लटका दिया जाता है। इसे 'सावेन' कहते हैं। इसे देखते ही आगन्तुक सावधान हो जाता है।

सिंगसारी—एरलंगयुगीन जंगल राज्य की राजधानी कहुरिपन या कुटा। परवर्ती युग में यही सिंहसारि नगर बसा जो १२२२ से ९४ तक यवसाम्राज्य की राजधानी रहा।

सिंगराजा— बाली द्वीप की उत्तरी कमिश्नरी बुलेलेंग का केन्द्रीय नगर, डचों के शासनकाल में यह समूचे बालीद्वीप की राजधानी रही।

सिण्डोक—मतरामवंशी प्रख्यात नरेश (९२९-४७ ई०)

सिलहकान—कृपया (Please)

सुंगुहु—वैष्णवपुरोहितों की एक तिरस्कार- सूचक संज्ञा।

सुलुक—श्लोक (संस्कृत) जावा तथा बाली के कथावाचक बीच-बीच में मूल संस्कृत श्लोकांशों का गायन भी करते थे। इसी को सुलुक (Rhythmic Prose) कहा गया।

सुम्बा—बाली के पूर्व में स्थित एक द्वीप।

सुम्बावा—बाली के पूर्व में स्थित एक द्वीप।

सेकेपन्—ताबीज (Amulet) गण्डा।

सेडाह—कडिरीनरेश जयभय का राजकवि जिसने 'भारतयुद्ध ककविन्' का प्रणयन प्रारम्भ किया। इस अधूरे महाकाव्य को बाद में पनुलुह ने पूर्ण किया।

सेराना—शरणम् (संस्कृत) आश्रय।

सेलेतान—दक्षिण दिशा।

सेकोलाह—स्कूल (School)

सेत्रा—क्षेत्र। श्मसान का पर्याय। सेत्रा सदैव शिवमन्दिर (Pura Dalem) के पिछवाड़े होता है।

सेमा—सेमा अर्थात् श्मसान ।

सेमारा—स्मर, कामदेव । प्रणय का देवता । रति का स्वामी ।

सोर—ईश्वर । शिव का पर्याय ।

हरियान—दैनिक समाचारपत्र (Daily Newspaper)

हुलु—मौलि (संस्कृत) शीश ।



इलाहाबाद विश्वविद्यालय (१९६६-९०) उदयन विश्वविद्यालय, डेनपसार, बालीद्वीप, इण्डोनेशिया (१९८७-८९) तथा सम्प्रति हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय शिमला में संस्कृत के यशस्वी प्राध्यापक विभागाध्यक्ष एवं अधिष्ठाता (भाषासंकाय) **अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र** संस्कृत,हिन्दी एवं भोजपुरी के रससिद्ध कवि एवं प्रखर समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। विविध भाषाओं में अब तक ७० से भी अधिक मौलिक एवं समीक्षापरक ग्रंथों का प्रणयन कर **प्रोफेसर मिश्र** ने राष्ट्र तथा राष्ट्र के बाहर भी अक्षय कीर्ति पाई है। उन्हें इन महान् सारस्वत कार्यों के लिये साहित्य अकादमी (१९८८) वाचस्पति (१९९३) कालिदास (१९९४ एवं १९९६) कल्पवल्ली (१९९६) सरीखे स्पृहणीय साहित्यिक सम्मान प्राप्त हैं।

उन्हें प्राचीन जावी भाषा का भी यत्नसिद्ध ज्ञान है जिसका प्रमाण है उनके द्वारा सम्पन्न यवद्वीपीय रामायणककविन का देवनागरी लिप्यन्तरण। उनका व्यक्तित्व बहु आयामी है। वह कवि, समीक्षक, ओजस्वी वक्ता तथा संस्कृत रंगमञ्च के लोकप्रिय अभिनेता रहे हैं। पिछले दो वर्षों से वह श्री संजय खान की निर्माणाधीन फीचर फिल्म **मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम** के साथ कथा एवं पटकथा लेखक के रूप में कार्यरत हैं। उन्होने दो विशाल महाकाव्य, पाँच नवगीत-संग्रह, दो कथासंग्रह, ६५ एकांकी,२३ शतककाव्य तथा दर्जनों स्वतंत्र खण्डकाव्यों का प्रकाशन कर अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय को समृद्ध किया है।



राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी,
नई दिल्ली-110058